ी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला, ग्रन्थ ६

सूफीमत और हिन्दी-साहित्य

लेखक

डॉ० विमलकुमार जैन

एम ए., पी एच. डी

१९५५

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,

की ओर से

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता,

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

द्वारा प्रकाशित

मूल्य ८)

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

हमारी योजना

'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का छठा ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ ई० में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य-विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन और दूसरे पर उसके फल-स्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

गत वर्ष परिषद् की ओर से तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र', 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' तथा 'अनुसन्धान का स्वरूप'। 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास', 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य' हमारे इस वर्ष के प्रकाशन हैं। इन ग्रन्थों में 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' तथा 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' तथा आचार्य कुन्तक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' के हिन्दी भाष्य हैं। 'अनुसन्धान का स्वरूप' अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों के निबन्धों का सकलन है। 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ', 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' और 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य' दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच. डी. के गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें दिल्ली की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—आत्माराम एण्ड संस से वाञ्छित सहयोग प्राप्त हुआ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् उसके अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ता० ७-४-५५ ई०

प्रस्तावना

प्रस्तुत गवेषणात्मक प्रबन्ध की रचना स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० लक्ष्मीधर जी शास्त्री के निरीक्षण में हुई थी परन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि पण्डित जी अपने आशीर्वाद को फलीभूत देखने के लिए आज इस संसार में नहीं हैं। पण्डित जी आर्य तथा सामी दर्शन और हिन्दी-संस्कृत के साथ-साथ उर्दू-फारसी के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। सूफी दर्शन उनका अपना विशिष्ट विषय था और मुझे विश्वास है कि उनके मार्ग-दर्शन में सम्पन्न यह अनुसन्धान अपने औचित्य को सिद्ध करेगा। इस ग्रन्थ में कदाचित् पहली बार सूफी सिद्धान्तों का हिन्दी-माध्यम से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अनुसन्धाता ने अत्यन्त परिश्रम के साथ वैज्ञानिक पद्धति पर अपने विषय का प्रतिपादन किया है। सूफीमत से सम्बद्ध इतनी प्रभूत और सुविचारित सामग्री कम-से-कम हिन्दी में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अनुसन्धाता ने आगमन और निगमन दोनों शैलियों का उपयोग करते हुए सूफी सिद्धान्त और हिन्दी-साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का उद्घाटन किया है। प्राचीन काव्य के विषय में उनके निष्कर्षों से असहमत होना प्रायः कठिन ही है परन्तु आधुनिक काव्य के विषय में सम्भव है मेरी भाँति औरों को भी उनकी स्थापनाओं के प्रति शंका हो और हो सकता है कि उर्दू को हिन्दी का अंग मानने में भी अनेक विद्वानों को आपत्ति हो परन्तु लेखक का मत भी अपने ढंग से आदरास्पद है; साहित्य में मतैक्य साधारणतः सम्भव भी नहीं होता।

देश के मान्य विद्वानों द्वारा प्रशंसित और दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत यह प्रबन्ध अपनी सिद्धि आप ही है, इसे मेरे किसी प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं है—

नहिं कस्तूरी गन्ध कों चहियतु सपथ-प्रमान।

अन्त में अपनी शुभ कामनाओं सहित डॉ० जैन के इस ग्रन्थ को साहित्य-मर्मज्ञों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के निमित्त प्रबन्ध रूप में लिखा गया था। उच्चतम उपाधि की लालसा तथा 'एक पन्थ दो काज' के अनुसार हिन्दी-साहित्य को एक तुच्छ उपहार भेंट करने की कामना से मैंने महामहोपाध्याय डॉ० लक्ष्मीधर जी शास्त्री के श्रीचरणों का सुखद आश्रय लिया। उन्हीं की सत्प्रेरणा के परिणामस्वरूप अपनी रुचि के ही अनुकूल मैंने अब तक प्रायः उपेक्षित इस रहस्यात्मक विषय को चुना और अपने बुद्धि-बल के अनुसार उनके आशीर्वाद से इसे यथाविधि सम्पूर्ण किया।

यह विषय अब तक अधिकांशतः उपेक्षित ही था। यद्यपि आचार्य श्री चन्द्रबली पाण्डे ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' नामक ग्रन्थ में सूफीमत पर विचार किया है परन्तु उन्होंने केवल इसके उद्‌गम और उद्भास पर ही प्रकाश डाला है। भारतीय सूफीमत और सूफी सन्तों का विवेचन उनकी विषय-परिधि से बाहर रहा है। इसी प्रकार इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों ने सूफीमत के स्वरूप का निदर्शन तो किया है परन्तु सामूहिक रूप से हिन्दी के मान्य सूफी सन्तों की रचनाओं के आधार पर सूफी सिद्धान्तों की खोज नहीं की। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने इस गुरुतर विषय को अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यथावत् विकसित करने का प्रयत्न किया है। कबीर आदि निर्गुणिए सन्तों तथा मीरा सदृश सगुण भक्तों के काव्य के अतिरिक्त मैंने आधुनिक युग के छायावाद और हालावाद आदि को भी सूफी प्रभाव के अन्तर्गत ग्रहण किया है। उधर उर्दू का मूल स्रोत हिन्दी ही है अतः उर्दू-साहित्य पर भी सूफीमत के प्रभाव का विवेचन करते हुए मैंने इसमें शरीअत के स्थान पर अधिकांशतः हक़ीक़त का ही प्रभाव माना है। हिन्दी में यह विषय भी नया ही है। इस प्रकार प्रायः एक नये विषय को ही मैंने अपने शोध-कार्य का विषय बनाया है। परन्तु मेरी उपलब्धि मेरी विद्या-बुद्धि के समान ही अत्यन्त सीमित है, फिर भी यदि इसे पढ़कर भावी अनुसन्धाताओं को थोड़ा-बहुत भी लाभ हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा।

मैंने इस विषय को दो भागों में विभक्त-सा कर प्रतिपादित किया है। पहले सूफीमत के निकास से विकास तक का विवेचन किया है, फिर भारतीय वातावरण में पोषित सूफियों की हिन्दी-रचनाओं के आधार पर सूफी-सिद्धान्तों की खोज की है। और अन्त में हिन्दी तथा उर्दू-साहित्य पर उसका प्रभाव निर्धारित किया है। प्रारम्भ से अन्त तक मैंने वैज्ञानिक पद्धति का ही अवलम्बन किया है। यत्र-तत्र विद्वानों में मतभेद होने पर मैंने विषय को अपने मतानुसार ही व्याख्यात

किया है, यथा—श्री निकल्सन आदि विद्वानों द्वारा मान्य सूफी शब्द की व्युत्पत्ति सफ् (ऊन) से न मानकर मैंने ग्रीक शब्द सोफिया (ज्ञान=स०—स्वभास) से मानी है क्योंकि सूफी भी अन्तर्दृष्टि से ही ईश्वर का अभेद रूप में साक्षात्कार करते हैं।

अन्त में मैं उन विद्वानों का, जिनकी कृतियों का अनुशीलन कर मैंने इस ग्रन्थ को लिखा है, धन्यवाद करता हुआ दिवगत गुरुवर्य डॉ० लक्ष्मीधर जी शास्त्री की पुण्य-स्मृति में भाव-पुष्पाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिनके मार्ग प्रदर्शन द्वारा मैं इस प्रबन्ध के निर्वहण में सफल हो सका। मैं डॉ० नगेन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, का भी परम आभारी हूँ जिन्होंने त्रुटियों के समुत्सारण में मुझे सामयिक सम्मति देकर हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के तत्वावधान में इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था की है।

दिल्ली कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ता० ७-४-५५ ई०

विद्वज्जनानुचर
विमलकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

सूफीमत और हिन्दी-साहित्य

प्रथम पर्व

सूफीमत का आविर्भाव

विद्वानों ने सूफीमत का व्यवहार मुस्लिम रहस्यवाद के लिए किया है। सूफी शब्द के मूल स्रोत के विषय में बड़ा मतभेद है। अनेक सूफियों, अध्यात्मशास्त्रियों तथा भाषा विज्ञानियों ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए अपने मत प्रकट किये हैं। अधिकांश व्यक्ति इसकी व्युत्पत्ति 'सफा' शब्द से मानते हैं। उनका कहना है कि जो लोग पवित्र थे, वे सूफी कहलाये। कुछ का कथन है कि मदीना में मुहम्मद साहब द्वारा बनवाई मसजिद के बाहर 'सुफ्फ' अर्थात् चबूतरे पर गृहहीन जिन व्यक्तियों ने आकर शरण ली थी तथा जो पवित्र जीवन बिताते हुए ईश्वराराधना में लीन रहते थे, वे सूफी कहलाये। एक दल ने इसका उद्गम 'सफ' (पंक्ति) से माना है। उनके अनुसार वे लोग सूफी कहलाये जो निर्णय के दिन पवित्र एवं ईश्वर-भक्त होने के कारण अन्य व्यक्तियों से पृथक् पंक्ति में खड़े किये जायंगे। कोई अरब की 'सफ्फ' नामक जाति से इसका निकास मानता है। अबू नस्र अल सर्राज ने लिखा है सूफी शब्द 'सूफ' अर्थात् ऊन से निकला है।[1] मुहम्मद साहब के पश्चात् जो यति या सन्यासी ऊन के वस्त्र धारण करते थे, वे सूफी नाम से प्रसिद्ध हुए। कतिपय व्यक्तियों ने इसकी व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'सोफिया' (ज्ञान) से की है। इसमें कुछ यथार्थता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि सूफी लोग अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। सोफिया, सूफी और स्वभाव (संस्कृत) शब्दों में बड़ा सामंजस्य भी है। सूफी भी अन्तर्दृष्टि से हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का अभेद रूप से साक्षात्कार करते हैं।

यह सूफी शब्द मुहम्मद साहब के देहावसान से दो सौ वर्ष पश्चात् सत्ता में आया जान पड़ता है, क्योंकि सूफीमत का पर्यायवाची अरबी शब्द तसव्वुफ हिजरी सन् ३९२ ई० में संग्रहीत सिहाह में नहीं पाया जाता।[2] सूफी शब्द का प्रयोग अवश्य सन् ८६९ ई० में अरबी लेखक बसरा के जाहिज[3] द्वारा हुआ जान पड़ता है।

---

1 The author of the oldest extent Arabic treatise on Sufism, Abu Nasr al-Sarraj declares that in his opinion the word Sufi is derived from Suf (Wool) —(*Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol XII, P 10*)

2 *Islamic Sufism P 16*

3 So far as the present writer is aware the first writer to use the word Sufi is Jahiz of Basra (A D 869) —(*Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol XII, P 10*)

जामी[1] के अनुसार इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ई० सन् ८०० से पूर्व कूफा के अबू हाशिम के लिए हुआ था, जो सन् ७७८ ई०[2] में विद्यमान था। अल कुशेरी के अनुसार हिजरी सन् की द्वितीय शताब्दी से पूर्व अर्थात् सन् ८११ ई०[3] में यह शब्द प्रचलित हुआ। पुन: पचास वर्ष के अन्दर ईराक के तथा दो सौ वर्ष में सभी मुस्लिम रहस्यवादियों के लिए इसका प्रयोग होने लगा।[4]

यह शब्द अवश्य आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रचलित हुआ परन्तु इसमें अन्तर्निहित भावना उतनी ही प्राचीन है जितना विकसित मानव-हृदय, क्योंकि सूफी-भावना भी मानव में सदैव से तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को खोलने की इच्छा करते रहे हैं। मनुष्य भी, मैं कौन हूँ, प्राणियों का मूलस्रोत क्या है, सूर्य, चाँद और तारे सब इस विश्व का सचालन कैसे होता है, इत्यादि प्रश्नों का समाधान देश-कालानुसार सदैव से करता रहा है। आधुनिक जगत के सम्पूर्ण देशों के प्राचीनतम इतिहासों पर दृष्टिपात करने से इसी बात की पुष्टि होती है। प्रागैतिहासिक एवं इतिहास के प्रारम्भिक काल में विभिन्न देशों में अनेक देवताओं की पूजा होती थी। ऋग्वेद के प्रथम मडल में ही, 'ओ३म् अग्नि मीले पुरोहितम्' इत्यादि वाक्यों से हम अग्नि की वन्दना पाते हैं।[5] इसी प्रकार चीन, जापान, मिस्र, अरब, फिलस्तीन, बेबीलोनिया, ग्रीस, रोम तथा कैल्टिक प्रदेशों के धर्मों के प्राचीनतम रूपों का इतिहास देखने से हमें उनमें बहुदेवतावाद की अस्पष्ट भावना मिलती है। चीनी तो ईसा से लगभग २५०० वर्ष पूर्व देवों के अतिरिक्त ईश्वरीय सत्ता[6] को मानते लगे थे। मिस्र-निवासियों के लिए धर्म का प्रयोजन ही दैवी प्रसाद की पाना[7] था।

रोमन लोग भी देव-प्रसाद के अतिरिक्त दैवी सर्वोच्च सत्ता से प्रभावित थे।[8] प्लेटो के अनुसार यूनान के आदिम निवासी पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा तारों

[1] —As Jami states, it was first applied to Abu Hashim of Kufa (ob before 800 A D) —(A Literary History of the Arabs, P. 229)

[2] Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol XII, P 10.

[3] A Literary History of Persia, P 417 18.

[4] "Within Fifty years it denoted all the mystics of the Irak , and two centuries later Sufia was applied to the whole body of Muslim mystics as our term Sufi and Sufism still are to-day.—(Encyclopaedia of Islam, P. 681 82)

[5] ऋग्वेद म० १, सूक्त १।

[6] The Religion of Ancient China, P. 9

[7] The Religion of Ancient Egypt, P 11.

[8] The Religion of Ancient Rome P. 95.

को देवरूप समझते[1] थे। 'पुरुष एवेद सर्वम्' ऋग्वेद[2] के इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि भारतीय आर्य भी प्राचीन काल से एक अदृष्ट पुरुषश्रेष्ठ की सत्ता मानने लगे थे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि सभी देश किसी न किसी रूप में प्रकृति को रहस्यमय देखते रहे हैं और इन रहस्यों से प्रभावित हो दैवी अथवा ईश्वरीय प्रभाव को मानते रहे हैं। विभिन्न देशों में उद्भूत आदिम बहु देवतावाद भी अन्त में एकेश्वरवाद में ही पर्यवसित हुआ है यह भी एक निश्चित तथ्य है। विकास का नाम ही उत्थान है अतः मानवीय मन और मस्तिष्क ज्यों ज्यों विकास को प्राप्त हुए त्यों-ही-त्यों हृदयगत भावनाएँ भी उत्थान को प्राप्त हुईं और विश्व की उस विभूति की खोज में लगीं जो एक नित्य एवं व्यापक रहस्य है। यही कारण है कि नाना भूमियों पर उत्पन्न रहस्यवादियों की वाणी में शब्दों के अतिरिक्त कोई भेद नहीं दीख पड़ता। रूमी की एक फारसी गजल, जर्मन रहस्यवादी ऐकहर्ट तथा उपनिषद् का एक वाक्य उसी एक शाश्वत सत्य के उद्घाटन में प्रयत्नशील से दीख पड़ते हैं। केवल आवरण में ही अन्तर है, आत्मा में नहीं। जहाँ गीता[3] यह कहती है कि मेरे परायण हुआ निष्काम योगी सर्व कर्मों को करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत तथा अक्षय पद को प्राप्त होता है, वहाँ ऐकहर्ट[4] भी यही कहता है कि जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण कर्मों में ईश्वर को ही साथ रखता है तथा जो ईश्वर के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं करता वह ईश्वर से एक रूप हो जाता है। अनेक सूफियों द्वारा की गई सूफीमत की परिभाषाओं से भी यही ज्ञात होता है कि सूफीमत के गर्भ में भी बाह्याचारों के विरुद्ध यही रहस्योन्मुख भावना निहित है।

अबुल हसन अलनरी[5] के अनुसार सूफीमत संसार के प्रति घृणा और प्रभु के

---

[1] 'Plato says that the earliest inhabitants of Greece like many of the barbarians had for their gods the sun moon earth the stars and heaven ,—(The Religion of Ancient Greece P 17)

[2] ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ९०, २।

[3] सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम् ॥ गीता, अ० १८, ५६।

[4] Whoever has simply and solely God in mind in all things such a man carries God in all his works and in all places within him and God does all his works He seeks nothing but God nothing appears good to him but God He becomes one with God in every thought —(Mysticism East and West, P 105)

[5] It must never be forgotten that Sufism was the expression of a profound religious feeling— hatred of the world and love of the Lord .—(A Literary History of the Arabs, P 392)

प्रति प्रेम-रूप गम्भीर धार्मिक भावों का प्रकाशन था। जुनैद[1] का कहना है कि तसव्वुफ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है। अल गजाली[2] भी उसी को सूफी मानता था जो शान्ति से रहता हुआ ईश्वर में अविराम लीन रहे। शिब्ली[3] ने ईश्वर के अतिरिक्त अखिल विश्व के त्याग को तसव्वुफ कहा है। अल हुजविरी[4] अमर्त्त तत्त्व को ही सूफीमत कहता है। अबू सईद[5] ने सूफीमत की अनेक परिभाषाएँ करते हुए यह लिखा है कि ईश्वरीय विधि तथा निषेध में धैर्य तथा दैवाश्रित अवसरों पर पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अंगीकरण का नाम ही सूफीमत है।

इस प्रकार विविध व्याख्याओं और परिभाषाओं से यही परिणाम निकलता है कि विधि-निषेधों से मुख मोड निखिल विश्व में व्याप्त इस शाश्वत तथा अमूर्त्त शक्ति की झलक सबत्र पाकर मुस्लिम साधकों ने जो रहस्य अभिव्यक्त किये उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफीमत है। अतः सूफीमत या तसव्वुफ भी रहस्यवाद ही है जो अन्तर्निहित भावना से सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होते हुए भी मूलतः मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। विश्व में सचाई एक है। रहस्यवाद, चाहे वह सूफीमत हो या अद्वैतमत, उसी सचाई के आविष्करण का नाम है। ईश्वर एक है, सत्य एक है, अतः रहस्यवाद भी एक ही है। मुस्लिम, हिन्दू तथा ईसाई रहस्यवाद का लक्ष्य एक ही है। नाना रूपों में सभी साधक उसी एक परम विभूति की साधना करते हैं। हाँ, साधन भिन्न हो सकते हैं। गीता[6] में भी ऐसा ही कहा है। वास्तव में सम्पूर्ण भाव का ऐक्य ही रहस्यवाद का मौलिक या तात्त्विक सिद्धान्त है। इसमें ईश्वरीय वैभव के प्रकाशन में अपनी अयोग्यता जान मनुष्य इन्द्रिय और मन को वशीभूत कर ध्यान में उस दिव्य प्रकाश की झाँकी लेता है। यह वह भक्तिमान अनुभव है जिसमें

---

[1] "Tasawwuf" said Junayd "is this that God should make thee die from thyself and should make thee live in him"- (*A Literary History of the Arabs, P 392*)

[2] '*To be a Sufi he said means to abide continuously in God and to live at peace with men* '-(*Al Ghazzali the Mystic, P 104*)

[3] Abu Bakr Shibli has said 'Tasawwuf is renunciation, i e, guarding oneself against seeing other than God in both the worlds. -(*Islam Sufism P 20*)

[4] "Sufism is an Essence without form" says an ancient Sufi of the XIth century, Al Hujwiri in his great work the Kashf Al Mahjub —(*The Sufi Quarterly P 112*)

[5] "Sufism is patience under God's commanding and forbidding and acquiescence and resignation in the events determined by divine providence "—(*Studies in Islamic Mysticism P 49*)

[6] येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ गीता, अ० ९, श्लोक २३।

ईश्वरीय भावरूपता अपनी चरम सीमा पर होती[1] है । कहना होगा कि यह एक ऊर्ध्वमुखी अन्त प्रवृत्ति है । इसका सम्बन्ध न दर्शनशास्त्र से है और न तत्वज्ञान से । न यह कोई विशिष्ट जातीय भावना ही कही जा सकती है और न चमत्कार । यह तो वह ईश्वरोन्मुख आत्म-गमन है जिसमें दैवी प्रेम का पूर्ण परिपाक होता है । रोमन कैथोलिक लेखकों[2] ने इसे शारीरिक विधान का अतिमानुषी स्थगन कहा है । सूफी भी उसे ही एक सूफी कहते हैं जो अनन्त में अग्रसर होता जाता है, जिसे अपने पथ प्रदर्शक द्वारा लक्ष्य ज्ञात हो गया है, जो विरही होता हुआ भी आनन्द-मग्न है और जो ससार से मुख मोड सृष्टि स्रोत की ओर मुड गया है ।

अन्य रहस्यवाद की भाँति सूफ़ीमत भी केवल आदर्शवाद से कोई सम्बन्ध नही रखता । आदर्शवाद सम्पूर्ण भेदो को मानता है जब कि रहस्यवाद उन्हें मिटा[3] देता है । आदर्शवाद के साथ-साथ बौद्धिकवाद भी इसके क्षेत्र से बाहर है । क्योंकि बौद्धिकवादियो के लिए ईश्वर केवल ज्ञानरूप होता है जब कि रहस्यवादियो के लिए प्रेमरूप । आदर्शवाद तथा बौद्धिकवाद दोनो में ममत्व की प्रधानता होती है जब कि एक सूफी अपने को अपने प्रियतम में खो देता है । इस सूफ़ीमत को हम धर्म की चरम सीमा कह सकते है, क्योंकि धर्म[4] एक मानसिक झुकाव है जो इन्द्रिय बोध तथा तर्क-बुद्धि से स्वतन्त्र हो विविध नाम एव रूपो मे मनुष्य का ईश्वर का परिचय कराने में योग्य बनाता है । धर्म भी तभी जीवित रहता है जब वह ईश्वर में केन्द्रित हो और जब यह आत्म-केन्द्रित होता है तभी नाश को प्राप्त होता है । फ्रीड्रिक वान[5] ह्यूगल ने रहस्यमय प्रवृत्ति को धर्म के तीन तत्त्वो में से एक तत्त्व माना भी है । इस प्रकार सूफ़ीमत केवल आदर्शवाद से परे तथा बौद्धिक स्तर को आधार न बनाता हुआ एक धर्म है जिसमें रहस्य के प्रकटन का प्राधान्य होता हुआ भी चमत्कार को कोई स्थान नही है । चमत्कार तो इन्द्रजाल या मन्त्रयोग का ही अभिधान है । इन्द्रजाल में आदान की भावना होती है जब कि रहस्यवाद[6] में प्रदान की । रहस्यवाद मे सकल्प इन्द्रिय

---

[1] Mysticism has been described as a 'religious experience in which the feeling of God is at its maximum of intensity —(*E Caird the Evolution of Theology in the Greek Philosophers*) *Studies in early Mysticism in the near and Middle East P 2*

[2] In Roman Catholic writers mystical phenomena' means "super natural suspensions of physical law —(*Christian Mysticism P 5*)

[3] *The Theory of Mind as Pure Act P 266 67*

[4] *Lectures on the Origin and Growth of Religion P 22*

[5] [illegible]

[6] The fundamental difference between the two is this Magic wants to get, mysticism wants to give 2 —(*Mysticism, P 70*)

जगत के ऊपर चढ़ने के लिए उत्कृष्ट भावों से मिला होता है जिससे आत्मस्थ प्रेम द्वारा प्रेम के उस नित्य तथा अन्तिम विषयभूत पदार्थ से मिल जाये जिसकी सत्ता हृदय में अन्तर्दृष्टि द्वारा जानी जाती है। जादू में भी सत्य का उद्भाव होता है परन्तु इसमें सत्य इन्द्रियागम्य ज्ञान के लिए उत्कट अभिलाषा में बुद्धि से मिला होता है। चाहना दोनों में होती है परन्तु एक में हृदय की भूख है तो दूसरे में बुद्धि का विलास।

इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि मानव-मन निसर्गत एक सा है जो सदा आत्मा के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है। मुस्लिम साधकों के हृदय में भी यही भावना देश-काल के साधन पाकर उद्बुद्ध हुई और अन्त में सूफीमत के रूप में संसार के समक्ष आविर्भूत हुई। यद्यपि कुरान में रहस्यवाद के बीज विद्यमान थे तथापि इस्लाम के अनुसार कुरान को दैवी ग्रन्थ मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से हम उसे देश-काल के प्रभाव से अछूता नहीं मान सकते। अत सूफीमत के आविर्भाव में कारणों को खोजने से पहले इस्लाम से पूर्व तथा पश्चात् के वातावरण का पर्यालोचन करना परम आवश्यक है।

इस्लाम से पूर्व अरब के लोग पूर्ण भाग्यवादी थे। इस विचार ने उनमें मृत्यु के प्रति घृणा तथा मनुष्य-जीवन के लिए पूर्ण अवहेलना उत्पन्न कर दी थी। मूर्ति-पूजा, संघर्ष, भ्रष्टाचार, बहु विवाह, द्यूतक्रीडा तथा सुरा-सेवन आदि अनेक कुप्रथाएँ विद्यमान थी जो यहूदी तथा ईसाई प्रभाव के अतिरिक्त भी अपनी छाप लगाये हुए थीं। ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व ही यहूदी लोग अरब में प्रवेश कर गये थे। वहाँ पर निश्चित रूप से जम जाने पर उन्होंने अपना धर्म प्रचारित किया। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में अरब के दक्षिण प्रान्त यीमेन के बादशाह धू-नवास[1] ने इस धर्म की दीक्षा ली और पुन धीरे धीरे यह सम्पूर्ण अरब में अधिकांशत एक मान्य विश्वास हो गया। डा० लक्ष्मीधर[2] शास्त्री ने भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इस्लाम से पूर्व दक्षिणी अरब और यीमेन की सभ्यता का उद्गम भारतीय था। उदाहरणत यहूदी शब्द यूरुशलेम या जेरूसलेम उसी शब्द वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जिससे तामिल शब्द सेलम या चेरम। इसी प्रकार "रब", "धम्माल", "कनौडिया" आदि शब्दों से

---

1 About the third century B C, the King of Yemen, Dhu Nawas by name embraced Judaism. —(*Muhammad the Prophet, P 24*)

2 "Indeed the pre Islamic culture of South Arabia and Yemen was imported from South India, directly, or through the ancient Sumerian culture of Mesopotamia that was of Indian origin, and through the Harranian culture of the Medians who were Aryans'— (*Sah Baralatulla s Contribution to Hindi Literature, Introduction, P. 3*)

समानता दिखाते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया[1] है कि भारतवर्ष ही मेसोपोटामिया और अरब की सभ्यता का स्रोत था । भारत की चेरा जाति का नेता अब्राहम भारतीय सभ्यता को अरब में ले गया था। "इस्लाम" शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही ज्ञात होता है कि यह इस्लेम से मिलता जुलता है जिसका अर्थ उत्तम धर्म है और जो अब्राहम की परम्परा से सम्बन्ध रखता था। उत्तरी अरब के लोगो का निवास आदम से ही माना गया है[2] जो अब्राहम (इब्राहीम) के पुत्र इस्माईल का वशज था।

इसके अतिरिक्त बौद्ध प्रचारक भी ईसवी सन् से पूर्व ही मिश्र, ऐलेक्जेंड्रिया आदि स्थानो पर पहुँच चुके थे जिनका यहूदियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। रमन[3] के अनुसार फिलस्तीन में भी ईसा से पूर्व ही बौद्ध प्रचार प्रारम्भ हो गया था । ईसा से दो सौ पचास वर्ष पूर्व अर्थात् अशोक के समय से ही यूनान तक बौद्ध यतियों की पहुँच हो चुकी थी। अशोक के एक शिलालेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसने यहूदी तथा यूनानी राजा एंटीओकस से सन्धि[4] की थी। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जैन-प्रभाव भी पड़ा था, क्योकि ईसाई सन्तो एव सूफियो में ऊनी परिधान अर्थात् सादा वस्त्र की प्रथा हमें जैन एव बौद्ध मत के अपरिग्रह सिद्धान्त के प्रभाव का ही परिणाम जान पड़ता है जो वहाँ ईसाइयो से पूर्व ही विद्यमान था । इससे हम इस परिणाम पर आते है कि बौद्ध धर्म ने यहूदी जीवन पर छाप अकित कर आगे भक्ति प्रधान ईसाई धर्म के सन्यस्त जीवन का द्वार खाला होगा।

अरब तथा उसके समीपवर्ती देशो मे इस प्रकार ईसा के पूर्वकाल स ही अरबी, यहूदी तथा भारतीय विश्वासो का सम्मिश्रण हो गया था । ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई प्रचारको ने अरब मे पग रखे और नजरान[5] में आकर बसे । ईसाई साधु इतस्तत भ्रमण करते तथा हनीफ लोगो को मूर्ति-पूजा के त्याग और एकेश्वरवाद की शिक्षा देते थे । साथ ही सन्यस्त जीवन को अपनाने के लिए उत्साहित करते थे और सादा वस्त्र एव अनेक प्रकार के भोजनो से निवृत्ति की शिक्षा भी देते थे।

मुहम्मद साहब के जन्म क समय तक अरब में ईसाई धर्म यहूदी प्रभाव को समाप्त कर चुका था परन्तु अभी सस्कार विद्यमान थ । स्वयं पैगम्बर साहब पर ईसाइयों का प्रभाव पड़ा था । अरब मे अनेक जातियो ने अधिक या न्यून अश में ईसाई धर्म का स्वीकार कर लिया था। मुहम्मद साहब का अनेक ईसाइयो से परिचय

---

[1] *Sah Baralatulla s Contribution to Hindi Literature, P 315 318*

[2] *A Literary History of the Arabs, P 15*

[3] "Reman also traces of this Buddhist propagandism in Palestine before the Christ era" (*Buddhism in Christendom P 75*)

[4] *Gita Rahasya (Hindi Ed , P 592)*

[5] *Muhammad the Prophet, P 25*

था। अबीसीनिया से आये हुए कुछ दास तो उन्हीं के यहाँ भृत्य[1] थे। कुरान[2] में भी यहूदियों की निन्दा और ईसाइयों की प्रशंसा मिलती है।

अनेक बातों में विभिन्नता पाते हुए भी हम इस प्रभाव का प्रत्यक्ष दर्शन कुरान में पाते हैं। आदम का निषिद्ध फल के भक्षण से स्वर्ग से निष्कासन, शैतान का आदम की पूजा न करने के अपराध में स्वर्ग से पतन, नूह, अब्राहम आदि पैगम्बरों का प्रेरण, पवित्र पुस्तकें, रक्षक देव तथा निर्णय का दिन ये सब बातें बतलाती हैं कि इस्लाम ईसाईमत के कितना समीप है और उनमें कितनी समानताएँ हैं। प्रार्थना के सम्बन्ध में इस्लाम में जो नियम तथा आदेश हैं उनका मूल स्रोत भी ईसाई[3] ही हैं। हाँ, एक बड़ा भेद हम पाते हैं कि मुहम्मद साहब संन्यस्त जीवन के लिए भी अविवाहित रहना उपयुक्त नहीं समझते, तथापि यह निश्चितप्राय है कि यतिचर्या ईसाइयों से ही अधिगत आई थी जो हमारे विचार में मूलतः बौद्ध और जैन मत की देन थी। नस्टोरियन ईसाई तो विवाह का बड़ा महत्व देते थे और सन्तानोत्पत्ति आवश्यक समझते थे। ईसाइयों[4] की भाँति इस्लाम[5] ने भी एकेश्वरवाद को माना। परन्तु इस एकेश्वरवाद के प्रकाश में जहाँ ईसाईमत आध्यात्मिकता से भौतिकता का निरूपण करता था वहाँ इस्लाम भौतिक रूप में अध्यात्म का निरूपण करता था। ईसाइयों का अवतारवाद मुसलमान और ईसाइयों में संघर्ष का कारण हुआ।

यह पहले कहा जा चुका है कि इस्लाम से पूर्व अरब में बहु विवाह प्रचलित था। वह प्रथा मुसलमानों में भी आई। ईसाईमत इस विषय में प्रभाव न डाल सका। अनेक गुह्य मण्डलियाँ भी थीं तथा देवदासियों का भी प्रचार था, जिनके द्वारा रति को प्रदीप्ति मिल रही थी। साधकों ने इस रति-भाव को देवपरक कर दिया जिसमें कुरान में वर्णित, ईश्वर सबका है, विश्व के सारे धर्म उसी एक की आराधना करते हैं, भिन्न भिन्न रूपों में वही किसी महापुरुष[6] द्वारा सद्ज्ञान प्रचारित करता है अतः

---

[1] *The Life of Mohomet*, P. 106

[2] "Thou wilt find the most vehement of mankind in hostility to those who believe (to be) the Jews and the idolaters. And thou wilt find the nearest of them in affection to those who believe (to be) those who say: Lo! We are Christians. That is because there are among them priests and monks and because they are not proud."—(*The Glorious Quran* S. 5, 82)

[3] "Muhammad's regulations and injunctions with regard to prayer also suggest a Christian origin."—(*Studies in the Early Mysticism in the near and Middle East* P. 135)

[4] "For there is one God."—(*The Holy Bible I Timothy Chapter 2, 5*)

[5] "Allah is the creater of all things and He is the One, the Almighty."—(*The Glorious Quran* S. 13, 16)

[6] "And for every nation there is messenger."—(*The Glorious Quran* S. 10, 48)

दृश्य भिन्नरूपता नगण्य है, इन शिक्षाओं ने उदाराशयों के हृदय में विश्व-बन्धुत्व उत्पन्न कर बड़ा योग दिया। आगे चलकर यही रतिभाव सूफीमत का आधार बना। सूफी साधकों ने इसी सांसारिक प्रेम को दैवी प्रेम की सीढ़ी माना।

मुहम्मद साहब के जीवन का अध्ययन हमें बतलाता है कि वे संसार से विरक्त भी थे। संसार का अन्तर्द्वंद्व उन्हें कभी-कभी विकल कर देता था और वे एकान्त चिन्तन में लीन रहते थे। चालीस वर्ष की अवस्था से कुछ पूर्व वे हेरा की गुफा में चले जाते थे और कई दिनों पर्यन्त ईश्वरीय ध्यान में निमग्न रहते[1] थे। सन ६०९ ई० रमजान के दिनों में एक रात उसी गुफा में उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई। उनमें दैवी गिरा अवतरित हुई। कुरान उसी का परिणाम है। उन्होंने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। हेरा की गुहा का यही चिन्तन भावी सूफीमत के चिन्तन का प्राथमिक आधार बना। इस प्रकार आदि सूफियों को अन्तिम रसूल के जीवन में सूफीमत के बीज मिले। कुछ सूफियों का कथन[2] है कि सूफीमत का आदम में बीज वपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहीम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ, एवं मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ।

मुहम्मद साहब के अतिरिक्त उनके समय में ही मक्का के पैंतालीस आदमियों ने सांसारिक जीवन का त्याग कर दिया था और वे ध्यान में लीन रहते[3] थे। वान क्रमर[4] के मतानुसार इस्लाम में एकान्तवास की प्रथा को इस्लाम से पूर्व ईसाई प्रभाव से ही उत्तेजना मिली थी। मुहम्मद साहब के जीवन-काल में ही लोग उपर्युक्त विभिन्न विश्वासों तथा संस्कृतियों के सम्मिश्रण से, प्रधानतः ईसाई प्रभाव से पवित्र जीवन बिताने के महत्त्व को समझने लगे थे। ईश्वरीय प्रेरणा की प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने जिस धर्म का झण्डा अपने हाथों में लिया वह शीघ्र ही इस्लाम के नाम से अरब तथा अन्यान्य पार्श्ववर्ती देशों में प्रसरित हो गया। इस कार्य सिद्धि के लिए उन्होंने साम और दण्ड दोनों नीतियों का आश्रय ले विधर्मियों को परास्त कर इस्लाम के मार्ग को निष्कण्टक बना दिया। इस विषय में मुसलमान लेखकों का कथन है कि रसूल ने इस्लाम का प्रचार और प्रसार तलवार के बल पर नहीं किया वरन् उन्होंने भ्रष्टाचार और कुप्रथाओं का उन्मूलन करने के लिए ईश्वरीय इच्छा और कार्य को ही सम्पादित किया।

---

[1] *Muhammad the Prophet, P 53*

[2] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृष्ठ ४।

[3] *Islamic Sufism P 15 16*

[4] 'Can we trace the origin of these early recluses? Von Kremer (Hauch, P 67) considers this type as a native Arab growth developed from pre Islamic Christian influence —(*Arabic Thought and its Place in History, P. 185*)

हमें यहाँ पर यह विवाद नहीं करना है कि मुहम्मद साहब ने इस्लाम को तलवार के बल पर फैलाया या नहीं, हमें तो यह देखना है कि इस्लाम की मूल भावना क्या थी। यह तो बहुदेवतावाद, अवतारवाद एवं तात्कालिक कुरीतियों के विरुद्ध एक उद्गत मोर्चा था जिसके समक्ष यहूदी, ईसाई तथा अन्य मतावलम्बी न ठहर सके। मुहम्मद साहब ने मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया और एक परमात्मा की आराधना का उपदेश[1] दिया। उन्होंने ईश्वर में विश्वास, प्रार्थना, जकात (दान), उपवास तथा मक्का की यात्रा को इस्लामी जीवन का अंग बना दिया। ये इस्लाम के पाँच स्तम्भ कहलाये। मुहम्मद साहब की शिक्षाओं में हनीफ लोगों का पूरा हाथ दृष्टिगोचर होता है, जिन्होंने[2] ईसाइयों से इन शिक्षाओं को ग्रहण कर मुहम्मद साहब पर अत्यधिक प्रभाव डाला था। उन्होंने बतलाया कि प्रार्थना द्वारा आराधना की स्थापना करो[3], ईश्वरीय मार्ग में जो कुछ तुम व्यय करोगे उसका पूर्ण प्रतिफल तुम्हें मिलेगा[4], उपवास बुराई से आत्मरक्षा[5] करता है। कुरान के आविर्भाव काल रमजान में इस उपवास का विशेष महत्त्व बतलाया।

इस्लाम के इन पाँच स्तम्भों को यद्यपि सूफियों ने पूर्णरूपेण ग्रहण न किया तथापि उन्होंने अपने को मुसलमान कहा और कुरान को अवतत ईश्वरीय प्रेरणा मानकर उपवास आदि पर विश्वास किया। उन्होंने मुहम्मद साहब के इन आदेशों में से ईश्वरीय विश्वास, दान और उपवास को अपनाया, यद्यपि इनमें भी आगे अनेक परिवर्तन हुए। हज के स्थान पर उन्होंने मानस यात्रा को उचित समझा और प्रार्थना का महत्त्व मानते हुए भी ध्यान को अधिक श्रेष्ठ माना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफीमत अथवा तसव्वुफ के आविर्भाव में पैगम्बर साहब की शिक्षाओं एवं उनके निजी व्यक्तित्व ने पर्याप्त सहयोग दिया। कुरान में ईश्वर के ऐक्य (तौहीद) पर बड़ा बल दिया गया है। मुहम्मद साहब द्वारा इस सिद्धान्त

---

[1] "Those who believe do battle for the cause of Allah, and those who disbelieve do battle for the cause of idols"—(*The Glorious Quran S 4, 76*)

[2] *Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol II, P 100*

[3] "Recite that which hath been inspired in thee of the Scripture, and establish worship"—(*The Glorious Quran, S 29, 45*)

[4] "Whatsoever ye spend in the way of Allah, it will be repaid to you full, and ye will not be wronged"—(*The Glorious Quran, S 8, 60*)

[5] "O ye who believe! Fasting is prescribed for you even as it was prescribed for those before you, that ye may ward off evil"—(*The Glorious Quran, S 2, 18*)

का प्रतिपादन कोई नवीन वस्तु नहीं था वरन् वैदिक[1] तथा ईसाई[2] एकेश्वरवाद का ही यह प्रतिरूप था। अस्तु, हमें इससे कोई तात्पर्य नहीं, परन्तु इतना अवश्य मानना पडता है कि ईश्वर का जो स्वरूप कुरान में वर्णित है, उसमें सूफियो के लिए रहस्यवाद के बीज विद्यमान थे। ईश्वर एक[3] है, दयालु है, सर्वव्यापक है, और सर्वज्ञ[4] है। द्यावापृथ्वी में जो कुछ है, उसी का है और अन्त में सभी पदार्थ उसी को लौट जाते[5] हैं। सासारिक जीवन केवल भ्रमपूर्ण सुख[6] है। ईश्वर अनन्त सौन्दर्यमय[7] है। अल्लाह उन्हे प्यार करता है जो भले[8] हैं और जो अधम हैं उनके लिए वह कठोर दण्डदायी[9] है। प्रारम्भ में ईश्वरोन्मुख प्रवृत्ति का प्रधान कारण कुरान में वर्णित ईश्वरीय भय ही हुआ। साथ ही ईश्वरीय वैभव, उसकी सार्वजनीनता और अनन्त सौन्दर्य भी साधको के लिए परम आकर्षण और प्रेम के निमित्त बने। प्रेम करना नैसर्गिक है फिर भी सूफियो को कुरान में अल्लाह के भय की प्रधानता होते हुए भी प्रेम की अति मात्रा मिली। अल्लाह रसूल अर्थात् आदर्श पुरुष को विशेष प्यार करता है इसीलिए महम्मद साहब को (हबीबुल्ला) अल्लाह का प्यारा कहा गया है तथा उन्ही के प्रीत्यर्थ उसने विश्व का निर्माण भी किया है। यही कारण है कि सूफी ईश्वर को भय का कारण न मानकर प्रेम का पात्र मानते हैं। ईश्वर के इस वैभव के समक्ष वाह्याचार आडम्बर से ज्ञात हुए अत विचार-स्वातन्त्र्य का आना स्वाभाविक था। परन्तु यह विचार-स्वातन्त्र्य दण्डभय से प्रथम शनै शनै प्रसरित हुआ।

कुछ लेखको का विश्वास है कि सूफीमत का मूल स्रोत कुरान ही है, जिसका रहस्यपूर्ण अर्थ केवल सूफियो के हृदय में ही प्रकाशित हुआ था। मुस्लिम परम्परा ने इसमें महत्त्वशाली भाग लिया। यही कारण है कि निकलसन[10] आदि विद्वानो ने वाह्य

---

1 'पुरुष एवेद सर्वम्' ऋग्वेद १०, ७, ९०, २।

2 "For there is one God and one mediator between God and men, the man Christ Jesus"—(*The Holy Bible Timothy, Ch 2, 5*)

3 "Your God is one God, there is no God save Him, the Beneficient the merciful"—(*The Glorious Quran, S 2, 163*)

4 "Allah is All embracing, All knowing"—(*The Glorious Quran, S 2 261*)

5 "Unto Allah belongth whatsoever is in the heavens and whatsoever is in the earth, and unto Allah all things are returned"—(*The Glorious Quran, S 3, 109*)

6 "The life of this world is but comfort of illusion"—*The Glorious Quran, S 3, 185*)

7 "Allah is infinite beauty"—(*The Glorious Quran, S 57, 4*)

8 'Allah loveth those who are good"—(*The Glorious Quran S 3, 148*)

9 "Allah is severe in punishmen"—(*The Glorious Quran, S 3, 11*)

10 "Sufism is atonce the religious philosophy and the popular religion of Islam."—(*Studies in Islamic Mysticism, P. 65*)

प्रभाव मानते हुए भी सूफीमत को इस्लाम का धार्मिक तत्त्वज्ञान बतलाया। डी० बी० मेकडोनल्ड के अनुसार मुस्लिम धार्मिक विचारधारा, परम्परा, बुद्धि और रहस्य प्रकाश इन तीन तत्त्वों से बनी हुई थी। ये तीनों ही मुहम्मद साहब के मस्तिष्क की उपज थीं अत सूफियों का रहस्यवाद[1] भी निःसन्देह मुस्लिम विचारधारा में गूँथा गया था।

मुहम्मद साहब की मृत्यु सन् ६३२ ई० में मदीना में हुई। यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि मुस्लिम समाज का नेतृत्व किसी के हाथों में सौंपा जाय। इसके लिए अबूबकर को उपयुक्त समझा गया और वे खलीफा बना दिये गये। ये मुहम्मद साहब की स्त्री आयिशा के पिता थे। इनके पश्चात् उमर इस पद पर आसीन हुए। इस समय में मुसलमानों ने दमस्क और जेरूसलम को भी ले लिया। फारस को शीघ्र ही रौंद डाला गया और मिस्र को भी घुटने टेकने पड़े। अरब में उस समय कोई काफिर निवास न कर सकता था। अरब लोग विजय पर विजय पा रहे थे। परन्तु वे सब कुछ ईश्वर के नाम पर ही कर सके। उमर की मृत्यु के अनन्तर तृतीय खलीफा उस्मान हुए। ये उम्मैया वंश से सम्बन्ध रखते थे अतः अपने को मुसलमान की अपेक्षा उम्मैया अधिक मानते थे। इसी कारण इनका वध कर दिया गया और पैगम्बर साहब के जामाता अली को सिंहासनारूढ़ किया गया परन्तु सन् ६६० ई० में अली की भी हत्या कर दी गई और इनके साथ खलीफा शासन समाप्त हो गया जो रसूल के मार्ग का अनुयायी[2] था। अल फख़्री न कहता है कि खलीफा सयमी थे और आत्म सयम द्वारा विषय-वासनाओं से अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न करते रहते[3] थे।

उपरिलिखित ऐतिहासिक पर्यालोचन से हमारा तात्पर्य केवल चारों खलीफाओं के शासनकाल में मुस्लिम-भावना का ही प्रदर्शन है, जिसने पैगम्बरीय मूल परम्परा का अनुसरण करते हुए भी सघर्षमयी होने के कारण उद्वेलित मानव मन को रहस्योन्मुख कर दिया, जैसा कि प्राय हुआ करता है। सूफियों में चारों खलीफाओं की प्रतिष्ठा होते हुए भी अली का विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। क्योंकि ये कर्मनिष्ठ एवं सयमी थे और चिंतन-प्रिय भी थे। ये मुहम्मद साहब के ईश्वर नियुक्त उत्तराधिकारी समझे गये। यद्यपि विरोधियों ने उन्हें तथा उनके पुत्र हसन और हुसैन को

---

[1] "It was not long before Sufi came to mean mystic and the third of the three great threads was definitely woven into the fabric of Muslim thought."—(Development of Muslim Theology P 120 31)

[2] "But with Ali ends the revered series of the four Khalifs who followed a right course".—(Development of Muslim Theology P. 25)

[3] "The Historian al Fakhri describing the abstemious life of the first Khalifs says that they endeavoured by this self restraint to wean themselves from lusts of the flesh."—(Islamic Thought and its place in History, P 153)

मौत के घाट उतार दिया तथापि इस संघर्ष ने जनता को ईश्वर में अनुरक्त कर दिया।

इस्लाम के संस्थापक के देहावसान के होते ही इस्लाम के नाम पर जो संघर्ष उठ खड़े हुए उन्होंने कुरान के आधार पर अनेक विश्वासों को जन्म दिया। मुर्जी लोग विश्वास को कर्म से अधिक महत्त्व देते तथा ईश्वरीय प्रेम और भलाई पर बल देते थे। कादरी भी इसी विश्वास के पक्षपाती थे। जब्रियों के मतानुसार मनुष्य अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं कहे जा सकते। मुतजिलियों ने ईश्वरीय गुणों की उसके ऐक्य से असंगति होने तथा प्रारब्धवादिता का उसके न्याय से विरोध के कारण तर्क-शक्ति के आधार पर अध्यात्म विद्या का निर्माण किया। अशारी लोग इस्लाम के विद्याभिमानी अध्यात्मवादी थे। इन्होंने बड़े कठोर आध्यात्मिक सिद्धान्तों की परम्परा का विधान किया। आगे चलकर इन सभी विचारधाराओं ने यूनानी अध्यात्म-विद्या एवं तत्त्वज्ञान से प्रभावित होकर सूफीमत पर पूर्णत: प्रतिक्रिया[1] की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहूदियों की मूर्तिपूजा, ईसाइयों की अवतारवादिता तथा मूल जनता की कुरीति-परता के विरुद्ध मुहम्मद साहब द्वारा जो प्रतिक्रिया हुई वही मुसलमानों में परस्पर इस्लाम के नाम पर कुरान को आधार मान विविध विश्वासों के रूप में प्रगटित हुई। इन विश्वासों के विवेचन में हम देखते हैं कि जहाँ ईश्वर की कुरान के आधार पर प्रतिष्ठा हुई वहाँ मुतजिली आदि स्वतन्त्र विचार के भी पुष्प थे। वह बढ़ती हुई स्वतन्त्र विचारधारा ही सूफीमत के बीज में अंकुर का कारण हुई। परन्तु सूफीमत मुतजिलियों के स्वतन्त्र चिन्तन की भाँति एक चिन्तन-परम्परा नहीं थी, वरन् जीवन का एक क्रियात्मक धर्म और नियम[2] था।

सूफीमत का स्वतन्त्र विचारधारा तथा चिन्तन से सम्बन्ध होने के अतिरिक्त भी अधिकांशत. सूफी अपनी वंश-परम्परा का उद्गम अली और उनके द्वारा मुहम्मद साहब से खोजते हैं। कतिपय अबूबकर को भी अपना पूर्वज मानते हैं। फरीदुद्दीन अत्तार[3] ने छठवें इमाम जफर अस सादिक को प्रथम रहस्यवादी सन्त माना है।

सूफीमत के प्रारम्भिक काल में आचार-नीति प्राय: ईसाइयों से अपनाई गई थी। साधु ऊनी वस्त्र धारण करते थे। मुहम्मद साहब भी धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के

---

[1] "All three speculations influenced as they were by Greek theology and philosophy, reacted powerfully upon Sufism"—(*The Mystics of Islam, Intro, P. 5-6*)

[2] "It was not a speculative system, like the Mutazilites Heresy, but a practical religion and rule of life"—(*A Literary History of the Arabs, P. 230*)

[3] "In the Taskirat ul Awlia of Farid-ud din' Attar the first place in the list of mystic saints is given to Jafar as Sadik, the sixth apostolical Imám."—(*The Spirit of Islam, P. 460*)

लिए इन्हीं वस्त्रों को श्रेष्ठ समझते थे ऐसा अनेक हदीसों से पता चलता[1] है। सूफीमत का पूर्व-रूप चिन्तन-प्रधान की अपेक्षा भजन-प्रमुख एवं भक्ति-प्रधान था। ईश्वर को कुरान में पापियों के प्रति कठोर[2] बताया गया था। तत्कालीन मुसलमानों के हृदय में ईश्वरीय भय घर कर चुका था किन्तु इसके विपरीत 'वह न्यायी है, और सदाचारियों को प्रेम करता[3] है' इस भावना ने उन्हें दैवी प्रेम के लिए भी उत्साहित किया था। कुरान में विहित ईश्वरीय चिन्तन एवं विश्वास से ही 'ज़िक्र' (स्मृति और जाप) और तवक्कुल (ईश्वरीय विश्वास) के सिद्धान्त का विकास[4] हुआ था। अतः तसव्वुफ में दो प्रमुख कर्तव्य समझे गये, एक मुस्लिम विधान के अनुसार आचरण और दूसरा ध्यान एवं अनुभव[5]। इन्हें हम शरीअत और तरीक़त कह सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की सातवीं शताब्दी में सूफीमत उस समय अंकुरित हो रहा था जब मुस्लिम जगत् में ईसाई प्रभाव से संन्यस्त जीवन के लिए एक महान् क्रान्ति हो रही थी। बसरा[6] उस समय विधि-विधानों तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध व्यक्तियों का केन्द्र था। ये लोग धर्म जीवन का उच्च आदर्श चाहते थे, जिसमें वहि प्रवृत्ति की प्रधानता थी अर्थात् अशन-वसन की अपेक्षा विनम्रता पर विशेष ध्यान था। परन्तु सीरिया के सन्त सभी बाह्याचार को ही महत्त्व देते थे।

वर्तमान अद्वैतवाद एवं प्राचीन धर्मान्धता में महान् अन्तर देख पूर्वकाल के कुछ विद्वानों ने लिखा[7] है कि सूफीमत का आविर्भाव बाह्य प्रभाव का प्रतिफल था। मानीमत, न्योप्लेटोनिज्म (नव अफलातूनीमत), जॉरोस्ट्रियनिज्म, (जरतुश्तमत), बुद्धमत एवं भारतीय वेदान्त ने मिलकर एक नूतन विश्वास की नींव डाली, जो सूफीमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनेक प्रतिष्ठित मुस्लिम लेखकों ने इसका घोर विरोध किया है उनके अनुसार सूफीमत इस्लाम की अपनी देन है। इस्लाम में धर्म के गुह्य रूप से ही इसकी अभिव्यक्ति हुई है। इसके प्रमाणभूत उनका कहना है कि मुस्लिम समाज में न अफलातूनी मत का अध्ययन हिजरी सन् की तीसरी शताब्दी में अर्थात् मामून के

---

1 "... numerous Hadiths (handed down and probably invented by Djawluyori) even make it Muhammads' favourite dress for a religious man." —(*The Encyclopaedia of Islam, P. 652*)

2 "Allah is severe in punishment —(*The Glorious Quran, S 2, 11*).

3 "Allah loveth those who are good "—(*The Glorious Quran, S 3, 143*)

4 "From the injunctions which they found in the Koran to think on God and trust in God they developed the practice of dhikr and the doctrine of tawakkul." —(*The Idea of Personality in Sufism, P 8*)

5 *Islamic Sufism, P. 20.*

6 *Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. XII, P. 11.*

7 *The Encyclopaedia of Islam, P. 651.*

शासनकाल में प्रारम्भ हुआ[1] था,। वह भी उसके तथा उसके उत्तराधिकारी मसूर के राजत्वकाल में केवल कुछ यूनानी ग्रन्थो का अनुवाद मात्र हुआ था। यह अनुवाद-क्रम ६५० तक[2] चला। इससे स्पष्ट है कि सूफी सन्तो पर यूनानी प्रभाव किञ्चिन्मात्र भी न था। इसी प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान का प्रभाव भी नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पडा।

मुस्लिम तथा अमुस्लिम विद्वानो की सम्मतियो का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर लाता है कि सूफीमत का बीजारोपण मुस्लिम मानस में हुआ, जो बाह्य प्रभाव के कारण विधि-विधान एव वाह्याचारो के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप में मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व की छाप, कुरान की शिक्षा एव मुस्लिम परम्परा का ही परिणाम था क्योकि यह तो वह रहस्यमयी प्रवृत्ति है जो किसी विशेष धर्म, जाति, देश तथा काल की अपेक्षा नही करती। कुरान हमें बतलाता है कि ईश्वर का वैभव अतुलनीय है। वह अद्वितीय शक्ति एव दिव्य सिंहासन पर बैठती है, जिसके समक्ष देवता सदैव भृत्य की भाँति खडे रहते है। उसका एक शब्द सृष्टि की आदि और अन्त का कारण हो सकता है। प्रकृति के नाना रम्य रूपों में उसी का प्रदर्शन है। वह पापियों के लिए कठोरतम है परन्तु हमारे अति निकट है। जो उस पर विश्वास करते है तथा सन्मार्ग पर चलते है वे आनन्द का उपभोग करते[3] है। देशकालातीत उस ईश्वरीय वैभव ने मनुष्य को विस्मित कर दिया जो विधि विधानो से प्राप्य नही है। उस पर विश्वास एव सत्कृत्यों से आनन्द की भावना ने उन्हे उत्साहित किया। मुहम्मद साहब के घोरतम मूर्ति विरोध ने ईश्वर को निर्गुण और ध्यान का विषय बना दिया। 'ईश्वर परम लावण्यरूप[4] है' इस विचार ने साक्षात्कार की भावना जागृत की और अल्लाह के आदर्श पुरुष के प्रति प्रेम तथा सासारिक रति ने दैवी रति भाव को उत्तेजना दे ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया। इस प्रकार पैगम्बर साहब तथा उनके कतिपय अनुयायियो द्वारा समादृत यति जीवन शीघ्र ही रहस्योन्मुख हो गया। हाँ, इस मान्यता का पोषण करते हुए भी इतना कहना पडता है कि तत्कालीन अपिच तदनन्तर अधीन या समादृत विश्वासों ने इस पर बडा प्रभाव डाला और बढ़ती हुई इस रहस्योन्मुख भावना में अनेक नूतन सिद्धान्तो का सृजन कर सूफीमत को पूर्णत वास्तविक रूप देने में निमित्तता प्राप्त की। निकल्सन ने भी सूफीमत की मूल रूप रेखा का मुस्लिम तथा अरबी मानते हुए भी इसमें बाह्य

---

1 "The Muslems started to study Neoplatonic philosophy in the third century of Islam's birth during the reign of Mamun" —(*Islamic Sufism, P. 17 18*)

2 *Islamic Sufism, P 18*

3 "Those who believe and do right - Joy is for them, and bliss (their) journey's end" —(*The Glorious Quran, S 8 29*)

4 "Allah is of infinite beauty" —(*The Glorious Quran, S 57, 4*)

योग को माना है[1]। ब्राउन[2] ने सूफीमत की निष्पत्ति में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, इस्लाम की गुह्य विद्या, आर्यों की प्रतिक्रिया, नव अफलातूनी मत, और विचार-स्वातन्त्र्य।

यह बतलाया जा चुका है कि कुरान में रहस्यवाद के बीज विद्यमान थे। ध्यान में पैगम्बर साहब की दैवी वाणी की प्रेरणा भी गुह्य विद्या की ही द्योतक है। परन्तु इस सिद्धान्त को पूर्णतः माना नहीं जा सकता क्योंकि सूफीमत में अद्वैत एवं फना के सिद्धान्त शुद्धतः भारतीय परम्परा के ही हैं जिसे हम अग्रिम पर्व में व्याख्यात करेंगे। परन्तु इन सिद्धान्तों के बल पर हम सूफीमत का मूलस्रोत भारतीय भी नहीं मान सकते क्योंकि यद्यपि छठवीं शताब्दी नौशेरवाँ के शासनकाल में भारत तथा फारस के मध्य विचार विनिमय हुआ था तथा बहुत पहले भारतीय धार्मिक विचार खुरासान तथा पूर्वी फारस में पहुँच चुके थे तथापि सन् १००० से पूर्व मुस्लिम विचारधारा पर हम कोई स्थायी भारतीय साहित्यिक प्रभाव नहीं देखते[3]। हाँ, उस समय तक यूनानी प्रभाव अवश्य कुछ घर कर चुका था। इससे पूर्व भारतीय विश्वदेवतावाद सूफियों में प्रवेश पा चुका था परन्तु वह भी पूर्णतः नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध[4] में ही। कुरान में तौहीद का सिद्धान्त विद्यमान था, जिससे तात्पर्य था कि ईश्वर एक है। सूफियों के अद्वैतवाद के आधार पर इसे 'वहदतुल वजूद' व्याख्यात किया। अर्थात् जब ईश्वर एक है तब उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसके मानने वालों में प्रमुख फारसी कवि बिस्ताम के बायजीद और बगदाद के जुनैद का नाम उल्लेखनीय है। फारसी स्रोत भी हमें मान्य नहीं क्योंकि पूर्व-विवरण से हम यह जान चुके हैं कि सूफीमत के आविर्भाव में मुहम्मद साहब तथा उनकी शिक्षाओं का कितना हाथ था। नव अफलातूनी मत (न्यो प्लेटोनिज्म) को भी हम उद्गम नहीं मान सकते। हम पहले कह आये हैं कि मुसलमानों ने नव अफलातूनी मत का अध्ययन हिजरी सन् की तीसरी शताब्दी अर्थात् मामून के शासनकाल में आरम्भ किया था[5]। चौथा सिद्धान्त विचार-स्वातन्त्र्य है। स्वतन्त्र विचारों से ही सूफीमत उद्भूत हुआ यह पूर्णतः

1 "But if the initial framework of Sufism was specifically Muslim and Arab it is not exactly useless to identify the foreign decorative elements which came to be added to this framework and flourished there."—(The Encyclopaedia of Islam P. [illegible])

2 A Literary History of Persia, P. 41[illegible]-421

3 "Again, the literary influence of India upon Mohammadan thought before 1000 A.D. was greatly inferior to that of Greece."—(A Literary History of the Arabs P. 3[illegible]0)

4 "It is with Sufis like Abu Yazid (Bayazid) of Bistam, Persian, and Junayd of Baghdad (also according to Jami a Persian) that in the later part of the ninth and the beginning of the tenth centuries of our era the pantheistic element first makes its definite appearance."—(A Literary History of Persia P. [illegible])

5 Islamic Sufism P. 17-18

मान्य नहीं है। यद्यपि सूफीमत में शरीअत की मर्यादा का उल्लंघन कर स्वतन्त्र विचार ने प्रमुख कार्य किया जिसके लिए हल्लाज आदि को सूली का मुख चूमना पड़ा तथापि अनेक बातें अनेक सूफियों द्वारा शरीअत के अनुसार ही ग्रहण की गईं।

इस सम्पूर्ण प्रतिवाद से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि सूफीमत के आविर्भाव में हम किसी एक भावना को कारण नहीं मान सकते। मुन्टरी[1] के कथनानुसार हम मुस्लिम तत्त्वज्ञान को पूर्वी और पश्चिमी विचारों का सम्मिश्रण मानते हैं, जिसमें मुस्लिम सिद्धान्तों का प्राधान्य है। सूफीमत भी इस्लाम का एक धार्मिक तत्त्वज्ञान ही है।

सूफीमत की बढ़ती हुई इस भावना पर हम प्रधानतः पाँचों मतों का प्रभाव मानते हैं, ईसाईमत, नव अफलातूनीमत, नास्तिकमत, बुद्धमत और अद्वैतमत। निकल्सन[2] ने अद्वैतवाद को नहीं माना है। इन प्रभावों के अतिरिक्त एक विशेष प्रभाव जो हमारे मत में सूफीमत पर पड़ा हुआ जान पड़ता है वह है, इस्लाम के पूर्वकाल में अध्यात्मवाद का प्रचार जो अरब देश में बाहर से आकर वर्ग विशेष में प्रचलित हुआ था। कुरान में 'सब्आई' का उल्लेख मिलता है, जो एकेश्वरवाद को मानने वाले थे और जीवन में पवित्रता पर अधिक बल देते थे। ये लोग आर्य वंश के बतलाये जाते हैं, जो प्राचीन ईरान तथा भारतवर्ष में मन्द (मीडियन) जाति के नाम से प्रसिद्ध थे। इन लोगों के वंशधर अब तक अपने धर्म को पालन करते हुए अरब के आसपास के प्रदेशों में पाये जाते हैं। ईसाई प्रभाव को हमने सूक्ष्मतः दिग्दर्शित कर दिया है। न्यो प्लेटोनिज्म (नव अफलातूनीमत) का व्याख्याता प्लोटीनस २०५ ई० में उत्पन्न हुआ था। छठवीं शताब्दी में वह मत स्वतन्त्र सत्ता में न रहा[3] वरन् शीघ्र ही ईसाई व मुस्लिम रहस्यवाद के रूप में कुछ परिवर्तित होकर पुनः प्रकट हुआ। नास्तिक मत का प्रवर्तक साइमन था। नास्तिकों की जीर्णावस्था में मानी ने उसी के ध्वसावशेष पर एक नूतन भवन खड़ा किया था। अद्वैतमत और बुद्धमत का निर्वाण सिद्धान्त भारतीय मत थे जो अबू याजीद (बायजीद) के समय में अंशतः फारस में व्याख्यात[4] हुए थे। इन मतों के किन सिद्धान्तों ने सूफीमत के विकास में सहयोग दिया इसका विवेचन हम अग्रिम पर्व में करेंगे।

---

[1] 'Muslim philosophy is a blend of Western and Eastern thoughts under the dominating influence of Islamic doctrine —(*Outlines of Islamic Culture, Vol II, P 344*)

[2] 'The four principal sources of Sufism are undoubtedly Christianity, Neo platonism, Gnosticism, and Buddhism —(*A Literary History of the Arabs P 390*)

[3] 'In the sixth century Neo platonism ceased to be an independent philosophy but soon as already suggested reappeared modified in the form of Christian and Muslim mysticism"— *Out lines of Islamic Culture, Vol II, P 354*)

[4] *The Legacy of Islam, P. 215*

द्वितीय पर्व

उद्भास

पिछले पर्व में यह बताया जा चुका है कि सूफीमत के विकास में कई कारण थे। मुहम्मद साहब के समय से पूर्व ही ईसाई अरब तथा आस-पास के प्रदेशों में पर्याप्त मात्रा में अपने धर्म का प्रचार कर चुके थे। उनके साथ स्थान-स्थान पर जाकर एकेश्वरवाद की स्थापना करते तथा मूर्तिपूजा के विरुद्ध उपदेश देते थे। मुहम्मद साहब ने भी एकेश्वरवाद को अपनाया और मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया। ऊनी वस्त्र धारण करने की प्रथा ईसाई साधुओं में थी।[1] मुस्लिम सन्तों ने भी इस रीति को अपनाया।[2] इस्लाम के प्रारम्भिक काल में न तो कोई धार्मिक सम्प्रदाय थे और न कोई निश्चित मठ। परन्तु एकान्तवास एवं मौन-साधन का अभ्यास हम स्वयं रसूल के जीवन तथा उनके सहचरों के समय से ही पाते हैं। यह भी सम्भवतः ईसाई प्रथा का अनुकरण था।[3] यहाँ हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि ये बातें प्रत्यक्षतः भले ही ईसाइयों से आई हों परन्तु इनके मूल में बौद्धमत, जैनमत और मन्द जाति का बड़ा हाथ था जो इस्लाम से पूर्व ही ईराक, अरब आदि प्रदेशों में फैल चुके थे।

इस्लाम में प्रार्थना का बड़ा महत्त्व है। दिन में पाँच बार नमाज़ का विधान है। ईसाई भी तीन बार प्रार्थना करते थे। विदित होता है कि यह प्रार्थना की प्रथा भी ईसाइयों से आई,[4] जिसका समय तीन बार से पाँच बार कर दिया गया। सूफियों ने इस पंचकालिक नमाज़ को तो नहीं अपनाया परन्तु इसके महत्त्व पर उनकी दृष्टि अवश्य पड़ी और उन्होंने ध्यान में परमात्मा के साथ मौन सम्भाषण के रूप में अविराम प्रार्थनाओं को अपने जीवन का अंग बना लिया। इस्लाम में ऋजु जीवन के साथ उपवास तो आत्म-शुद्धि का एक साधन समझा गया था। इसीलिए उसे पंच-स्तम्भों में से एक माना गया। कुरान[5] से ज्ञात होता है कि ईसाइयों में इसका प्रचार था

---

themselves in wool borrowed
or monks "—(Encyclopaedia of

streat, and observing vows of
ian origin, were practised by
y Mysticism in the Near and

ctions with regard to prayer
n the Early Mysticism in the

bed for you, even as it was
ward off (Evil) '—(The Glorious

और वे विधानानुसार इसका आचरण करते थे । सूफियों ने भी आत्मशुद्धि के लिए उपवास को उपादेय माना ।

इनके अतिरिक्त आदम, शैतान तथा रक्षक देवो के विषय में हम ईसाई एव मुस्लिम विधानो में कोई अन्तर नही देखते । मनुष्य को दोनो ने ही ईश्वर का प्रतिरूप माना है ।[1] कुरान तथा बाइबिल[2] को समान रूप से ईश्वरीय पुस्तकें माना गया है। हज़रत ईसा एव मुहम्मद साहब[3] को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हुए उन्हें ईश्वर और मनुष्य का मध्यस्थ पद दिया गया है । सूफियों ने भी मुहम्मद साहब को ईश्वरीय दूत, कुरान को दैवी वाणी और मनुष्य को प्रभु का प्रतिरूप माना । सर्वप्रथम सूफियो ने आदम, शैतान एव रक्षक देवो की सत्ता और स्थिति को उसी रूप में ग्रहण किया परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्तिवश कालान्तर में इनमें अनेक परिवर्तन आयें । कुरान को अपनी विचारधारा के अनुरूप ही व्याख्यात किया एव मनुष्य को ईश्वर का प्रतिरूप ही नहीं वरन् हिजरी सन् की तृतीय शताब्दी में अद्वैत की स्वीकृति के पश्चात् उसे तद्रूप माना ।

इस प्रकार मुहम्मद साहब ने स्वय अपने जीवन में ईसाइयो की अनेको धार्मिक रीतिया को ग्रहण कर इस्लाम का अग बना दिया था । यद्यपि हम स्थान स्थान पर कुरान में हज़रत ईसा तथा ईसाइया की प्रशसा देखते है, तथापि कतिपय बातें ऐसी थी जिन्हें मुसलमानो ने सम्मान की दृष्टि से न देखा । उदाहरणत ईसाइयो का वानप्रस्थ एव सन्यस्त जीवन इस्लाम में उसी रूप में ग्राह्य न हुआ । फलत सर्वहित रति भावना ने सूफीमत में ईश्वरीय प्रेम-साधना को बडा बल दिया । ईसाई अवतारवाद ने ईसाई और मुस्लिम जगत् में भेद भाव उत्पन्न कर दिया और शीघ्र ही दोनों जातियाँ शत्रु हो गईं । इनके मध्य प्रारम्भ होने वाले पवित्र धार्मिक युद्धों का मूल कारण धार्मिक मतभेद ही था ।

इस्लाम धर्म उदय के पश्चात् ही बिजली की भाँति अरब, सीरिया आदि प्रदेशों में फैल गया था । पुन उत्तरी अफ्रीका और वहाँ से पश्चिमी भाग में प्रसारित हुआ । ईसाई लोग इनके सघर्ष में आये और अनेक वर्षो तक युद्ध चलते रहे । परन्तु

---

[1] "So God created man in his own image —(*The Holy Bible, Genesis, Chapter 1 27*)

[2] "So when I have made him and have breathed into him of My spirit —(*The Glorious Quran S 15 29*)

[3] [illegible] truth. [illegible] the [illegible] the [illegible] Glorious Quran, S 33, 40)

वास्तविक धार्मिक युद्ध उस समय से प्रारम्भ हुआ जब से रोमन साम्राज्य ने ग्रीक साम्राज्य को मिश्र तथा बढ़ने हुए इस मुस्लिम प्रवाह को रोकने के लिए पूर्व की ओर हाथ बढ़ाये। रोमन और ग्रीक दोनों ही ईसाई साम्राज्य थे। इधर मुसलमान भी दो भागों में विभक्त थे। तुर्क, जो उत्तर में कृष्ण सागर से दक्षिण में लाल सागर तक शासन करते थे, सीरिया के विवाद-ग्रस्त प्रदेश में मिश्र के विरोध में संलग्न थे।

सातवीं शताब्दी के अन्त तक अरबों ने उत्तरी अफ्रीका के बर्बरों को आधीन कर लिया। पुनः अरबों और बर्बरों ने सम्मिलित हो ७१८ ई० तक स्पेन को भी जीत लिया। नौवीं शताब्दी के तृतीयांश में उत्तरी अफ्रीका ने सिसली पर विजय प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् मुसलमानों ने उत्तरी इटली और स्विटजरलैंड तक आक्रमण किये। स्पेन और सिसली में मुस्लिम प्रभाव कुछ ही समय में व्याप्त हो गया और इसकी प्रतिच्छाया फ्रांस और इटली पर भी पड़ी। यहाँ तक कि पेरिस विश्वविद्यालय में मुस्लिम तत्वज्ञान का अध्ययन होने लगा। परन्तु अनेक संघर्षों के पश्चात् भी १२वीं शताब्दी के अन्त तक मुसलमानी प्रभाव केवल स्पेन और उत्तरी अफ्रीका में ही रह गया। हिजरी सन की ७वीं शताब्दी (ईसा की १३वीं शताब्दी) में सूफीमत स्पेन में पहुँचा।[1] परन्तु वह कट्टर परम्परा से अधिक सम्बन्ध रखता था और एशियाई रहस्यवाद से भिन्न था।

जेरूसलम ईसाइयों का तीर्थ स्थान था, जहाँ वे पाप-मुक्ति के लिए यात्रा किया करते थे। जब तुर्कों ने सन् १०७० ई० में जेरूसलम तथा १०७१ ई० में एशिया माइनर को वशीभूत कर लिया और उन्होंने ईसाइयों से सहायता माँगी तो ईसाइयों ने पोप के आदेशानुसार युद्ध छेड़ दिया। यह प्रथम धर्म-युद्ध था। ये संघर्ष चार सौ वर्ष तक चलते रहे। इन धर्म-युद्धों ने ईसाई और मुसलमानों को परस्पर प्रभावित करने का बड़ा अवसर दिया। वास्तव में सभ्य जगत् में बड़े-बड़े विचारक तत्वज्ञानी इन धर्म-युद्धों के पश्चात्[2] ही हुए और रहस्यवाद ने भी इनके पश्चात् ही वैज्ञानिक रूप धारण किया।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि दोनों जातियों को संघर्ष में लाकर पारस्परिक विश्वासों के सन्निमिलन में इन धर्म-युद्धों का कितना हाथ रहा है। बाइबिल

---

1 'In the following (seventh) century Sufism appeared in Spain but it arrived as transmitted through an orthodox medium and differs from Asiatic mysticism —(*Arabic Thought and its Place in History P 204*)

2 'In the great world of culture philosophy developed its greatest thinker after the Crusades and the connection with the Arabs which they brought : even mysticism assumed a scientific character —(*The Legacy of Islam, P 51*)

में अनेक स्थलो पर हम रहस्यवाद के बीज पाते है ।[1] 'परमात्मा प्रेम है, परमात्मा प्रकाश है'[2], इन दोनो वाक्यों में वर्णित परमात्मा के गुण वे गुण है जो हमें उसके व्यापक भाव का परिचय दे उसका साक्षात्कार करने के लिए उत्सुक कराते हैं। कुरान में भी ईश्वर को अपार सौन्दर्य रूप कहा है ।[3] वह उत्तम पुरुषो से प्रेम भी करता है ।[4] जहाँ हम बाइबिल[5] में ईश्वर के प्रति साक्षात्कार की तृषा पाते हैं वहाँ कुरान[6] में भी अन्ततोगत्वा ईश्वर के समीप प्रतिगमन की चर्चा है । इस प्रकार दोनो ही धर्म पुस्तको में रहस्यात्मक सकेतो में एक सामजस्य-सा दीख पडता है । तब यह कहना पडता है कि कुरान में सूफीमत का मूल खोजने वाले सूफियों ने अप्रत्यक्ष रूप से ईसाइयों के प्रेम और प्रकाश रूप ईश्वर को ही अपनाया।

पहले कहा जा चुका है कि ईसाइयो के अतिरिक्त न्या प्लेटोनिज्म (नव अफला-तूनीमत) का भी सूफीमत पर गम्भीर प्रभाव पडा था । इसका विवेचन हम कुछ पृष्ठो के पश्चात् ही करेंगे । यूनानी तत्त्वज्ञान का जैसा अध्ययन फारस मे हुआ वैसा अरब में नहीं । खलीफा उमर के समय में ही मुसलमानो ने फारस पर विजय प्राप्त कर ली थी। ब्राउन के अनुसार फारस[7] विजय एव वहाँ के निवासियो द्वारा इस्लाम की दीक्षा में शीघ्रता का कारण तलवार की अपेक्षा जरतुस्तमत के धर्माधिकारियो का अत्याचार था। अली की हत्या के पश्चात् शासनसूत्र उमैया वश के हाथ में आया । ये मुसलमान की अपेक्षा अपने को अरब पहले समझते थे ।[8] सन् ७३२ ई० में मुस्लिम-विजय पराकाष्ठा को पहुँच गई थी।

अली के अनुयायियो के मतानुसार खलीफा पद अली तथा उनके उत्तराधिकारियो को ही ईश्वरीय अधिकार से प्राप्त था । अत उन्होंने उमैया शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। फारस के मुसलमानो न भी उनका साथ दिया । अन्त में मुहम्मद साहब के समीप के सम्बन्धी अब्बासी लोगो ने सन् ७५० ई० में उन्हे उखाड फेंका। इस समय से अरबो ने मुस्लिम जाति में बडे महत्त्वपूर्ण कार्य किये। अब्बासियो की फौज में फारस-निवासी अधिक थे जो खुरासान से सम्बन्ध रखते थे । अब्बासियों ने अपनी राजधानी फारस के प्रसिद्ध नगर बगदाद को बनाया और प्रमुख पदों पर फारस के निवासियो को नियुक्त किया । इनके शासन-काल में जीवन की पवित्रता

---

1 *Christian Mysticism P 44*

2 [illegible]

3 [illegible] *3 145)*

4 [illegible]

5 [illegible] ll I come

6 [illegible] *, 2)*

7 [illegible] *II, 4)*

8 [illegible]

पर विशेष ध्यान दिया गया । अरब और फारस के लोग कुछ समय के लिए अपने भेद-भाव भूल गये और शिक्षा का बड़ा प्रचार हुआ । वास्तव में यह इस्लाम का स्वर्ण-युग था । आठवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश हारूँ रशीद के शासन-काल में तो इसकी पराकाष्ठा हो गई। सीरिया, मिश्र, मेसोपोटामिया, अरब तथा ईरान में दमश्क, ऐलेग्जेंड्रिया, बसरा, कूफा, मक्का, मदीना तथा बगदाद आदि शिक्षा के अनेक केन्द्र अब्बासी-शासन में ही स्थापित हुए, जहाँ यूनानी तत्त्वज्ञानियों की रचनाओं का अनुवाद कार्य हुआ और जो ईसा की नौवीं शताब्दी एवं दसवीं शताब्दी के मध्य तक चलता रहा।[1] इन सबके अध्ययन और सम्पर्क ने मुस्लिम समाज में अनेक विचारक उत्पन्न किये। यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इन्हीं अब्बासियों के शासन-काल में ही इस्लामी जगत् का भारत से अधिक निकट सम्पर्क हुआ। इसी काल में वहाँ भारतीय विद्वान् बगदाद बुलाये गये और इनके ग्रन्थों का अरबी और ईरानी भाषाओं में अनुवाद किया गया। अब्बासियों के मन्त्री बरामका के नाम से प्रसिद्ध थे, जो वस्तुत आर्य जाति के अग्रमघ नाम के वंशधर थे।

मुस्लिम दर्शनशास्त्रियों एवं तत्त्वज्ञानियों में अधिक संख्या ईरानियों की है। अतः इस्लाम से पूर्व ईरान के तत्त्वज्ञान पर विहंगम दृष्टि डालना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम ईरान का तत्त्वज्ञानी महात्मा जोरोस्टर (जरतुस्त) था, जिसने पारसी धर्म की प्रवर्तना की। इनका समय लगभग ईसा से पूर्व बारहवीं शताब्दी है।

पारसी धर्म में अहूर (वैदिक असुर) को सर्वोच्च सत्ता माना गया है। वह पूर्ण, नित्य, अपरिवर्तनशील और द्यावापृथ्वी का स्रष्टा है। पुद्गल (स्थूल जगत्) की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह अहूर की ही सृष्टि है।[2] विश्व-संचालन में दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। भलाई की ओर ले जाने वाली शक्ति अहूर की है और बुराई की ओर ले जाने वाली शक्ति का स्वामी अग्रमन्यु (अहिर) है। परन्तु अन्त में विजय अहूर की होगी। यह अग्रमन्यु ही ईसाइयों का शैतान (ईरानी, अयतनु=संस्कृत, शयतनु) हुआ। अरबों में इसी का नाम इब्लीस है। इस मत के अनुसार मनुष्य विश्व-सत्ता का प्रतिरूप है। मनुष्य आत्मा, इच्छा-शक्ति और स्थूल शरीर से बना हुआ है, वह अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी है। मानवीय आत्मा भी अहूर की सृष्टि है और निधन एक नूतन जीवन है अर्थात् अपने वास्तविक शरीर का पहचानना है।

महात्मा जरतुस्त के समय में ईरान में सूर्य और अग्नि की पूजा व्यापक रूप से होती थी। नूतन विश्वास उनमें भी विश्व-देववाद का पक्षपाती था और

---

[1] [illegible] II, P 400 401

[2] [illegible] existence It is the creation of Ahura, [illegible] eternal unchangeable, the Creator of [illegible] —(Outlines of Islamic Culture, Vol 2, [illegible]

इसी विश्व-देवतावाद का प्रतिरूप ऐकेश्वरवाद हमें मुस्लिम धर्म मे मिलता है,[1] जिसे यहूदियो ने अद्वैत के रूप में ढाल दिया है। जरतुस्त मत में समस्त प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय सत्ता का स्वरूप माना गया है। सूफी भी ऐसा ही मानते है। हमें यह बातें सूफियो में जरतुस्त मत से आई जान पडती हैं। इसके अतिरिक्त जरतुस्त मत की भांति सूफीमत में भी विवाह की प्रथा का तिरस्कार नहीं किया गया है। जोरोस्ट्रियन मत बहुत काल तक पश्चिम के लिए एक प्रतिद्वन्दी धर्म रहा और मित्र के पूजकों के धर्म के रूप में समस्त रोमन साम्राज्य और उत्तरी अफ्रीका पर प्रभाव डालता रहा। यह मित्र भारतीय आर्यों का भी एक देवता था।

ईरान में पार्थियन साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् (ईसा के पूर्व तृतीय शताब्दी के अन्त में) ग्रीक प्रभाव प्रधान रूप से पडा।[2] ग्रीक दर्शनशास्त्रियो एव तत्त्वज्ञानियो का साहित्य पढा गया। ग्रीक विचारको में सर्वप्रथम प्लेटो का नाम उल्लेखनीय है। मुस्लिम लेखको ने इसे अफलातून लिखा है। उसके अनुसार भलाई का विचार ही परम देवता है और गुण और ज्ञान की पूजा ही दैवी पूजा है।[3] इसने प्रेम को प्रपच से मुक्ति दिलाने वाला तथा सत्य से परिचय कराने वाला बतलाया है।[4] मुसलमानो ने प्लेटो की शिक्षाओ का अध्ययन न्यो प्लेटोनिज्म (नव अफलातूनी मत) के प्रकाश में किया था अत उन पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पडा परन्तु इतना निश्चित है कि सूफियो के द्वारा प्लेटो का अच्छाई का विचार परमात्मा के सौन्दर्यातिशय के तुल्य बना दिया गया है।

प्लेटो के पश्चात् ईसा से ३८४ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए एरिस्टोटिल ने ग्रीक विचारधारा मे एक नवीनता ला दी। इसके अनुसार सर्वोच्च सत्ता विश्व की प्रधान नियामक शक्ति है और उसी में उसका अवसान है।[5] कुरान में भी कहा है कि द्यावा-पृथ्वी में जो कुछ है, उसी ईश्वर का ही है और अन्त में उसी को लौट जायगा।[6]

---

1 "Both the prophets invite their followers to ponder over things in the universe and then to adore the Lord who created these blessings for the benefit of humanity —(*Islam and Zorostrianism, Page 42*)

2 *Outlines of Islamic Culture Vol 2, Page, 316 47*

3 "Plato's deity is identical with the idea of the good Divine worship is one with virtue and knowledge —(*Outlines of Islamic Culture Vol 2, Page 367*)

4 "And it is love Plato maintains that acts as a magnet drawing us out of the 'maze back to the state, in the garden of pure truth' —(*The Sufi Quarterly, P 16*)

5 'The Supreme being is the prime mover of the world and also its final end —(*Outlines of Islamic Culture Vol 2, P 370*)

6 'Unto Allah belongeth whatsoever is in the heavens and whatsoever is in the earth and unto Allah all things are returned"—(*The Glorious Quran, S 3, 109*)

वास्तव में मुस्लिम तत्त्वज्ञान पर जितना प्रभाव ऐरिस्टोटिल[1] (अरस्तू) का दीख पड़ता है उतना प्लेटो (अफलातून) का नहीं।

ग्रीक तत्त्वज्ञान का इतिहास अरस्तू की शिष्य-परम्परा के साथ समाप्त हो गया। सिकन्दर के साथ इसका प्रभाव पंजाब तक पड़ा। परन्तु निष्प्रभाव होने पर इसका पुनरुत्थान पूर्वी विचारधारा से मिलकर न्यो प्लेटोनिज्म (नव-अफलातूनीमत) के रूप में हुआ। पूर्व से, उद्गमवाद, सन्यस्त जीवन, ध्यान, परमाल्हाद, भक्ति एवं सांसारिक विलासों की क्षणिकता के सिद्धान्त इसमें प्रविष्ट हुए।[2] बहुत कुछ प्रभाव तो सिकन्दर के साथियों के साथ हो गया था। इस प्रभाव में हमें जैनमत का भी हाथ रहा हुआ जान पड़ता है, क्योंकि ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व आये आक्रान्ता सिकन्दर से जैन मुनि कल्याण का वार्तालाप हुआ था और वह उनसे ऐसा प्रभावित हुआ था कि उसने उन्हें अपने साथ ही यूनान ले जाना चाहा। उन्होंने तो जाना अस्वीकृत न किया पर उनका प्रभाव अवश्य गया।

नव अफलातूनी मत का प्रसिद्ध व्याख्याता प्लोटीनस सन् २०५ ई० में हुआ। उसके अनुसार परमात्मा या सर्वोच्च सत्ता सर्वज्ञ और जागरूक है। आत्मा विश्वात्मा का अंश है अतः उनकी पृथकता में भी एकता विद्यमान है। वे भौतिक पदार्थों के आकर्षण से पथ-भ्रष्ट हो गई हैं परन्तु अपने स्रोत की ओर उन्मुख होने से उनका उत्थान हो सकता है। मनुष्य में दैवी और दानवी दोनों रूप हैं। यह उसी पर निर्भर है कि वह सचेतन पक्ष की ओर झुके। विश्व में जो सौन्दर्य है उसी का नाम अच्छा है। भौतिक सौन्दर्य से अलक्ष्य सौन्दर्य कहीं श्रेष्ठ है। उस सौन्दर्य का परिचय उच्चता है। आत्मिक उच्चता की प्राप्ति में दो स्थितियाँ होती हैं। प्रथम दैवी सत्ता को अपना स्रोत रूप पहचानने से प्राप्त होती है और द्वितीय उस समय जब हम उस साक्षात्कार करते हैं।

इस सिद्धान्त ने पश्चिमी एशिया एवं मिश्र को अधिक प्रभावित किया। इ मत के कुछ तत्त्वज्ञानियों ने छठी शताब्दी में फारस में जाकर नौशेरवाँ के राज्य एक शिक्षण-संस्था स्थापित की थी।[3] मुसलमानों ने इससे उद्गमवाद, आत्मप्रकाश

[1] 'Aristotle not Plato is the dominant figure in Moslem philosophy
—(The Mystics of Islam Introduction P 17)

[2] The history of pure Greek philosophy ended with the school of Aristotle ... blended with oriental thought under the nam[e] ... had ming[led] ... [in] ecstasy ... of Islam ... philosophe[rs] ... founded ... Jalal ud[-din Rumi] ...

गुह्यविद्या एव परमाल्हाद के सिद्धान्त ग्रहण किये।[1] अल गजाली[2] के समय से आगे हम प्लोटीनस के उद्गमवाद तथा परमाल्हाद (सहजानन्द) के सिद्धान्तों को सूफी रचनाओं में निरन्तर पाते हैं। अल गजाली ने ईश्वर सम्बन्धी यह विचार कि वह केवल प्रकाश ही नहीं है वरन् सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य है तथा प्रेम की यह भावना कि वह सौन्दर्य के प्रति, चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक, आत्मा की एक नैसर्गिक अभिरुचि है, नव अफलातूनी मत से ही लिया था। उपर्युक्त दो स्थितियों को बढाकर सूफियों ने सात स्थितियाँ करदी।[3] इन्हीं प्रदेशों में सर्वप्रथम सूफीमत ने अपना आदि रूप प्रदर्शित किया। धुन नुन मिश्री ही था जिसने सर्वप्रथम सूफी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था।[4] यह मत छठी शताब्दी में एक स्वतन्त्र सिद्धान्त न रहा वरन् शीघ्र ही ईसाई और मुस्लिम रहस्यवाद के रूप में प्रशस्त परिवर्तित हो गया।

तत्कालीन विचारकों में मानी अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। इसने नास्तिक मत के ध्वसावशेष पर एक भवन खड़ा किया जो मानीमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में नास्तिक मत का प्रवर्त्तक साइमन[1] था, जिसने स्वतन्त्र विचार के ईसाइयों का नेतृत्व कर एक नवीन मत की स्थापना की थी। मानी ने ग्रीक तत्त्वज्ञान को पढा। वह प्रकाश और अन्धकार अथवा चेतन और जड दोनों में विश्वास रखता था। उसके अनुसार दृश्य जगत् प्रकाशांश एव अन्धकार के मिश्रण का परिणाम है।[6] इन दोनों का सम्मिश्रण अप्राकृतिक और बलात्कृत है अत पार्थक्य अवश्यम्भावी है। मानी ने सर्वोच्च[7] सत्ता को प्रकाश जगत् का स्वामी कहा है जो पवित्र, नित्य और ज्ञानवान है। आत्मा शरीर में बद्ध है और उसे इस बन्धन से मुक्त होना है। मानी की आचार-नीति त्याग पर आश्रित है जिसमें मूर्तिपूजा, असत्य लोभ, हत्या तथा जादू टोना आदि वर्जित है।

पश्चात्-काल की एक सूफी शाखा ने मानीमत के इस द्वैत सिद्धान्त को

---

1 *The Mystics of Islam Introduction P 13*

2 From his time forward we find in Sufi writings constant allusions to the Plotinus theories of emanation and ecstasy —(*A literary History of The Arabs, P 393*)

3 *Outlines of Islamic Culture Vol 2 P 391*

4 Dhun nun was the first to put the doctrines in words " —(*Islamic Sufism P 20*)

5 *Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 6 P 232*

6 'He says that the visible world is the result of the mixture of darkness with a portion of light —(*Outlines of Islamic Culture Vol 2 P 351*)

7 Mani called the Supreme Being Father of the Kingdom of Light He is pure in his nature eternal and wise —(*Outlines of Islamic Culture Vol 2, P 351*)

अपनाया[1] जिसके अनुसार दृश्य-जगत् प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण का परिणाम है। सनातन सूफीमत में सिद्दीक शब्द भी मानी मतानुयायियों मे ही आया था, जिसे वे अपने आध्यात्मिक गुरु के लिए प्रयोग में लाते थे।

पहले कहा जा चुका है कि भारत और ईरान में चिरकाल से सम्पर्क स्थापित हो गया था। ग्रीक तत्त्वज्ञान के साथ बुद्धमत[2] भी सम्पूर्ण पूर्वी ईरान (वर्तमान अफगानिस्तान, बुखारा, खुरासान) में व्याप्त हो गया था। यद्यपि मुसलमानों ने बुद्धमत से माला आदि का प्रयोग सीख लिया था। तथापि फना का सिद्धान्त विस्ताम के बावजीद के समय[3] में ही गृहीत हुआ था। अद्वैतमत की ओर भी सर्वप्रथम उसी ने पग रखे थे।[4]

फना से तात्पर्य निजत्व का भुलाकर परमात्मा में एक रूप हो जाना है।[5] सूफियों के इस फना सिद्धान्त पर बौद्धों के निर्वाण तथा पारसी एवं भारतीय अद्वैतमत का प्रभाव स्पष्ट था। बौद्धों का निर्वाण यद्यपि फना के अनुरूप सा ही है तथापि हम फना को निर्वाण से एकरूपता नहीं दे सकते। निर्वाण केवल निषेधात्मक ही है अर्थात् निजत्व की समाप्ति पर वासनाहीन समरूपता में निर्वाण है जबकि दैवी सौन्दर्य के सहजानन्दी ध्यान में निजत्व का पूर्ण अवसान ही फना है। फना बका[6] से सहयोग पाता है, जिसने तात्पर्य ईश्वर में स्थायी जीवन से है। इतना होने पर भी इन दोनों शब्दों को पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि निर्वाण की भाँति फना में भी वासना की समाप्ति पर सद्गुणों एवं सत्कृत्यों की अविराम सत्ता द्वारा दुर्गुणों एवं दुष्कृत्यों की समाप्ति हो जाती है।

बौद्ध सिद्धान्त के पर्यालोचन मे ज्ञात होता है कि निर्वाण में ध्यान का विशेष महत्त्व है। ध्यान और ज्ञान अन्योन्याश्रित है। भगवान् बुद्ध ने[7] स्वयं कहा है कि ज्ञान के अभाव में ध्यान और ध्यान के अभाव में ज्ञान नही हो सकता और जो ज्ञान

---

1 " and a later school returning to the dualism of Mani held the ... ture of light

... na) perhaps ... the Arabs P. 391)

4 A Literary History of the Arabs P. 391

5 'To pass away self (fana) is to realize that self does not exist and that nothing exists except God (tawhid)' —(*Studies in Islamic Mysticism* P 50)

... a, ... ie ... it ... d

एव ध्यान से मुक्त है यही वास्तविकता के नाम है। हम ध्यान में आत्मलय को ही निर्वाण नही कह सकते, वरन् यह एक अविराम रागहीनता या उदासीनता है। पूर्ण ज्ञान से रागहीनता आती है अत पूर्ण ज्ञान[1] की तद्रूपता ही मुक्ति है और मुक्ति का प्रतिरूप ही निर्वाण है। वास्तव में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ बुझना है परन्तु इस से तात्पर्य राग-द्वेष हीनता एव मोहक्षय है।[2]

निर्वाण किसी एक स्थिति का नाम नही है वरन् यह एक उत्तरोत्तर प्रक्रिया है।[3] अज्ञान की विरामता से रुचि विराम, रुचि-विराम से चेतनाभाव तथा चेतनाभाव से मन का सयमन होता है। मानसिक सयमन स इन्द्रिय सयम और इन्द्रिय सयम से सम्पर्काभाव हो जाता है। सम्पर्काभाव से इन्द्रियज्ञान की समाप्ति और इन्द्रियज्ञान की समाप्ति मे विषय लालसा विरत हो जाती है। विषय-विरति से ग्रहण-शक्ति जाती रहती है। तदनन्तर सत्ता विराम को प्राप्त हो जाती है और जन्म-मरण से छुटकारा मिल जाता है।

इस समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर आते है कि निर्वाण और फना में अधिकाशत साम्य है। यह सिद्धान्त यद्यपि बहुत पहले प्रतिपादित हुआ होगा परन्तु इसका परिचायक बायजीद ही था। बायजीद खुरासान का निवासी था। उसका दादा जोरोस्टर मत का अनुयायी था। यही कारण था कि उस पर जोरास्टर मत के विश्वदेवतावाद का प्रभाव था जिसे उसने भारतीय प्रकाश मे अद्वैत का रूप देकर व्याख्यात किया था। उसने दैवी मिलन में आत्ममिलन रूप फना के सिद्धान्त को सिन्ध के अबू अली से सीखा था।[4] वह भारतीय प्राणायाम से अभिज्ञ था, जिसे उसने परमात्मा की रहस्यमयी आराधना कहा है। ज्ञात होता है कि सूफियो ने योगाभ्यास की साधना बौद्धो से ही सीखी थी जा बहुत पहले ही अधिकाश एशिया में पहुँच चुके थे। बायजीद ने फना और अद्वैत के सिद्धान्तो का मिश्रण कर इन्हे बडे सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया।

जिस अद्वैत का प्रतिपादन बायजीद ने किया था उसका पूर्ण विकास हम इब्नुल अरबी के समय स पाते है। यद्यपि बायजीद[5] ने अपने लिए यह शब्द कहे थे,

---

he counterpart of P 127)

al definition of n is the ceasing

—(*Buddhism* P 216)

of passing away (Fana) in the Divine unity from the Abu Ali of Sind He knew the Indian practice of watching of breath and described it as the gnostic s worship of God —(*Encyclopaedia of Religion and Ethics* Vol 12, P 1°)

[5] Praise be to me, he is reported to have said on another occasion, I am the truth, I am the True God, I must be celebrated by Divine Praises,"—(*A Literary History of Persia*, P 427.)

"मेरी प्रशंसा हो, मैं सत्य हूँ, मैं वास्तविक परमात्मा हूँ, मेरी प्रार्थनाओं मेरी प्रतिष्ठा होनी चाहिए।" तथा हल्लाज[1] भी 'अन-अल-हक' अर्थात् मैं सत्य कह चुका था। तथापि अद्वैत का सूफी अद्वैत के रूप में विकास अरबी के समय ही हुआ।[2]

अद्वैत से तात्पर्य द्वित्व के अभाव से है। इसका विशद विवेचन स्वा शंकराचार्य ने उपनिषद् भाष्यों में किया है। यद्यपि ऋग्वेद[3] के अन्तिम मंडल हम एकेश्वरवाद की भावना पाते हैं तथापि अद्वैतवाद का पूर्णरूप हमें उपनिषदों ही मिलता है। उपनिषदों के अनुसार निखिल जगत् ब्रह्म ही है।[4] माया से ही व विश्व का सृजन करता है।[5] सब में व्याप्त हुआ वही एक विविध रूपों में प्रदर्शित रहा है।[6] वही भोक्ता है, वही भोग्य है और वही प्रेरयिता है।[7] वह न स्थूल है, अणु, न ह्रस्व है, न दीर्घ।[8] ऐसा नित्य व्यापक एक ब्रह्म ही वेदितव्य है। उस विदित हो जाने पर कुछ भी वेद्य नहीं रहता।[9] न वह चक्षुओं से ही गृही होता है, न वाणी से, न अन्य देवों द्वारा ही हम उसे पा सकते हैं और न कर्म से वरन् ज्ञान से विशुद्धात्मा व्यक्ति ही निरन्तर ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार करता[10] है। जो उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।[11]

---

1 "I am the Truth"—(*Encyclopædia Britannica, Vol 21, P 523*)

2 "The development of Sufi Pantheism comes much later than Hallaj and was chiefly due to Ibnul Arabi (A D 1165-1240)"—(*The Idea of Personality in Sufism, P 37*)

3 "पुरुष एवेद सर्वम्"—ऋग्वेद, म० १०, अ० ७, सू० ६०, २।

4 "एकमेव सत्", "नेह नानास्ति किंचन :"।—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ४, १६।

5 "मायी सृजते विश्वमेतत्"—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४, ६।

6 "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च।"

—कठोपनिषद् २, २, ६।

7 "भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्त त्रिविध ब्रह्ममेतत्॥"

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १, १२।

8 "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"।—बृहदारण्यकोपनिषद् ३, ८, ८।

9 "कुतो विदिते वेद्य नास्ति"—छान्दोग्योपनिषद्, ६, २, १।

10 "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कलम् ध्यायमान।"

—मुण्डकोपनिषद्, मु० ३, खंड १, ११।

11 "स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"—मुण्डकोपनिषद् ३, २, ६।

इस अद्वैत के आश्रित योग द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति की भारत में बड़ी उदात्त विवेचना हुई। श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्पष्ट लिखा है कि जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, अनुशास्ता, अणु से भी अणु, विश्व के धाता, सूर्य तुल्य नित्य चेतन प्रकाशस्वरूप, अविद्या से परे एवं अचिन्त्य रूप ईश्वर का चिन्तन करता है, वह अन्तकाल में भक्तिमान् हुआ निश्चल मन से योगबल द्वारा भृकुटि के मध्य प्राण को सम्यक् प्रकार से स्थापित कर उस दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।[1]

हिजरी सन् की तृतीय शताब्दी (ईस्वी सन् की नौवी शताब्दी के अन्त एवं दसवी शताब्दी के प्रारम्भ) में हम अद्वैत को सूफीमत में सिद्धान्त रूप से प्रवेश करता देखते हैं, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। यद्यपि पृष्ठभूमि में यह पहले ही प्रकट हो चुका था।[2] बायजीद प्राणायाम[3] से भी परिचित था। कहा जाता है कि अबू सईद बिन अबुल खेर, जो एक प्रसिद्ध सूफी था, योग-साधन किया करता था।[4]

सूफीमत और अद्वैतमत में हम अनेक समानताएँ पाते हैं। दोनो ही पीर या गुरु को आत्म-समर्पण करना मानते हैं। उपवास, जप एवं तप का विधान दोनो में ही हैं। श्वास के निग्रह और ध्यान में भी अनुरूपता है। ईश्वर से एकता भी दोनो में समान रूप से है। इन समानताओ के अतिरिक्त अनेक विषमताएँ भी हैं। योगी और सूफी दोनों सन्यासी जीवन में विश्वास रखते हैं परन्तु अधिकाश सूफियो का अविवाहित जीवन पर विश्वास नही। योगियो के आसनो से सूफियो के आसन भी कुछ भिन्न हैं। सूफियो की विकलता में भय, विलाप और चाहना प्रमुख है, किन्तु वेदान्ती पूर्ण शान्ति चाहता है।

गत समीक्षा से हमें यह विदित हो गया है कि मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् राजनैतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक परिस्थितियो ने मिलकर तत्कालीन वातावरण पर ऐसा प्रभाव डाला था कि अशात मानव-प्रकृति रहस्योन्मुख हो गई थी। इन परिस्थितियो के मूल कारण उम्मया शासन मे ध्वसात्मक गृह-युद्ध, प्रथम अब्बासी

---

[1] कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयासमनुस्मरेद्य. ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमस परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवो मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स त पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ८, श्लोक ६, १०।

o also holds a high
Yogis centred on

राजत्वकाल में संशयशील एवं बौद्धिक विचारधारा और विशेषतया उनमें की कट्टु जातीयता और दुराग्रह थे। यह भी हमें विदित होगया है कि सूफीमत की उत्पत्ति के पश्चात् अरब तथा फारस आदि देशों में गत अथवा वर्तमान भावना ने इस पर कैसा प्रभाव डाला था। पिछले कुछ पृष्ठों में ईसाई, नव अफलातूनी, नास्तिक, बौद्ध, एवं अद्वैत मतों के प्रभाव का दिग्दर्शन किया गया है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि यह प्रभाव सूफीमत के जन्मकाल से ही न था। हाँ, कुछ ईसाई आचार-नीति अवश्य अपना ली गई थी।

सूफीमत का इतिहास हमें बतलाता है कि सर्वप्रथम एकान्तवास तथा पवित्र जीवन की भावना उद्भूत हुई थी। एकान्तवास इस्लाम से पूर्व ईसाई प्रभाव से अरब में आया था।[1] मुहम्मद साहब के अनेक सहचर तथा खलीफा[2] संयम का आचरण करते थे तथा पवित्र जीवन बिताते थे। विप्लव, ध्वंस तथा ईश्वरीय भय ने अन व्यक्तियों को विरक्त बना दिया था। वास्तव में पूर्वकालिक सूफी रहस्यवादी क अपेक्षा यती एवं विरागी अधिक थे।[3]

हिजरी सन् की दूसरी शताब्दी (ईसा की लगभग आठवीं शताब्दी) में सूफ अधिकांशतः धर्मान्ध और विधान के अनुयायी थे।[4] निर्धनता, आत्म-त्याग तथा समर्प पर वे अधिक ध्यान देते थे। हम उन्हें यतिचर्या तथा ईश्वरीय ज्ञान या रहस्यवा के मध्य स्थित हुआ देखते हैं। ईश्वर के विषय में उनकी धारणा अक्षरशः कुरा पर आधारित थी।[5] ईश्वरीय भय ने मनुष्य को अपनी दुर्बलता के कारण चिन्त का पाठ पढ़ाया था। आदि के विचारक प्रायः आदि कारण, प्रकृति, आत्मा, विश्व मं मनुष्य का स्थान, बुद्धि, चेष्टा आदि कारण की अधीनता तथा नियता पर विचा किया करते थे। ये लोग कर्मकाण्ड के विरोधी थे। इस्लाम का अनुसरण तो करते थे परन्तु तत्त्वज्ञान का अध्ययन वे औचित्य की दृष्टि से ही करते थे। उनमें धीरे-धीरे स्वतन्त्र विचारधारा बढ़ने लगी और इस्लाम की शिक्षाओं को अपने अनुभव और तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा। अनेक लोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते और अपने अनुभवों की चर्चा करते थे। बसरा एक ऐसा ही स्थान था जहाँ गोष्ठी हुआ

---

1 *Arabic Thought and its place in History* P 18.

2 *Arabic Thought and its place in History* P 137

3 "The earliest Sufis were ... ascetics and quietists rather than mystics." —(*The Mystics of Islam* Intro P 4)

4 "The Sufis of the 2nd Cent were usually orthodox and law abiding. They cultivated poverty, self abasement." —(*Encyclopaedia of Religion and Ethics* Vol. 12 P 11)

5 "In their conception of the Nature of the Godhead, the ancient Sufi mystics, as might be expected adhere closely to the language of the Quran and to the orthodox belief." —(*Studies in the Early Sufism in the near and Middle East* P 131)

करती थी।[1]

सूफीमत का मुख्य आधार निष्काम भक्ति या प्रेम ही है । परन्तु आदि काल में ईश्वरीय उत्कृष्टता तथा अनुकम्पा की पृष्ठभूमि मे भय की ही प्रधानता थी। "ईश्वर दण्ड देने में कठोर है"[2] इस विचार ने विद्रोह की भावना उत्पन्न करदी और खिन्न मानव-मन की तृप्ति के लिए ईश्वरीय अपार सौन्दर्य पर लोगो का ध्यान गया। जब कि पहले केवल आत्म-त्याग, कठोर इन्द्रिय-दमन, प्रबल पूतता और शान्त चर्या ही विरक्ति के लक्षण थे, अब ध्यान को भी महत्त्व दिया जाने लगा, क्योकि जो अति सुन्दर है उसका सौन्दर्य प्रेम का कारण होना है और जिसे हम प्रेम करते है, उसका चिन्तन अनिवार्य है । उसके प्रति आत्म-समर्पण में ही परमानन्द और जीवन की सार्थकता है । ईसा की आठवी शताब्दी में विद्यमान बलख का इब्राहीम[3] प्राय प्रार्थना किया करता था, हे ईश्वर ! मैंने तुम्हारे प्रति आत्म-समर्पण के महत्त्व की अवज्ञा की है। मुझे इस लज्जा से मुक्ति दो।' तात्कालिक एव तद्देशीय शकीक[4] भी ईश्वर के हाथ मे ही आत्म-समर्पण के कर्तव्य पर विशेष बल देता था।

यह वह समय था जब प्रेम-मन्त्र अपना जादू-जाल बिछाने लगा था। सम्भवत बसरा में सन् ७१७ में उत्पन्न राबिया की भक्ति-भावना मे हम प्रेम की अनन्यता पाते है। अब प्रार्थनाएँ वाह्यविधानाश्रित नही रह गई थी, वरन् उन्होने वह रूप धारण किया था जिसमें रहस्यवादी हृदय की गहराइयो में ईश्वर के साथ सम्भाषण करता है । राबिया[5] प्राय अपनी छत पर जाकर यह प्रार्थना किया करती थी—"ओ मेरे स्वामी ! तारे चमक रहे हैं, और मनुष्यो की आँखें बन्द हैं। सम्राटो ने अपने द्वार बन्द कर लिये है, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रियतमा के पास है, पर यहाँ मै एकाकी तुम्हारे साथ हूँ।" इस प्रार्थना में हम प्रेम का प्राचुर्य देखते हैं, जिसमें सर्वत्र उदासीनता है और केवल अनन्यतापूर्ण उसी में लीनता है तथा जिसमें न शैतान के प्रति घृणा है और न रसूल के प्रति राग । एक बार पैगम्बर साहब राबिया[6] को स्वप्न में दृष्टिगोचर हुए। उन्होने पूछा—"ओ राबिया ! क्या तुम मुझे प्रेम करती हो?"

---

[1] *Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol 12, P 11*

[2] Allah is severe in punishment —(*The Glorious Quran, S 3, 11*)

[3] O God uplift me from the scheme of disobedience to the Glory of submission unto thee —(*A Literary History of the Arabs P 232.*)

[4] *A Literary History of the Arabs P 233*

[5] O my Lord the stars are shining and the eyes of men are closed and kings have shut their doors and every lover is along with his beloved and here am I alone with Thee —(*Rabia the Mystic P 27*)

[6] [illegible] does thou love [illegible] ?—but love of [illegible]ny other thing [illegible] *62 63*)

उत्तर मिला—"ओ ईश्वरीय दूत ! तुम्हें कौन प्रेम नहीं करता ? परन्तु परमात्मा के प्रेम ने मुझे इतना लीन कर लिया है कि न प्रेम और न घृणा के लिए ही मेरे हृदय में स्थान है।" यही प्रेमोन्माद मीरा में हम पाते हैं अत इस राबिया की तुलना मीरा से की जा सकती है।

राबिया से पूर्व आत्मलय (फना) का सिद्धान्त हमें नहीं मिलता। यद्यपि राबिया के वचनों में भी हमें इसका विवेचन नहीं मिलता, तथापि यह स्पष्ट है कि सूफीमत का शान्त और सयमी जीवन अब भावमय होने लगा था तथा अद्वैत की भावना प्रगट होने लगी थी।[१]

प्राचीनतम सूफियों में ईरानी अधिक थे। उनके पश्चात् सीरिया और ईजिप्ट के सूफियो की सख्या थी। वे एकान्त स्थानो में निवास करते और साधु जीवन व्यतीत करते थे। वे प्राय मक्का भी जाते थे।[२] इनमें से कुछ खानकाहों (आश्रमो) में भी रहा करते थे। परन्तु अब मक्का का महत्त्व न रहा था। सलावत अर्थात् पचकालिक नमाज भी जिक्र (जाप) एव हृदयगत चिन्तन में परिवर्तित हो गई थी। ईश्वरीय विश्वास ने पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना को जाग्रत कर दिया था। परन्तु अभी धर्मान्ध मुसलमानो में सूफीमत का प्रचार न हुआ था।[३]

जब कि वान क्रेमर[४] के अनुसार सर्वप्रथम सफीमत अरबी आदर्श के थे, जिन पर फारसी, यूनानी एव भारतीय विचारों की अपेक्षा ईसाई आश्रमवासिता का अधिक प्रभाव था, वौघन[५] के अनुसार मध्यकालीन सूफी ईश्वरवादी, धर्म-निष्ठतावादी एव चमत्कारवादी इन तीन विभागो म से द्वितीय वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। इस समय में ध्यान और ईश्वरीय ज्ञान का पूर्ण विवेचन मिश्र और सीरिया में हुआ, जिस पर यूनानी प्रभाव के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

हिजरी सन् की तृतीय शताब्दी (ईसा की नौवी शताब्दी) में हम सूफीमत को निश्चय ही एक नये मार्ग में प्रवेश करता देखते हैं। शान्त सयमी जीवन की

---

[१] 'We now come to a more interesting personality, in whom the ...

... had Khanqahs Hermitages —(Outlines of Islamic Culture ... P 462)

[२] "It was not until the time of Al Ghazali (d 505) that Sufism began to take its place in orthodox Islam —(Arabic Thought and its place in ...

... Von Kremer as the early Arabic ... P 176)

... aughan divides all mystics the ... ne theurgic are all represented ... which must prevail in the earlier ... P 424)

धारा चिन्तन और अद्वैत की भावना से तरंगित हो जाती है। यही वह काल है जब सूफीमत पर बाह्य प्रभाव पड़ते हैं, जैसा कि इस पर्व के आरम्भ में बतलाया गया है। ईसाई नव अफलातूनी, नास्तिक, बौद्ध एवं अद्वैत मतों की छाप स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगती है।

ईसा की नौवीं शताब्दी के चतुर्थांश में विद्यमान अबू याजीद या बिस्ताम के बायजीद ने सर्वप्रथम रहस्यवाद में अद्वैत का निरूपण किया था। यही एक व्यक्ति था जिसने फ़ना (आत्म-लय) के सिद्धान्त को दूसरों के समक्ष उपस्थित किया। उसके अतिरिक्त तत्कालीन सभी सूफियों ने इस सिद्धान्त को पृष्ठभूमि में रखा।[1] उन्होंने हकीकत (वास्तविकता) के साथ शरीअत (विधान) का मेल कर शान्त और संयमी जीवन को ही महत्त्व दिया। आत्म-लय रूप फ़ना के सिद्धान्त के अनुरूप ईश्वर में जीवन रूप बक़ा के सिद्धान्त का प्रतिपादन अबू सईद अल खर्राज ने किया था।[2]

सिद्धान्ततः सूफीमत का पूर्ण विकसित रूप धुन्नून से प्रारम्भ होकर जलालुद्दीन रूमी के साथ समाप्त होता है।[3] पश्चात् के सूफी तो उन्हीं की शिक्षाओं को नवीन रूप में पुनरावर्तित सा करते हुए जान पड़ते हैं।

धुन्नून ही प्रथम व्यक्ति था[4] जिसने सूफी सिद्धान्तों को दूसरों के समक्ष व्याख्यात किया था। बगदाद के जुनैद ने इन्हें क्रमबद्ध और अबूबक्र शिब्ली ने मसजिद की मीनार से उपदिष्ट किया था। बसरा की राबिया सर्वप्रथम स्त्री थी जिसने सूफीमत को अपनाया था।

यह वह समय था जब विधान का उल्लंघन घोर भ्रष्टता समझी जाती थी। धर्मान्ध व्यक्ति इस्लाम में विहित मार्ग से तनिक भी इतस्ततः जाना घोर नास्तिकता समझते थे। यही कारण था कि रहस्यवादियों को सर्वप्रथम धर्म-शास्त्रियों से टक्कर लेनी पड़ी। धुन्नून मिश्री, नूरी तथा हल्लाज को दण्ड मिलना इसी का परिणाम था।

---

1 "With the exception of Bayazid however, the great Sufis of the third century A H (815-912 A D) keep the doctrine of fana in the background —(A Literary History of the Arabs P 391 92)

2 "In the third century A H the negative doctrine of fana was taught by the famous Persian Sufi Bayazid of Bistam, while the positive view, that the ultimate goal is not death to self (Fana) but life in God (Baqa) was maintained by Abu Said al Kharraz "—(The Idea of

un and
" 205)
ayid of
first to
proach them from the min
20)

सन् ८८० ई० में अबू सुलेमान ने मारिफत (रहस्यज्ञान) के सिद्धान्त को विकसित किया था।[1] धुननून मिस्री ने सूफीमत के विकास में एक चरण और आगे रखा। उसने मारिफत (रहस्यज्ञान) को परम्परागत एवं इल्म (बौद्धिक ज्ञान) से पृथक् करते हुए उसका सम्बन्ध ईश्वरोपासना से जोड़ा।[2] धुननून ने गुरु का महत्व बताते हुए यहाँ तक कहा कि शिष्य को ईश्वर की अपेक्षा अपने गुरु के प्रति अधिक आज्ञापालक होना चाहिए।[3]

जो सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित हुए थे अल जुनैद ने उनको विकसित कर व्यवस्थित कर दिया। बायजीद की भाँति जुनैद भी द्वैत का प्रचारक था। जुनैद ने स्वयं कहा कि मेरी जिह्वा से ईश्वर तीस वर्ष तक वार्तालाप करता रहा।[4] जुनैद के अनुसार ईश्वरीय ऐक्य का उपभोग ही परम सगति है। ईश्वरीय ऐक्य से तात्पर्य उन महान समुद्र में अपने को लीन कर देना है, उस परम विभूति के व्यक्तित्व में ही अपने को खो देना है तथा उसी के सुन्दर ध्यान में लीन हो सदैव प्रेम का प्याला पीते रहना और प्रियतम से एक हो जाना है।

शिब्ली ने इन सिद्धान्तों का प्रचार किया। उसने ईश्वरीय प्रेम को एक उन्माद बतलाया जो प्रत्येक प्रेमी को उन्मत्त बना देता है।[5] शिब्ली स्वयं उन्मादावस्था में रहा करता था। उसका कहना है कि वास्तविक स्वातन्त्र्य ईश्वर की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु से हृदय को मुक्ति दिलाना है।[6] सूफीमत का तात्पर्य ही भौतिक जगत् को मिथ्या समझना है। जुनैद ने भी कहा था कि सूफीमत का अर्थ ईश्वर से भिन्न पदार्थों से पृथकत्व है।[7]

शिब्ली का ही सहपाठी मंसूर अल हल्लाज था जो दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विरोधियों द्वारा निधन को प्राप्त हुआ था। इसने पश्चिमी भारत की भी यात्रा

1 Abu Sulayman (830 A.D.) the next great name in the Sufi Biographies was also a native of Wasit. He developed the doctrine of gnosis (Marifat). — (Hitti, History of the Arabs P. 386)

2 Dhun nun took a very important step in the development of Sufism by distinguishing the mystic knowledge (Marifat) from tradi[illegible] the former with [illegible] ... [illegible] disciple should be [illegible] ...—(Encyclopaedia of Religion and Ethics [illegible])

4 For thirty years he said God spoke with mankind by the tongue of Junaid.—(Hitti, History of Persia, P. 4[illegible])

5 Verily love is the All merciful has intoxicated me. Have you ever seen any lover who was not intoxicated?—(Nicholson, the Mystic P. 127)

6 Abu Bakr Shibli of Khurasan a close friend of the celebrated Mansur-e Hallaj (1 [illegible] A.D.) says that true freedom is the freedom of the heart from everything but God.—(Outlines of Islamic Culture P. 46[illegible])

7 Sufism is [illegible] detachment from [illegible] God.—(Outlines of Islamic Culture P. 46[illegible])

की थी। यह तत्कालीन सूफियों में निर्भय अद्वैत का प्रचारक था। यह मनुष्य को दैवी मानता था,क्योंकि ईश्वर ने उसे अपनी ही आकृति में बनाया था।[1] सूफियों ने यह परम्परा यहूदियों से ली थी कि ईश्वर ने आदम को अपने रूप में बनाया था।[2] हल्लाज ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की, ईश्वर ने आदम के रूप में अपने को ही प्रदर्शित किया था क्योंकि आदम मानवीय एवं दैवी प्रकृति का आदर्श था। वह स्वयं अपने को सचाई या ईश्वर कहता था।[3] वह कहता था कि 'मैं' वह हूँ जिसको मैं प्यार करता हूँ और वह जिसको मैं प्यार करता हूँ 'मैं' है।[4] उसके अनुसार सर्वोच्च सत्ता बुद्धि से अगम्य और अनुपमेय है। दुःख उठाकर आत्म-समर्पण द्वारा ही ईश्वर से सम्मिलन हो सकता है। ईश्वर और मनुष्य के बीच समन्वय का भाव ही दुखदायी है और यह भाव उसी की कृपा से दूर हो सकता है।[5] यह वैधानिक प्रार्थनाओं का बड़ा विरोधी था। ईश्वरीय ध्यान में निमग्नता को ही सबसे बढ़कर प्रार्थना समझता था। इसने प्रत्यक्षतः शरीअत का विरोध किया। स्वयं को ईश्वर कहना एवं पवित्र पुस्तकों के विधानों का विरोध करना ही इसका शत्रु हो गया। धर्मान्ध लोगों को यह पथभ्रष्ट ज्ञात हुआ और इसीलिए इसे मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ा। परन्तु निधनोपरान्त इसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी मुस्लिम जगत् में दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक चेष्टाओं के लिए प्रसिद्ध है। सूफी भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। कहा जा चुका है कि हल्लाज दसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में विद्यमान था। अबू सईद बी अबुल खेर[6] (९६७ से १०४९) प्रथम व्यक्ति था जिसने रहस्यवाद की कविता के विकासार्थ अपनी सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक शक्तियों का प्रयोग किया था।

---

1 "According to al Hallaj man is essentially divine because he was created by God in his own image."—(*Arabic Thought and its place in History*, P. 193.)

2 "In speaking of Hallaj, I referred to the tradition taken over by the Sufis from Judaism, that God created Adam in His own image."—(*The Idea of Personality in Sufism*, P 59 60.)

3 "... in one of his ecstacies he had cried out, 'I am the Truth'."—*A literary History of Persia* P 428.)

4 "I am He whom I love and He whom I love is I."—(*Al-Ghazzali, the Mystic*, P 234.)

5 "Betwixt me and Thee there lingers an 'it is I' that torments me. Ah, of Thy Grace, take away this 'I' from between us!"—(*The Legacy of Islam*, P. 218.)

6 "Abu Said be. Abul Khair (A D 967 1049) was the first poet who devoted his most brilliant literary powers to the development of mystic poetry." (*An Introductory History of Persian Literature*, P. 85.)

इसी ने सर्वप्रथम सूफीमत को नैतिक महत्त्व दिया था और इमाम गजाली ने सर्वप्रथम इसे आध्यात्मिक आधार पर स्थित किया था।[1] हम पहले कह आये हैं कि अबू सईद बिन अबुल खैर[2] योगियों की भाँति ध्यान लगाया करता था। इससे ज्ञात होता है कि योगी साधना सूफियों में इससे पूर्व ही पहुँच चुकी थी। इसका[3] कहना था कि रहस्यवादी की यात्रा तो स्वकीय हृदय में होती है तथा यदि ईश्वर ने किसी के लिए मक्का का मार्ग निश्चित किया है तो वास्तव में वह व्यक्ति सन्मार्ग से दूर फेंक दिया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अल गजाली ने सूफीमत को दार्शनिक आधार तो दिया परन्तु अधिकांशतः इसे धर्म परायणता से सम्बन्धित कर दिया। मान्य सूफी एवं मान्य धर्मनिष्ठ होने के कारण ही वह तत्कालीन सूफियों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यही नहीं भावी सूफी सनाई, अत्तार और जलालुद्दीन रूमी ने भी उसी के पद-चिह्नों पर चलना स्वीकृत किया। ये तीनों ही प्रसिद्ध फारसी कवि सुन्नी थे। इनकी कविताएँ अबू बक्र और उमर की प्रशंसाओं से भरी पड़ी हैं। मुतजिलियों के वे घोर विरोधी थे।[4]

अल गजाली के अनुसार परमात्मा की सत्ता सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, उसी के द्वारा अखिल विश्व प्रदर्शित है। फिर भी प्रदर्शित पदार्थों से हम उसे पृथक् नहीं कर सकते। अल एक वास्तविकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[5] केवल वही सर्वस्व है। अल गजाली की शिक्षाओं में बायजीद द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त का हम निश्चित रूप पाते हैं, यद्यपि इसका सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी था,[6] जो अल गजाली के पश्चात् हुआ। अल गजाली ने ज्ञान को बड़ा महत्त्व दिया है। उसने ज्ञानी को सूर्य और मृगमद के तुल्य बतलाया है जो स्वयं प्रकाशवान् एवं सौगन्धित होते हुए दूसरों को भी प्रकाश और सौरभ प्रदान करते हैं। वास्तव में उसके अनुसार आत्मोन्नति के लिए आनन्दों का बलिदान

[illegible] Klaur as the first [illegible] the first to give [illegible] lin Rumi, P. 11)

[illegible] ore anyone that person has been cast out of the way to the truth."—(Studies in Islamic Mysticism, P. 69)

4. "In this connection it is notable fact that Sanai, Attar and Jalaluddin Rumi the three greatest of the older Persian mystical poets were all Sunni ... their poems abound with laudatory mentions of Abu Bakr and Umar and they are the declared foes of Mutazilites."—(A Literary History of Persia, P. 437)

5. "So nothing remaineth but the one reality."—(Al Ghazali the Mystic, P. 22-30)

6. "The development of Sufi Pantheism comes much later than [illegible] and was chiefly due to Ibn-ul Arbi (A. D. 1165-1240)."—(The Idea of Personality in Sufism, P. 27)

ही एक सूफी की सुचि है। अबू तालिब के समान ही अल गजाली ने भी ज्ञान को एक प्रकाश कहा है जिसे ईश्वर हृदय मे प्रक्षिप्त करता है।[1] इसने ज्ञान के अतिरिक्त ध्यान को भी बडा महत्त्व दिया है। सर्वश्रेष्ठ ध्यान वही है जिसमें वास्तविकता का साक्षात्कार होता है।

अल गजाली ने ही सूफीमत को मुस्लिम जगत् मे एक निश्चित स्थिति प्रदान की थी। इससे पूर्व हम धर्मान्धो मे सूफीमत का प्रवेश सूक्ष्म रूप में ही पाते है। इसके समय तक नव अफलातूनी मत का पर्याप्त प्रभाव पड चुका था क्योंकि तत्कालीन[2] एव तत्पश्चात् सूफी लेखको की रचनाओ में हम प्लोटीनस के तथा परमाल्हाद सम्बन्धी सिद्धान्तो के अविराम सकेत देखते हैं। प्लोटीनस के अनुसार गजाली ने भी परमात्मा को प्रकाशस्वरूप माना है।[3]

अल गजाली के ही पदचिन्हो पर चलने वाला फरीदुद्दीन अत्तार था। उसके अनुसार भी परमात्मा ही सबका मलस्रोत है एव उसके अतिरिक्त और कुछ नही।[4] वह एक गुप्त खजाना है जिसे हम इस दृश्य जगत् में इसे ही साधन बनाकर खोज सक्ते है। परमात्मा एक सत्ता ही नही है वरन् एक सकल्प भी है।[5] वास्तव में वही विश्व की आत्मा है। विश्व में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब नश्वर है परन्तु मानवीय आत्मा अमर है और वह सदा ईश्वर में निवास करेगी। मनुष्य प्रेम की सीढी पर चढकर ही उस अन्तिम प्रकाश से एकरूपता पा सकता है। प्रेम निजता और परता से पृथक् हो प्रियतम की ओर बढने का नाम है। यह प्रेम ही मनुष्य को उज्ज्वल बनाकर उत्तरोत्तर उसकी उन्नति का कारण होता है और अन्त में प्रभु का साक्षात्कार कराकर आत्मा को उसस एकरूपता प्रदान करता है।[6] इस प्रकार प्रेमी प्रियतम में मिलकर प्रेमरूप हो जाता है क्योंकि प्रियतम स्वय प्रेमरूप है। इस

---

1 'Knowledge is compared by both Abu Talib and Al Ghazzali with a light which God casts into the heart —(*Al Ghazzali the Mystic P 128*)

2 "From his Time forward we find in Sufi writings constant Allusions to the Plotinian theories of emanation and ecstasy —(*A Literary History of the Arabs, P 393*)

3 That light to Al Ghazzali as to Plotinus is the ultimate Reality —(*Al Ghazzali the Mystic P 105*)

4 'God to Attar, is the sole source of all existence everything is God and there is no other existence but God —(*The Persian Mystics, Attar, P 21*)

5 'God is not only being but Will —(*The Persian Mystics, Attar, P 20 21*)

6 'That Passion of love for God will lead the mystic onward and upward, until purged as by fire from all the dross of self and self seeking the soul can look upon God face to face and become one with that supreme Reality, which is also [illegible] Attar, P 20)

रति भाव से प्रभावित अत्तार[1] गणीय प्रार्थनाओं को एक भार और एकान्तवास को सुरक्षा समझता था।

उपर्युक्त विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि सूफीमत पर बाह्य प्रभाव कितना दृढ़तम हो गया था। इसमें ईरान का बड़ा हाथ था। वास्तव में इस्लाम का जो पौधा ईरान में लगा वह सूफीमत के विकसित रूप में अपना फल लाया। अरबों ने ईरान के प्रदेश को जीता अवश्य था किन्तु ईरान ने अरब की इस्लामिक संस्कृति पर विजय पाई और अब इस्लाम की दो प्रमुख शाखाएँ स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगीं। एक इस्लामी शरीअत जो अरब में उत्पन्न हुई और दूसरी सूफीमत की तरीकत जो अब ईरान में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई। इस्लामी भावना से अद्वैत अब अपना रूप निखार रहा था परन्तु इसमें प्रेम की मादक लहर ने अभिन्नता होते हुए भी ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया था और साधना को मधुर बना दिया था।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान स्पेन के प्रमुख रहस्यवादी कवि मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी ने अद्वैत को पूर्णत विकसित किया। इसने एशिया का भी भ्रमण किया। सम्भवत इसी भ्रमण में उसे अद्वैत सिद्धान्त का सर्वांशत अध्ययन करने का अवसर मिला हो। इसी कारण स्पेन का सूफीमत प्रधानत ध्यान-परक था।[2]

इब्नुल अरबी ही प्रथम व्यक्ति था जिसने इस सिद्धान्त का नियमानुसार सम्यक् विवेचन किया था कि सृष्टि के समस्त पदार्थ वास्तव में कुछ नहीं वरन् उस स्रष्टा की सत्ता के सार हैं। वह बतलाता है कि पदार्थ निश्चय ही दैवी पूर्वज्ञान से उत्पन्न होते हैं जिसमें वे भावों के समान पूर्व ही विद्यमान थे।[3] सम्पूर्ण विश्व उसका आत्मप्रदर्शन है। उसके अतिरिक्त कोई वास्तविक सत्ता नहीं। प्लोटीनस का 'एक' कारण रूप से सर्वत्र विद्यमान है जब कि इब्नुल अरबी का 'एक' सार रूप से।[4] उसका कहना है कि भलाई और बुराई परमात्मा से आती है।[5] सभी पदार्थ

---

1 'I would that I were ill, so that I need not attend congragational prayers for there is safety in solitude'—(*A Literary History of Persia P, 426*)

2 ". Spanish Sufism was essentially speculative'—(*Arabic Thought and its place in History, P 204*)

3 "He teaches in fact that things necessarily emanate from divine prescience in which they pre-existed as ideas '—(*The Encyclopedia of Islam, P 654*)

4 "Plotinus One is everywhere as a Cause, Ibnul Arabi's One is everywhere as an essence -(*The Mystical Philosophy of Muhiuddin Ibnul Arabi, P 11*)

5 'Ibnul Arabi Adds that ultimately both good evil come from God'—*The Mystical Philosophy of Muhiuddin Ibnul Arabi, P 1[illegible]*)

उसी के प्रदर्शन है अतः सभी कार्य उसी के कार्य हैं, जिनमे से कुछ को हम उत्तम और कुछ को हम मध्यम सज्ञा देते हैं । भले-बुरे सभी विषयों मे विमुग्ध अन्तर्दृष्टि द्वारा ही पुरुष उसे देख सकते हैं जो विचारों से परे है । इब्नुल अरबी ईश्वर में लय रूप फना के सिद्धान्त को एक क्रमिक विकास मानता है जिसमें सात स्थितियाँ होती हैं और इन्ही स्थितियों में रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि द्वारा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जानता है। वे स्थितियाँ इस प्रकार है—(१) पाप से मुक्ति, (२) कर्म से मुक्ति, (३) गुणों से मुक्ति, (४) व्यक्तित्व से मुक्ति, (५) भौतिक जगत् से मुक्ति, (६) ईश्वरेतर सत्ता से मुक्ति, और (७) ईश्वरीय गुणों एव उनके सम्बन्धों से मुक्ति. । इस फना के सिद्धान्त मे और बौद्धों के निर्वाण में हम बहुत दूर तक साम्य देखते हैं।

तेरहवी शताब्दी में ही मिश्र में अरबी रहस्यवादी कवि इब्नुल फारिद हुआ। उसने अनुभव को तीन विभागों में विभक्त किया—प्रथम साधारण, द्वितीय असाधारण और तृतीय अलौकिक।[1] प्रथम में चैतन्य साधारण स्थिति में रहता है, द्वितीय में वह परमाल्हाद में निमग्न हो जाता है और तृतीय में एकरूपता होती है । उसने अपनी रहस्यगूढ़ चेतना को वह अनुभव बतलाया है कि जिसमें इन्द्रियाँ पारस्परिक चेष्टाएं करने लगी—आँख वार्तालाप करने लगी तो जिह्वा देखने लगी, कान बोलने लगा तो हाथ सुनने लगा, कान ने देखना प्रारम्भ किया तो आँख ने सुनना आरम्भ कर दिया।[2]

अरबी रहस्यवादी काव्य फारसी की अपेक्षा अपकृष्ट है।[3] यही कारण है कि इब्नुल फारिद तत्कालीन फारसी कवि जलालुद्दीन रूमी की समानता न पा सका। यद्यपि यह एक धर्मनिष्ठ सुन्नी था, तथापि यह सूफीमत के स्वर्णयुग का अन्तिम कवि कहलाता है।[4] यह बलख का निवासी था और बलख में एक बौद्ध मठ विद्यमान था अत. इसने निर्वाण के सिद्धान्त का पूर्ण अध्ययन किया होगा । इसके अनुसार[5]

---

1 "Ibnul-Farid (an Arabian mystic of the early 13th Century) distinguishes three modes of experience which may be called respectively normal, abnormal, and supe normal" —(*The Idea of Personality in Sufism, P. 19.*)

2 "My eye conversed whilest my tongue gazed
My ear spoke and my hand listened, . .

. .
n, P. 210)

3 . . , to that
of th

4

5 "It is the way that leads away from self, through repentence, renunciation, trust in God (Tawakkul.) recollection (Zikr) to ecstasy and union with God" —(*The Influence of Islam, P. 159*)

परमाल्हाद एवं ईश्वर से ऐक्य की प्राप्ति का मार्ग पश्चात्ताप, त्याग, ईश्वर में विश्वास और जाप है। अन्तिम स्थिति फना है जो फना-अल-फना में पर्यवसित होती है। किन्तु यह बौद्धों के निर्वाण के सर्वांगत समान नहीं है।

रूमी ने भी विश्व को उसी ईश्वर का प्रदर्शन माना है। यह सारा विश्व उसी का दर्पण है। किन्तु उसे वही देख सकता है जिसकी अन्तर्दृष्टि उज्ज्वल हो गई है।[1] ईश्वरीय प्रकाश ही बौद्धिक प्रकाश को प्रकाशित करता है।[2] जबकि बौद्धिक प्रकाश, हमें अवनति की ओर आकृष्ट करता है, ईश्वरीय प्रकाश उन्नति की ओर। साधु पुरुषों का हृदय ही पूजालय है, जहाँ ईश्वर निवास करता है।[3] साधु-हृदय देवालय होते हुए भी रूमी के अनुसार मानवीय इच्छा दैवी इच्छा के आश्रित है,[4] अन मनुष्य अपने कर्मों के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। ईश्वर के सम्बन्ध में बुराई अवास्तविक हो सकती है परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में इसकी सत्ता अवश्य है।

रूमी के अनुसार प्रेम ईश्वरीय रहस्यों के प्रकाशन का एक साधन है। इस प्रेम की मादकता में 'मैं' और 'तू' की भेद-बुद्धि की विहीनावस्था के क्षण को ही रूमी[5] ने आनन्द का क्षण कहा है जिसमें दो आकृतियों में भी एक ही आत्मा व्याप्त होती है। प्रेमी की प्रियतम के प्रति विकलता सूफियों में प्रसिद्ध ही है। परन्तु रूमी का कहना है कि प्रेमी ही अपने प्रियतम से एकाकार होना नहीं चाहता वरन् प्रियतम भी उससे एक हो जाना चाहता है।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेममयी जिस अद्वैत की साधना का उद्भाव हुआ था उसका पूर्ण विकास रूमी तक हो जाता है। इसके पश्चात् जिली, जामी आदि सभी सूफियों ने पूर्व झंकृत स्वर ही अलापा। रूमी ने दो आकृतियों में एक आत्मा रूप जिस अद्वैत भावना को उद्गारित किया था, जिली को भी चौदहवीं शताब्दी में हम

---

[1] The world is God s pure mirror clear,
To Eyes when free from clouds within —(*The Persian Mystics* [illegible]

[illegible] *Mystics Jallaluddin Rumi P 9*[illegible])

[2] "The Mosque that is build in the hearts of saints is the place of worship for all, for God dwells there —(*The Idea of Personality in Sufism P 57*)

[illegible] is subordinate of [illegible]

[illegible] lace thou and I
thou and I'—

[illegible] But his beloved is also seeking union with him —(*The Persian Mystics, Jallaluddin Rumi P 76*)

वही कहता पाते हैं कि हम दो शरीरो मे एक प्राण है ।[1] पन्द्रहवी शताब्दी में जामी भी इन्ही शब्दो की पुनरावृत्ति सी करता हुआ कहता है कि जहाँ भी[2] आवरण दृष्टिगोचर होता है उसके पीछे वही छिपा हुआ है तथा वही कोष है और वही कोषागार है, वहाँ 'मै' और 'तू' के लिए स्थान नही है क्योकि ये दोनो केवल भ्रम है ।

सफीमत के विकास-काल मे ही पीरी-मुरीदी के आधार पर अनेक सम्प्रदाय स्थापित हुए । अनेक प्रतिष्ठित सन्तो ने स्वकीय मतानुसार आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचारार्थ इनकी स्थापना की । ए० एम० ए० शुश्टरी ने लिखा है कि इनकी सख्या १७५ से भी अधिक है ।[3] परन्तु वे सभी गण्य नही हैं । उनमें से कादरी, तैफूरी, जुनेदी, नक्शबन्दी, शाधिली, शत्तारी, मौलवी और चिश्ती अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

ईसाई एव बौद्ध मठाधिकारिता की भाँति इन सम्प्रदायो ने भी इस प्रथा को अपनाया । इनमें से अनेक अवान्तर सम्प्रदाय भी थे । ये सभी अपना सम्बन्ध किसी-न किसी खलीफा या मान्य सूफी सन्त से जोडते थे । बहुतो ने स्वयं पैगम्बर साहब को ही अपनी परम्परा का आदिपुरुष कहा है ।

स्त्री, पुरुष समानरूप से ही इन सम्प्रदायो में प्रवेश पाते थे । रोमन ईसाइयो की भाँति इस्लाम में ऐसा भेद नही माना गया है कि एक स्त्री उपरोहिती नही हो सकती क्योकि वहाँ न कोई उपरोहित है और न कोई सामान्य जन ।[4] इस्लाम में प्रारम्भ से ही स्त्री की अधिक प्रतिष्ठा रही है । राबिया सूफियो में एक सम्मानित स्त्री हुई है । रूमी ने स्त्री को केवल गृहपत्नी या प्रेमिका ही न बतलाकर ईश्वरीय प्रकाश की एक किरण कहा है, जो मानो स्वय स्रष्टा की आत्मा है न कि एक साधारण प्राणी ।[5] कुछ आध्यात्मिक परीक्षाओ को पास कर लेने पर पुरुषो की भाँति स्त्रियो को भी एक प्रमाणपत्र दिया जाता था ।[6] अनेक स्थलो पर मठ बने हुए थे, जिनमें मुरीदो

---

1 "We are the spirit of one, though we dwell by turns in two bodies "—(*Studies in Islamic Mysticism, P. 80*)

[illegible] re is no place for I and thou [illegible] *Mystic, P 236*)

[illegible] ʼrge number of over 175 "

[illegible] that a woman cannot be a [illegible] neither priest nor layman there ʼ—(*The religious attitude and life in Islam, P 16[illegible]*)

5 'Women is a ray of God, not a mere mistress The Creator's self, as it were, not a mere creature —(*The Persian Mystics Jalaluddin Rumi, P. 69*)

6 'Both men and women were admitted into the order, and Khirqa or a certificate of passing Sufi trials was granted to ladies also '—(*Outlines of Islamic Culture, Vol. 2, P 471*)

(शिष्यों) को दास (गुरु) के समक्ष कर्तव्यशील एवं आज्ञापालक रहने की शपथ लेकर कुछ वर्ष अध्ययन करना पड़ता था। कुछ सम्प्रदायों में अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ समझा जाता था परन्तु अधिकांशतः इस विचार को मान्यता प्राप्त न हुई।

सम्प्रदायों में विभिन्नता होते हुए भी मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। केवल कालानुसार व्याख्या के अन्तर से अन्तर आ गया है। इनमें अपने कुछ अभ्यास होते थे जिन्हें वे कठोरता से पालन करते थे। एकान्तवास, मौन, स्वाध्याय जप एवं ध्यान को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। जुनैद[1] ने अपने सूफीमत को आत्म-समर्पण, उदारता, धैर्य, मौन, विरक्ति, ऊनी वस्त्र, यात्रा एवं निर्धनतारूप उन. श्रेष्ठ गुणों पर आश्रित किया था, जिनका आदर्श इस्हाक, अब्राहम, अयूब, जकरिया, मूसा, ईसा, यही और मुहम्मद साहब में विद्यमान था। सालिक (नव शिक्षित) को इनमें से एक को अपनाना पड़ता था, जिसके द्वारा वह लक्ष्य-सिद्धि की ओर बढ़ता था। प्रायः सभी सम्प्रदाय इन्हीं या ऐसे ही गुणों का आचरण परमावश्यक समझते थे।

---

1 Junayd, for example based his Tasawwuf on eight different quali ties of the mind, etc. submission, liberality, patience, silence, separa tion (from the world) wollen dress travelling poverty —as illustrated in the lives of Isaac Abraham, Job, Zachariah Moses Jesus and the seal of Prophets"—(*Islamic Sufism*, P 21)

तृतीय पर्व

सूफी आस्था

जो सासारिक पदार्थों से मन हटाकर ईश्वर के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे प्रेम करने लगा है वही सूफी है । एक सूफी के मार्ग पर ससीमता से असीमता प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान में चार स्थितियां होती हैं ।[1] प्रथम शरीअत है । इसमें मनुष्य ईश्वर की सत्ता से प्रभावित होकर उसके भय से भीत और वैभव से विस्मित होता है । द्वितीय स्थिति तरीकत है । इसमें विवेक की प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य भले-बुरे, ऊँच-नीच एव कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को पहचानने लगता है । तृतीय हकीकत है, जिसके द्वारा मनुष्य विश्व सत्ता की वास्तविकता को पहचानता है । चतुर्थ स्थिति मारिफत है । यह वह ज्ञान है जिससे वह ईश्वर को सत्यरूप में जानता है ।

वास्तव में मनुष्य के जीवन का ध्येय ही स्वकीय सत्ता के महत्व से परिचित होकर अपने मूल तत्व को जानना है । 'मैं कौन हूँ', 'मेरा उद्गम कहाँ से हुआ है', 'यह दृश्य जगत् क्या है', मेरा इससे क्या सम्बन्ध है', 'कौन-सी शक्ति है जो निखिल चेष्टा का कारण है', इत्यादि प्रश्नो का समाधान कर अन्तरात्मा इस परिणाम पर आती है कि एक महती व्यापक शक्ति अवश्य है, जिसकी सत्ता से विश्व सत्तावान् है तथा जो स्वय अदृश्यरूप से नाना रूपो में प्रदर्शित है ।

सूफी के लिए ससार दैवी प्रदर्शन है ।[2] वह प्रेमी अलक्ष्य होते हुए भी अपने सौन्दर्य पर स्वय मुग्ध है अत उसने मुग्धतावश ही अपना रूप निहारने के लिए यह ठाठ रचा है । प्रभातोदय, सध्याकालीन मेघमालायें, हिमाच्छादित पर्वतशिखर, कलकल नादकारी प्रपात, तरगित सरिताएँ, अपार अथाह समुद्र, प्रकाशपुज दिवाकर, चन्द्रिकामय चाँद, रात्रि में तारो भरा निस्सीम गगन, नाना सुमनो की सुषमा से सज्जित कुसुमाकार एव विविध पशु-पक्षी आदि सभी उसके लिए अपार सौन्दर्यमयी विभूति का आभास देते हुए जान पडते है । सभी उसी सौन्दर्य पर मुग्ध, उसी की स्मृति में विकल एव उसी की खोज में चेष्टावान से दीख पडते है । यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि एक सूफी प्रकाश मे तो प्रकाश देखता ही है परन्तु अन्धकार मे भी प्रकाश देखता है । कहने का तात्पय यह है कि उसे प्रकृति-सौन्दर्य में तो ईश्वर

---

[1] 'There are four paths or stages that lead a person into spiritual knowledge from the limited to the unlimited —(*In an Eastern Rose Garden P 47*)

[2] 'The universe as a whole according to him is the product of God's sponteneous yet necessary activity of Self realisation or Self Manifestation' —(*The Mystical Philosophy of Muhiuddin Ibnul Arabi, P 24*)

की आभा दिखलाई देती ही है परन्तु प्रकृति के खण्ड स्वरूप में भी उसे भगवान् का प्रेमस्वरूप ही दीखता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सूफीमत में सौन्दर्य सत्ता के दो रूप हुए, एक मधुर दूसरा प्रचण्ड, एक जमाल दूसरा जलाल अथवा एक शिव दूसरा उग्र। उसके लिए सारी प्रकृति एक पुस्तक है, जिसका एक एक पृष्ठ प्रत्यक्ष भी अप्रत्यक्ष है स्पष्ट भी अस्पष्ट है, इसलिए कि यह दृष्टि डालता अवश्य है, परन्तु सर्वत्र रहस्य ही रहस्य दृष्टिगोचर होता है। असित शब्दावली दीप्तिमती होती हुई भी इतनी सूक्ष्मतः अस्मित है कि प्रकाश-पुंज के अतिरिक्त कुछ भी भान नहीं होता। दर्पण-सा पारदर्शक जगत् भी इस विभूति के कारण स्वच्छ होता हुआ भी इतना गुम्फित दीख पड़ता है कि उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और बुद्धि विस्मित हो जाती है। इसीलिए सारा विश्व उसके लिए रहस्यमय हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि एक सूफी को व्यापक दैवी सत्ता पर विश्वास लाना परम आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में विश्व-सत्ता ही नहीं रहती। विश्व-सत्ता नहीं तो आत्म-सत्ता भी नहीं और इस प्रकार सम्पूर्ण आध्यात्मिक भवन ही धराशायी हो जाता है। फिर कौन प्रेमी और कौन प्रियतम, कौन आराधक और कौन आराध्य? अतः ईश्वरीय सत्ता संसार-सत्ता का अनिवार्य कारण है। इस्लाम की शिक्षा ईश्वर में विश्वास, निर्णय का दिन तथा कर्त्तव्य इन तीन नियमों पर ही निर्भर है। कुरान में कहा है कि मुस्लिम हो या यहूदी, ईसाई हो या सैबियन, कोई भी क्यों न हो जो ईश्वर, निर्णय के दिन, एवं भलाई में विश्वास करता है उसे कोई भय नहीं तथा उसे अवश्य ही शुभ प्रतिफल मिलेगा।[1]

ईश्वर पर विश्वास लाकर मुस्लिम होता हुआ भी एक सूफी केवल मुस्लिम सम्प्रदाय का ही नहीं रहता। उसकी उदार आस्था हृदय को इतना विशाल बना देती है कि उसमें विश्व के लिए स्थान हो जाता है। जब सारी प्रकृति विविध रूपों में भरे लावण्य द्वारा उस लावण्यमयी सत्ता का आभास देती हुई उसके नेत्रों के समक्ष खड़ी है जिसमें उसका प्रियतम मोहक मौन आकृति से झाँकता-सा दीख पड़ता है तब उसे बाह्य भेद कैसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। वह तो यह जान चुका है कि सत्य एक है अतः ईश्वर भी एक है। यही कारण है कि वह उस मार्ग को अपनाता है जिस पर पग रखते ही उसे परमात्मा की सार्वभौमिक विद्यमानता का सचेतन भान होता है। उसके जीवन का परम लक्ष्य यथार्थता की चरमावस्था को जान लेना ही हो जाता है।

---

[1] "Lo! those who believe (in that which is revealed unto thee, Muhammad) and those who are Jews and Christians and Sabaeans whoever believeth in Allah and the Last day and do right surely their reward is with their Lord and there shall no fear come upon them neither shall they grieve"—(*The Glorious Quran* S 2 62)

जब नेत्र और श्रोत्र दोनों ही उसके रूप-मधु के पायी हैं तब द्वित्व का भान कहाँ ? सारा विश्व एक सूत्र में ग्रथित-सा जान पडता है। निज-पर का भाव भी विलीन हो जाता है अत चतुर्दिक देशों में एकदेशता, जातियों में एकजातीयता एव विविध मतो मे एकरूपता प्रतीत होने लगती हैं । विश्वबधुत्व का भाव उसके हृदय में जागृत हो जाता है। भूमि के भिन्न-भिन्न कोणो में हुए सभी देवदूत उसे एक ही बात कहते हुए सुनाई देते हैं। सूफियों के लिए कुरान धर्मनिष्ठों के अर्थों में वेद-वाक्य न रहा हो परन्तु वह भी यही कह रहा है कि ओ मुसलमानो ! 'कहो कि हम ईश्वर में विश्वास करते हैं तथा उसमे विश्वास करते हैं जो अब्राहम, इस्माईल मूसा, ईसा आदि सभी पैगम्बरो में प्रकट हुआ था, क्योंकि हम उनमें से किसी मे अन्तर नही देखते ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से जान पडता है कि सूफीमत का सारा ढाँचा ईश्वर पर ही आश्रित है, अत सर्वप्रथम ईश्वरीय स्वरूप को जानना ही उचित है।

कुरान के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्ता है।[2] वह एक है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य परमात्मा नही।[3] वह नित्य और सर्वशक्तिमान हैं। वही स्वच्छन्द होता हुआ भी दयालु है।[4] पथ-प्रदर्शक तथा सरंक्षक भी वही है। वह द्रष्टा, श्रोता एव साक्षी है और स्वत पूर्ण है।[5] वह सर्वत पर है और सर्वज्ञ है।[6] न उसका आदि है और न अन्त।[7] वही सर्वोच्च सत्ता है, जो अप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष है। विश्व का कण-कण उसी का प्रदर्शक एव उसी का परिचायक है। वह सर्वोत्कृष्ट है, समृद्धिवान् है, विजेता है और महान् है। ससार का सर्वोपरि हितकारी तथा श्रेष्ठ न्यायकारी भी वही है। सर्व पदार्थ उमी से उत्पन्न हुए हैं और अन्त में उसी को चले जायँगे।[8] वह सौंदर्य रूप है।[9] वह

---

1 "Say (O Muslims), We believe in Allah and that which is revealed unto us and that which was revealed unto Abraham, and Ismail, and Issac, and Jacob and the tribes and that which Moses and Jesus received, and that which the prophets received from their Lord We make no distinction between any of them and unto Him we have surrendered" —(*The Glorious Quran S 2 136*)

2 "Allah is the creator of all things and He is the One the Almighty" (*The Glorious Quran, S 13 16*)

3 "Allah there is no God save Him the Alive the Eternal"—(*The Glorious Quran, S 3, 2*)

4 "Allah is Absolute Clement —(*The Glorious Quran, S 2, 263*)

5 "Allah is Hearer, Knower —(*The Glorious Quran, S 2, 224*)

6 "Allah is All embracing All knowing —(*The Glorious Quran, S 2, 261*)

[illegible] *Glorious Quran, S 57, 3*)

[illegible] heaven and whatsoever [illegible] returned' —(*The Glorious* [illegible]

9 "Allah is of infinite beauty"—(*The Glorious Quran, S 62, 4*)

दंड[1] में कठोर है परन्तु जो उसमें विश्वास करते हैं और सन्मार्ग पर चलते हैं वे आनन्द का उपभोग करते हैं।[2]

उपरिलिखित गुणों के अतिरिक्त ईश्वर के और भी अनेक गुण कुरान में लिखे हैं। यद्यपि सूफीमत की आस्था का मूलतः आधार कुरान में प्रतिपादित ईश्वर ही था, तथापि स्वतन्त्र चिन्तन एवं बाह्य प्रभाव ने उसे भिन्न ही रूप दे दिया। पूर्व विवरण से ज्ञात होता है कि कुरान का ईश्वर सगुण है। कुरान में जो उसके सिंहासन का वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि वह एक स्वर्णासीन सर्वोपरि शासक है। उसकी समृद्धि और वैभव अपरिमित है। उसकी एक भृकुटि सृष्टि का संहार कर सकती है और प्रसाद की एक कोर ध्वंसों पर प्रासादों का कारण बन सकती है। ज्ञात होता है कि वह एक ऐसा नटवर है जिसकी इच्छा-मात्र से उत्पन्न हुई सृष्टि-नटी सदैव जिसके संकेत पर नृत्य करती रहती है एवं ऐसा सूत्रधार है जो एक स्थान पर आसीन हुआ भी समस्त ब्रह्माण्ड की पुतलियों की भाँति नचाता रहता है। अनेक देव सदैव जिसकी आज्ञा में खड़े रहते हैं तथा जो स्वयं संसार में न आकर समय-समय पर देवदूतों को भेजा करता है।

इस्लाम में ईश्वर के इन सब गुणों को आत्म-तत्त्व के साथ नित्य माना गया है।[3] सूफियों ने ईश्वर को रम्यातिरम्य प्रियतम मानते हुए भी कुरान की भाँति साकार-सा नहीं माना, क्योंकि वह किसी निश्चित स्थान पर स्थित न हुआ मन-मन्दिर में ही राजित है। वह चर्मचक्षुओं का विषय नहीं वरन् अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रकाश रूप से अनुभूत होता है। सूफी ईश्वर के गुण और नामों को पर्यायवाची नहीं मानते क्योंकि गुण स्वाभाविक होते हैं और नाम वाचक तथा काम भी व्यक्तित्व से ही सम्बन्ध रखते हैं।[4] जिली ने उसके गुणों को चार भागों में विभक्त किया है, (१) भाव-गुण, यथा—एक, नित्य और सत्य, (२) सौन्दर्य गुण (जमाल) यथा—क्षमाशील, ज्ञाता और पथ-प्रदर्शक, (३) गौरव-गुण (जलाल) यथा—सर्वशक्तिमान, दण्डप्रदाता, (४) पूर्णता-गुण (कमाल) यथा—महान्, अनादि, अनन्त एवं विभु।[5]

... n, S 3, 11)
... and bliss (their)
... eternal, added
...)
... es descriptive,
... t of the being
... tal Mysticism,
... 23)

5 "Jili makes fourfold division of the Divine Attributes —(1) attributes of the Essence e g One, Eternal, Real; (2) attributes of Beauty (jamal) e g forgiving Knowing, guiding aright, (3) attributes of Majesty (jalal), e g Almighty, Avenging Leading astray, (4) attributes of Perfection (Kamal), e g Exalted, Wise, First and Last, Outward and Inward "—(*Studies in Islamic Mysticism, P. 100*)

परमात्मा का स्वरूप मानवीय विचार से परे है क्योंकि वह बुद्धिगम्य नही। वह तो प्रेम और तल्लीनता द्वारा ही वेद्य है और इन गुणो को भी वही देता है। वास्तव में ईश्वर अनुपम है क्योंकि उसका स्वरूप बुद्धि एव रसना का विषय नही है। यदि उसे विचित्र कहें तो अनुचित न होगा। वह निकटतम है फिर भी पृथक् है एव दृश्य भी अदृश्य है। सहस्रों ने उसे जाना है परन्तु पहचाना थोड़ो ने है। वह मुखर भी मौन है, प्रसन्न भी विपन्न है, धनाढ्य भी निर्धन है और राजा भी रंक है। पतितो का पाता और दलितो का उद्धारक है तो अभिमानियो का मानमर्दक और आततायियों का अभिभावक है। कहने का तात्पर्य है कि जब संसार उसी प्रकाश-पुंज की एक रश्मि का प्रतिविम्ब है तब वही सर्वत्र है। उसके अतिरिक्त है ही क्या? शिब्ली ने कहा कि मै परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नही देखता हूँ।[1] मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी ने भी यही कहा है कि ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नही है।[2] दृश्य जगत् तो स्वप्न एवं छाया के तुल्य है अत: ज्ञानी इससे भ्रमित नही होते।[3]

सारा विश्व उसी का प्रदर्शन होने के कारण ईश्वर एक भी है और अनेक भी। वही सत्य है और विश्व का सार है अत एक है तथा नाना रूपो में प्रदर्शित वही अनेक है। सूफीमत में एकत्व से तात्पर्य दो पदार्थों के मिश्रण रूप ईश्वर और जीव का मिलन नही वरन् अद्वैत की भावना से है जिसमें 'मैं' और 'तू' में कोई अन्तर नही रहता। कुरान का यह सिद्धान्त कि 'केवल एक ही ईश्वर है' सूफियो के हाथ में आकर इस प्रकार बन गया कि 'केवल ईश्वर ही वास्तविक है और कुछ नही'। अत: वही एक सर्वत्र और सर्वरूप है। कुरान में भी ईश्वर को सत्य[4], द्यावापृथ्वी की ज्योति[5] एव व्यापक सर्वोच्च सत्ता[6] कहा गया है।

परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए कि वह मूल शक्ति है, व्यापक होते हुए भी सूक्ष्म है, अज और अकारण है तथा स्वयसिद्ध है। वह एक अदृश्य और अपूर्व खजाना है जो इस विश्व में बिखरा पड़ा है क्योंकि विश्व उसी की पूर्णता का प्रदर्शन है। अच्छाई की सत्ता है क्योंकि ईश्वर स्वय अच्छाई है। वह प्रकाश रूप है अत सुन्दरतम है। विश्व का सौन्दर्य भी उसी का सौन्दर्य है।

---

[1] Shibli says: 'I never see anything but God'—(*Outlines of Islamic Culture, P. 503.*)

[2] "There is nothing but God, nothing in Essence other than He." (*The Mystical Philosophy of Muhiuddin Ibnul Arabi, Page 55*)

[3] "It is as dreams when one sleepeth, or a fleeting shadow, The wise are not deluded by such as these.'—(*Al Ghazzali the Mystic, P 156.*)

[4] "He is the Truth."—(*The Glorious Quran, S 12, 6*)

[5] "Allah is the Light of the heavens and the earth"—(*The Glorious Quran, S. 24, 35*)

[6] "Lo! Allah is All-Embracing"—(*The Glorious Quran, S. 2, 115*)

इस ईश्वर को अभेद रूप से जानना ही सूफी का लक्ष्य है। आत्मा और परमात्मा में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। जिली ने कहा है कि हम एक ही के आत्मा हैं यद्यपि दो शरीरों में रहते हैं।[1] वास्तव में जुनैद के अनुसार ऐक्य का पूर्णता का अनुसन्धान उसी में होना है जो न जनक है और न जन्य।[2] सम्पूर्ण प्रकृति भी हमें ऐक्य का ही पाठ पढ़ा रही है। प्रश्न उठता है कि जब वही है, तब कर्त्ता-कर्म पुण्य पाप आदि में भेद क्यों? इसका यही उत्तर है कि उसकी इच्छा ही चेष्टा का कारण है। भलाई यदि उसका रूप है तो बुराई उसका अभाव यथा तमस प्रकाश का। अत्तार का कथन है कि पाप असत् है क्योंकि सब कुछ ईश्वर से ही आता है।[3] इस प्रकार ऐक्य की भावना से आनप्रोत सूफी-हृदय आत्म-स्रोत की गवेषणा में निमग्न होता है। वह अपने में ही अपने को खोजता है। प्रारम्भ में वह बुद्धि से कार्य अवश्य लेता है परन्तु उसे सचाई की खोज में असमर्थ और केवल मार्ग प्रदर्शिका ही जानकर त्याग देता है और परमात्मा के द्वारा ही परमात्मा को जानने में सफल होता है।[4]

यह पहले कहा जा चुका है ईश्वर ने ही सृष्टि का सृजन किया। कुरान के अनुसार ईश्वर ने 'कुन' (होजा) शब्द मात्र से विश्व का निर्माण किया था।[5] इसमें ईश्वर की इच्छा का प्राधान्य था। सृष्टि पूर्व से ही उसके ज्ञान में विद्यमान थी। आदिम सूफियों ने इसकी उत्पत्ति ईश्वरीय प्रकाश से मानी थी।[6] अधिकांश सूफी तथा एकेश्वरवादी विश्वोत्पत्ति के चार कारण मानते हैं, उनमें प्रथम ईश्वर का स्वभाव है दूसरा निर्माणकर्तृ आत्मा तीसरा अदृश्य जगत् और चौथा सचेतन संसार है। यह सिद्धान्त कुरान और हदीस के विरुद्ध है। एकेश्वरवादी इन कारणों में पूर्वापरता नहीं मानते, क्योंकि अभाव का भाव नहीं हो सकता परन्तु सूफी लोगों का विश्वास है कि ये सहवर्ती नहीं वरन् क्रमशः होते हैं।[7]

सृष्टि के विषय में अनेक मत हैं। अद्वैत में द्वैत को स्थान नहीं है मत

---

[1] ... dwell in two bodies —(The ...

[2] ... unity must investigate the ... which neither begets nor is be... ...2 P 458 48)

[3] Evil is non existent because all comes from God —(The Persian Mystics Attar P 21)

[4] ... D) says — you will know ... ...ic Culture Vol 2 P 401) ... with a thing. He saith unto ... 47)

[5] ...

[6] Creation asserts Qadiri Sufi Saint derives its existence from the radience of God —(Islamic Sufism P 31)

[7] The Sufis maintain that these four sources have a precedence the one over the other both of time and place —(Oriental Mysticism P 40)

सिद्धान्ततः सृष्टि की सत्ता मानते हुए भी उसे स्वप्नवत् माना गया है। हल्लाज का कहना है कि सृष्टि से पूर्व ईश्वर स्वयं को ही प्यार करता था और इसी प्रेम के कारण उसने अपने लिए अपने को प्रकट किया।[1] अत्तार भी सृष्टि की पृथक् सत्ता नही मानता। दृश्य जगत् उस विभूति की खोज का साधन मात्र है।[2] अधिकाश सूफियों का कथन है कि निखिल विश्व उसी का प्रदर्शन है। वही अपने महान् सौन्दर्य में अदृश्य भी दृश्यमान् है। वास्तव में विश्व ईश्वर का एक स्वच्छ दर्पण है। परन्तु रूमी के अनुसार यह उसे ही ज्ञात होता है जिसकी आँखों पर से आवरण हट गया है और अनुराग ने मार्जन कर जिसकी अन्तर्दृष्टि को पारदर्शी बना दिया है।[3]

परमात्मा ने सर्वप्रथम सृष्टि में आदम को बनाया। वह उसी का प्रतिरूप था जिसमें उसने अपनी आत्मा को डाला था।[4] कुरान में भी ऐसा ही कहा गया है।[5] परमात्मा शाश्वत सौन्दर्य है और सौन्दर्य का स्वभाव स्वयं प्रकाशित होना एवं प्रेम का विषय बनना है। इस प्रकार सूफी लोग अपने सिद्धान्त को प्रेम पर आधारित करते हैं। प्रेम का ही परिणाम है कि ईश्वर मानवीय साकार रूप में आया।

मानवीय आत्मा का विवेचन सूफीमत में कुछ अस्पष्ट-सा है। इब्नुल अरबी सर्वप्रथम सूफी था जिसने मनुष्यता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था।[6] इससे पूर्व हल्लाज ने इस परम्परा को कि ईश्वर ने आदम को अपने प्रतिरूप बनाया था, इस प्रकार व्याख्यात किया था कि परमात्मा ने आदम में स्वयं को प्रदर्शित किया था जो दैवी और मानवीय दोनों प्रकृतियों का आदर्श था।[7] वह नासूत (मानवीय प्रकृति) को लाहूत (ईश्वरीय प्रकृति) से किसी प्रकार भिन्न मानता है।[8] यद्यपि रहस्यरूप में ये सयुक्त है, तथापि एकरूप नही है। सपृक्तावस्था में भी व्यक्तित्व पृथक् ही

---

1 "[illegible] is Love Before the [illegible] d through love reve[illegible] of Religion an Ethic[illegible]

2 "[illegible] ans whereby we may [illegible]")

3 "The world is God's pure mirror clear,
To eyes when free from clouds within"—(*The Persian Mystics, Jalal-uddin Rumi, P 63*)

4 "This divine image is Adam in and by whom God is made manifest."—(*Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol 12 P 14 15*)

5 "I have breathed into him of My Spirit"—(*The Glorious Quran, 15 29*)

6 "Ibnul Arabi was by no means the first Sufi to present us with a [th]eory of the human soul"—(*The Mystical Philosophy of Muhiuddin Ibnul Arabi, Page 120*)

7 *The Idea of Personality in Sufism, Page 59 60*

8 "Hallaj however, distinguishes the human nature (nasut) from the Divine (Lahut)"—(*Studies in Islamic Mysticism, P. 80*)

रहता है, यथा नीर-क्षीर के द्रव्य अभेद में भी भेद विद्यमान है । हल्लाज के पश्चात् बसरी एवं जिली ने उसके सिद्धान्त को आधार अवश्य बनाया परन्तु भेद का लोप हो गया। आदम का स्थान मुहम्मद साहब ने ले लिया परन्तु वह आदर्श पुरुष ही समझे गये । मान्य सूफी अल गजाली का कहना है कि ईश्वर ने ही सब कुछ प्रदर्शित किया है अतः दृश्य द्रष्टा से पृथक् नहीं किया जा सकता।[1]

पहले कहा जा चुका है कि भारतीय अद्वैत ने सूफीमत पर जो प्रभाव डाला था उसी के कारण ईश्वर, जीव, जगत सबका भेद मिट गया । परन्तु यथा अद्वैत में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का स्पष्टतः निषेध है, सूफीमत में हमें वैसा प्रतीत नहीं होता।[2] सूफीमत में तो प्रेम-साधना है । प्रेमी प्रेम से प्रेम को जगाता है और प्रियतम को भी प्रेमी बनाकर एकरसता ग्रहण करता है। यदि ईश्वरेतर व्यक्तित्व का पूर्णतः अभाव हो जाय तो माधुर्य और मादक भाव ही न रहें और साधना का आधार नष्ट हो जाय। *यही कारण है कि अद्वैतमत की व्याख्या* असन्दिग्ध है और सूफीमत में अद्वैतमत की विद्यमानताएँ भी द्वैत का-सा प्रतिपादन है तथा अद्वैत में पाप पुण्य की आधारशिला पर सदा अध्यात्म और शान्त निवृत्ति-मार्ग स्पष्टतः व्याख्यात हुआ मिलता है जब कि सूफीमत में हम पाप-पुण्य के अनेक किन्तु सदिग्ध समाधान और शान्तता के स्थान पर विह्वलता पाते हैं। उमरखय्याम का कहना है कि प्रणयी को समस्त दिन प्रणय में ही मतवाला रहना चाहिए, उसे उन्मत्त और विकल होकर भटकते रहना चाहिए।[3] हाफ़िज भी कहता है कि ऐ सुन्दरी प्रियतमे! तेरे प्राणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि प्रत्येक अँधेरी रात को मैं इसी विचार में निमग्न रहता हूँ कि तेरे दीपक के समान रूप पर पतंग बनकर न्योछावर हो जाऊँ।[4] सभी सूफी साधकों में यही विकलता कहीं रुलाती, कहीं हँसाती, कहीं तड़पाती, कहीं

---

[1] 'Again, he writes that God is 'with' every thing at all times and by and through Him all things are manifested, and the Manifested cannot be separated from what is manifested. —(*Al Ghazali The Mystic*, P 235-236)

[2] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" । छान्दोग्योपनिषद्, ३, १४, १ ।
"नास्ति द्वैतम्" । छान्दोग्योपनिषद्, ६, २, १ ।
"एकमेव सत्" । बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ४, १६ ।
"अहम् ब्रह्मास्मि" । बृहदारण्यकोपनिषद्, १, ४, १० ।

[3] आशिक हमा रोजा मस्तो शैदा बादा ।
दीवान श्रो शोरीदश्रो रसवा बादा ॥—ईरान के सूफी कवि, पृ० ५१-५२ ।

[4] बजानत ऐ बुते शीरीनें मनकि हमचु शमा ।
शबाने तीरा मरा द मेफ़नाये सोंसतनस्त ॥—ईरान के सूफी कवि, पृ० ३२२ ।

गववाती और कहीं नचवाती दीखती है। जब प्रणयी में व्याकुलता का इतना प्राचुर्य है और यही नही प्रियतम भी प्रिय से मिलने को विकल है तब एकरूपता कहाँ? इसी लिए हल्लाज ने सम्मिलन में भी व्यक्तित्व का भेद माना है। यद्यपि अरबी आदि ने अद्वैत का पुट दे इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न अवश्य किया है तथापि स्पष्टता आने नही पाई है।

कुरान में मानवीय आत्मा को ईश्वर से सम्बन्धित बतलाया गया है। वह सर्वोपरि है।[1] उसके उद्गम की अनेक स्थितियाँ बतलाई गई हैं। अनेक आदिम सूफियों ने उन्हें माना है। परन्तु सिद्धान्ततः मान्य सूफी उन्हें अंगीकृत नही करते क्योंकि इससे अद्वैत की स्थापना नही हो सकती। हाँ, विकास की स्थितियाँ सूफियों ने अवश्य मानी हैं। कुरान में वर्णित पुनर्जन्म के अभाव को सूफियो ने माना है।[2] कुरान के अनुसार निधन के उपरान्त सभी आत्माएँ निर्णय के दिन की प्रतीक्षा करेंगी। उस दिन सभी अपने भले-बुरे कर्मों का निर्णय सुनेंगे और कोई किसी का सहायक न होगा। सभी के समक्ष उनके सत्-असत् कर्मों का लेखा स्पष्ट होगा।[3] परन्तु उससे पूर्व किसी को ज्ञात नही कि उसे क्या मिलेगा निर्णय के पश्चात् ईश्वर के प्यारों को स्वर्ग मिलेगा।

सूफीमत के अनुसार इसकी व्याख्या इससे भिन्न है। उनका कहना है कि मृत्यु के पश्चात् का जीवन इस जीवन की गुप्त वास्तविकताओं को प्रकाश में लाना और उनको अविराम रखना है। पाप-पुण्य वास्तव में कुछ नही अतः स्वर्ग और नरक भी अभाव रूप है। शिब्ली के अनुसार नरक ईश्वर से पृथकता है और स्वर्ग समीपता अतः निधनोपरान्त का जीवन वास्तव में हमारी आध्यात्मिक स्थिति की प्रतिकृति है।[4] मनुष्य ईश्वरीय अंश होते हुए भी अपने पाशविक रूप में अधोगति की ओर चला जाता है। बस यही नारकीय रूप का आधार है। वास्तव में ईश्वर का सिंहासनारूढ़ होना और निर्णय के दिन अन्तिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल मिलना सूफियों को मान्य नही। क्योंकि मनुष्य का हृदय ही ईश्वर का सिंहासन है

---

[1] "Surely We created man of the best stature."—(*The Glorious Quran, S. 95, 4.*)

[2] "The Doctrine of transmigration was not, however, accepted by the Sufi Mystics, who held that it was an abomination to all Muslims"—(*Islamic Sufism, Page 30*)

[3] "And every man's augury have We fastened to his own neck, and We shall bring forth for him on the day of Resurrection a book which he will find wide open."—(*The Glorious Quran, S. 17, 13*)

[4] "Hell, according to the celebrated Sufi Shibli, is separation from God and heaven nearness to Him."—(*Outlines of Islamic Culture, Vol. ° P. 491*)

वन्दना के लिए इब्लीस का निषेध भी ईश्वरीय आज्ञा के अनुकूल ही था। वह तो आज्ञापालक न होकर आज्ञापालक था अतः ईश्वर का परम भक्त था। वे तो इब्लीस को पापप्रणिधि मानते हुए भी निजत्व का परिचायक मानते हैं, क्योंकि पाप अभावरूप है और अभाव भाव की प्रतिच्छाया है। ठीक भी है अन्धकार के आभास में भी प्रकाश की सत्ता है।

फरिश्तों के अतिरिक्त सूफी भूत, पिशाच और जिनों की सत्ता पर भी विश्वास करते हैं। परन्तु वह उन्हें निकृष्ट बल-प्रयोग में लीन शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। इन्हीं पैशाचिक प्राणियों ने ईश्वर के मतवाले सूफियों में भी चमत्कार-प्रदर्शन की भावना को जागृत कर दिया था। यहाँ तक कि परम प्रेमी हल्लाज भी चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध था और इन चमत्कारों के कारण ही कोई उसे ऐन्द्रजालिक, कोई चमत्कारकर्त्ता और कोई प्रपंची कहता था।[1] सूफी सन्तों के चमत्कारों की अनेक कहानियाँ ख्यातिप्राप्त हैं। परन्तु सूफियों ने अध्यात्म की दृष्टि से जादू-टोने एवं झाड़-फूंक आदि को कभी गौरव न दिया। अबू याजीद के पास एक बार एक मनुष्य आया और बोला कि आप उड़ सकते हैं।[2] उसने उत्तर दिया, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है? एक पक्षी भी जो शव का भक्षण कर जाता है, उड़ सकता है, फिर श्रद्धालु पुरुष तो पक्षी से कहीं अधिक सम्माननीय हैं।"

पीर-फकीरों एवं उनकी वाणी की जो प्रतिष्ठा हम सूफियों में पाते हैं वह मुहम्मद साहब और कुरान की प्रतिष्ठा से कम नहीं।[3] सूफी अपने गुरु को संसार में सबसे अधिक प्रेम करते हैं। उनके अनुसार जो ईश्वरीय प्रकाश दूतों में प्रकाशित होता है, वही पूर्ण पुरुषों एवं महात्माओं में भी। और फिर उनका विश्वास है कि ईश्वर का प्रेमी प्रकाश पाकर एवं उन्हीं के मध्य रहकर जो उपकार कर सकता है वह अनुपम है। एक पूर्ण पुरुष वही है जिसने दैवी सत्ता के साथ अपने वास्तविक अभेद को पूर्णतः जान लिया है क्योंकि 'वह' वह नहीं वरन् ईश्वर का प्रतिरूप है। इस प्रकार पैगम्बरों के अतिरिक्त सन्त औलिया भी पूर्ण पुरुष की कोटि में आते हैं क्योंकि वली (औलिया का एक वचन) का अर्थ भी मूलतः ईश्वर का मित्र या भक्त है।[4] औलियों के

---

1 "Men differ concerning him some regarding him as a magician, others as a saint to work wonders and others as an imposter."—(A Literary History of Persia P. 431/35)

2 Idem Ibr 'Aytac P. 31-32

3 "He must love his Pir more than anything else in this world"—(Outlines of Islamic Culture, Vol 2, P. 470)

...uses not only the pro-
...relatively elect amongst
...iya, plural of Wali, a
...or 'friend', 'protege', or

अतिरिक्त शेख होते हैं जो सन्यस्त जीवन व्यतीत करते थे। सूफियों के अध्यात्म-निर्माता ये ही औलिया एवं शेख (पीर) थे। वास्तव में एक सूफी को इस भ्रमपूर्ण ससार में मार्ग प्रदर्शन के लिए जो आश्रय अपने गुरु का है वह अन्य का नहीं। जामी ने कहा है कि ऐ मेरे पथ-प्रदर्शक! यदि आज ससार में मेरा कोई शुभेच्छु अथवा उत्तम पथ पर चलाने वाला है तो वह केवल आप ही हैं।[1]

गुरु के नेतृत्व में सर्वप्रथम एक सूफी को आचार का आदर्श ऊँचा करना पड़ता है। आत्मा निसर्गत ईश्वरीय अंश होती हुई भी विषयों में लिप्त हुई पथ-भ्रष्ट हो जाती है। 'मैं उसी प्रकाशपुंज का अंश हूँ' इसका मर्म जानकर अभेद पा लेना बड़ा दुष्कर है। मन को एकाग्र कर सत्पथ पर लिए जाना दृढ आस्था और यथार्थता के परिचय के बिना नहीं हो सकता। सत्य से परिचय प्राप्त करने के लिए आत्मशुद्धि अनिवार्य है। इस्लाम में आत्मशुद्धि के लिए पंच कर्त्तव्यों का विधान था। तौहीद (एक ईश्वर पर विश्वास), सलात (प्रार्थना), रोजा (उपवास), जकात (दान) और हज (काबे की यात्रा) ये पंच स्तम्भ माने गये। इस्लाम का सारा ढाँचा ही ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर विश्व का स्रष्टा, शास्ता और उद्धारक है। उसके प्रति मनुष्य को भक्तिमान होना चाहिए इसीलिए प्रतिदिन पंचकालिक नमाज का विधान किया गया है। कुरान रूप दैवी गिरा रमजान मास में मुहम्मद साहब में अवतरित हुई थी अत उस पवित्र मास में उपवास का विधान हुआ। ईश्वर के नाम पर स्वीय अंश में से किंचित प्रदान करना एवं वर्ष में एक बार मक्का की यात्रा करना भी अनिवार्य कर्तव्य बना दिये गये।

सूफियों ने कुरान के तौहीद सिद्धान्त अर्थात एकेश्वरवाद का ग्रहण किया परन्तु उसे 'हमहतुल वजूद' रूप में व्याख्यात किया अर्थात् सब सत्ता एक है और वह ईश्वरीय है। वह ईश्वर हम से भिन्न नहीं है अत प्रेम-पात्र है। इस प्रकार इस्लाम का शास्ता इनका प्रियतम बना और भय प्रेम में परिणत हो गया।

ईश्वर की जिस पंचकालिक प्रार्थना का इस्लाम में विधान था, सूफियों ने उसे उस रूप में ग्रहण न किया। उनका विश्वास था कि उनका ईश्वर तो सर्वत्र विद्यमान है। वह किसी निश्चित स्थान पर ही नहीं वरन् विश्व का अणु अणु उसी का साकार प्रदर्शन है। उसका मन्दिर हमारा हृदय ही है। यदि गवेषित किया जाय तो हम उसे अन्त करण में ही पा सकते हैं।

सच्चा प्रेम ही ईश्वर का साक्षात्कार करा सकता है।[2] प्रेम तो प्रतिक्षण

---

[1] गुफ्तमश ऐ खिज्रे मसीहा नफस।
खिज्रो मसीहा तुई इमरोज़ व बस्त। —ईरान के सूफी कवि, पृ० २८५।

[2] Among the signs of love, says Abu Talib, 'is the desire to meet with the Beloved face to face.'—(*Studies in Early Mysticism in the Near and Middle East*, Page 205)

सर्वदर्शीय एवं सर्वव्यापी है फिर निश्चित भागों में ही प्रार्थनायें क्यों ? इसका समाधान इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि प्रतिक्षण उसका भजन और चिन्तन किया जाय। जो प्रभु विभु है उसकी प्रार्थना के लिए काबे की ओर ही मुख किया जाय यह भी उन्हें बाह्याचार से अधिक मूल्यवान् प्रतीत न हुआ। मसार ने कहा है कि अच्छा हो मैं रुग्ण हो जाऊँ जिससे मुझे सम्मिलित प्रार्थनाओं में न जाना पड़े, क्योंकि मुझे तो एकान्त में ही शान्ति और आनन्द मिलते हैं।[1] वास्तव में प्रार्थना आत्म-स्तर को ऊँचा करने के लिए होती है जिससे हम उत्तरोत्तर ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करते जायें। गज़ाली के अनुसार हम ईश्वर की प्रार्थना इसलिए करते हैं कि वह हमें उनमें स्थित करदे जिनको उसने श्रेष्ठ माना है, जिनको उसने सन्मार्ग दिखाया है, जिनको उसने चिन्तन के लिये प्रेरित किया है ताकि वे उसे भूल न जायें और जिनको उसने दैहिक बुराइयों से सुरक्षित रखा है जिससे वे उसे सर्वोपरि गिनें तथा जिनको उसने अपना भक्ति-परायण बना दिया है इसलिए कि वे उससे भिन्न किसी अन्य की आराधना न करें।[2]

इस्लाम में रमज़ान के मास की बड़ी महत्ता है। अन्तिम रसूल में ईश्वरीय प्रेरणा इसी मास में विश्व के उद्धारार्थ आई थी। अतः पवित्र होने के कारण इस मास में उपवास (रोज़ा) रखना परम आवश्यक बन गया। दिन में उपवास किया जाता है और सूर्यास्त के पश्चात् खोला जाता है। यह मास वर्ष में एक बार ही आता है, जिसका कोई निश्चित काल नहीं। इसमें दिन का जितना महत्त्व है, रात्रि का नहीं। दिन में सब प्रकार के संयम का आदेश है परन्तु रात्रि में इन्द्रिय विषयों का उपभोग विशेषतः निषिद्ध नहीं माना गया है। सूफ़ियों को स्वच्छन्द वृत्ति के कारण इस बन्धन में बंधना तो स्वीकृत न हुआ परन्तु उन्होंने आत्म-मार्जन के लिए उपवास को अवश्य अपनाया। इसमें अपनाना क्या था, प्रेमी का भूख-प्यास का ध्यान ही कहाँ रहता है ? उसे मादकता में विकलता होते हुए भी चैन मिलता है। प्रेम की भूख पेट की भूख मिटा देती है। अतः उसके उपवास तो स्वयं हो जाया करते हैं। अपने प्रिय की

---

[1] "I would that I were ill, so that I need not attend congregational prayers, for there is safety in solitude"—(*A literary History of Persia*, P. 425)

[2] ... amongst those whom He ... h guided, and led to the ... Him so that they forget ... evil of the flesh so that ... hath devoted to Himself ... *of Personality in Sufism*, ...

तल्लीनता के लिए सदैव की तरह उदर-पूर्ति बाधक हुआ करती है। इसीलिए अबू याजीद अल विस्तामी ने कहा था कि ईश्वर का वास्तविक ज्ञान मुझे भूखे उदर और नग्न कलेवर के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिला है।[1] वियोग की तपन में उपवास सहचर का कार्य देता है अत इसको इतना महत्त्व मिला है कि सूफियो ने इसे सूफीमत का अग ही बना दिया। जुनैद ने जहाँ सूफीमत को ससार से सम्बन्ध-विच्छेद बतलाया वहाँ उपवास को भी इसका अग माना।[2]

इनके अतिरिक्त इस्लाम में जकात (दान) का भी विधान था। कुरान में लिखा है कि तुम जो कुछ ईश्वर के मार्ग में व्यय करते हो, वह तुम्हें सलाभ प्राप्त होगा।[3] इससे सूफियो ने उत्सर्ग का पाठ पढा। भला प्रियतम के लिए क्या अदेय है? जब उसके लिए प्राण भी नगण्य है तब द्रव्य का मूल्य ही क्या? उन्होंने अपने प्यारे ईश्वर के लिए सर्वस्व ही समर्पित कर दिया। यही नही सूफीमत का लक्षण ही ससार-त्याग माना गया। सूफी तो 'मैं' को भी हेय जानते और उसे अपने परम प्रिय 'तू' ही में मिटा देना चाहते हैं। दान की भावना ने जहाँ निर्धन मुसलमानो को धनियो के समीप ला दिया था वहाँ सूफियो के त्याग ने विश्व को ही उनके पास ला दिया। यही नही ईश्वर भी उनका सामीप्य चाहने लगा।

पच स्तम्भो में हज का बडा महत्त्व था। प्रति वर्ष एक बार पैदल या ऊँट पर यात्रा कर मक्का जाना प्रत्येक मुस्लिम का कर्तव्य था।[4] वहाँ काबा में सगेअसवद का चुम्बन करना पडता था। यदि किसी प्रकार बलात् रुकना पडे तो कुछ सुलभ उपहार भेजने अनिवार्य थे।[5] प्रत्येक मुस्लिम के लिए भला यह कैसे सम्भव हो सकता था। निर्धनो के लिए यह एक गुरुतम भार था। सूफियो को यह विधान आडम्बरपूर्ण दृष्टि-गोचर हुआ। जो ईश्वर सर्वत्र है, उसके प्रसादार्थ मक्का जाने की आवश्यकता ही क्या? उन्हें यह विचार इतना सारहीन ज्ञात हुआ कि मक्का जाना उन्मार्गगमन-सा दीख पडा। अबू सईद ने कहा है[6] कि यदि ईश्वर किसी के समक्ष मक्का का मार्ग

---

1 "The Persian Sufi Abu Yazid al Bistami declared "I have not found the true knowledge of God except in a hungry stomach and a naked body.'—(*Studies in Early Mysticism in the Near and Middle East*, Page 162).

leave

o you

unto

रखता है तो समझिये वह मनुष्य सत्योन्मुख मार्ग से दूर फेंक दिया गया है । ईश्वर का पूर्ण वैभव तो हृदय में ही दृष्टव्य है । अत उसकी प्राप्ति के लिए आत्मा हृदय में ही यात्रा करती और वही उसका साक्षात्कार करती है । अबू याजीद कहता है कि प्रथम यात्रा पर मैंने केवल मन्दिर को देखा, द्वितीय बार मन्दिर और ईश्वर दृष्टिगोचर हुए और तृतीय बार केवल ईश्वर का ही साक्षात्कार हुआ ।[1]

यद्यपि सूफी भाव के ही भूखे है और मन-मन्दिर में ही अपनी गुप्त निधि की गवेषणा करते है तथापि उनकी दृष्टि में मजार, रोजा, और दरगाह आदि की प्रतिष्ठा काबा या मुहम्मद साहब की कब्र की प्रतिष्ठा से कोई कम नही । उनके लिए उनक पीर परम प्रतिष्ठा का पात्र होता है अत वे इसकी समाधि को भी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते है । भाव-पूजा से प्रेरित होकर वे समाधि पर दीप जलाते, धूप देत और पुष्प चढाते तथा भावावेश मे आकर वन्दना भी करते है । परन्तु यह वे प्रतिष्ठावश ही करते है, लक्ष्य की सिद्धि के हेतु नही ।

उपरिलिखित विश्वासों के अतिरिक्त सूफियो के कुछ सदाचरण के नियम भी है, जिनके पालने से आत्मा अग्नि में तपे स्वर्ण की भाँति खरी हो जाती है । सदाचार से आत्मगुणों की अभिव्यक्ति होती है और उनसे हृदय मँजकर दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है जिसमें यथार्थ स्पष्टत प्रतिबिम्बित होता है । अबू याजीद अल बिस्तामी ने दानवी प्रेरणाओ से हीन हृदय को दोषो के लिए उस भवन के समान बतलाया है जिसके पास से तस्कर निकले चले जाते हैं ।[2]

हम पहले कह आए है कि एक सूफी के लिए त्याग का बडा महत्त्व है । उसने ससार को तुच्छ जान उस मार्ग पर चरण रखे है जिस पर प्रयाण कर वह अपने प्रियतम से एकरूपता प्राप्त करना चाहता है । वह प्रेम की मदिरा पी चुका है अत उस उन्माद में अब उसे अपने प्रिय के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता । वास्तव में अबू अब्दअल्लाह अल कुरेशी के अनुसार प्रेम का प्रयोजन ही यह है कि अपने प्रियतम को सर्वस्व समर्पित कर दिया जाय, जिससे अपने पास अपना कुछ भी अवशिष्ट न रहे ।[3] इसीलिए सूफियो की निर्धनता में बडी आस्था है । अल हुजविरी[4]

---

1 Abu Yazid says On my first pilgrima_e I saw only the temple the second time I saw both the temple and the Lord of the Temple, and the third time I saw the Lord alone' —(The Sufi Quarterly, September 192[illegible] Part I Edition 2 Page 115)

[illegible] o a house by

[illegible] m host to Him thine own —

[illegible] ler, will have f truth —

। निर्धनता को सत्य के मार्ग में एक ऊँचा पद बतलाया है।

त्याग आत्म-समर्पण की भावना उत्पन्न करता है। एक सूफी की दृष्टि में ईश्वर ही उसका आराध्य है अतः वह पूर्णत. उसी पर अपने को आश्रित कर देता है। वह उसी के प्रेम का भिक्षुक है तथा उसी के द्वार का प्रतीक्षक और उसी की कृपा-कोर का इच्छुक है। उसका उठना-बैठना, सोना-जागना, रोना-हँसना सब उसी के निमित्त है। संसार में उसका कुछ नही है, वह तो अपना सर्वस्व उसी के चरणो में चढ़ा चुका है। आत्म-समर्पक को विनीत एवं आज्ञापालक होना अनिवार्य है। जिस मुरशिद (गुरु) ने उसे पथ प्रदर्शित किया है और प्रियतम के भवन का राजपथ बता दिया है, उसके प्रति विनम्र होना सूफी का प्रथम कर्तव्य है। प्राण देकर भी इसका मूल्य चुकाने के लिए वह सदैव लालायित रहता है। वास्तव में इन गुणो के अभाव में वह सच्चा मुरीद (शिष्य) ही नही हो सकता, क्योंकि गुरु की कृपा के बिना आबिद (उपासक) कर्मकाण्ड को छोड़कर यथार्थ की ओर नहीं बढ़ता।

गुरु की परिचर्या एवं शुश्रूषा से आशा का संचार हो जाता है। सालिक (साधक) को विश्वास हो जाता है कि वह सन्मार्ग का यात्री हो गया है और उसी के अनुसरण से किसी दिन अवश्य ही उसे लक्ष्य की सिद्धि होगी। परन्तु आशा होते हुए भी वह भय से सर्वथा विमुक्त नहीं होता। इष्ट की साधना में साधनहीनता तो नहीं, आराध्य की आराधना में उपासना की त्रुटि तो नहीं, एवं प्रियतम की मनुहार में मनुहार भी है कि नही इत्यादि चिन्तायें उसे सर्वथा व्यथित करती रहती हैं और इस प्रकार वह तब तक भय का अविराम आश्रय बना रहता है जब तक कि उसे मारिफ (ईश्वरीय ज्ञान) की प्राप्ति नही होती।

इस भय से विमुक्त होने के लिए उसे पथ पर फूंक-फूंक कर पग रखना पड़ता है। यद्यपि सूफियो के अनुसार पाप अभावरूप है तथापि उन्हें सासारिक दृष्टिकोण से न्याय के विरुद्ध अन्याय पर हेयरूप में विश्वास लाना पड़ता है। इतर जनों के स्वत्व का अपहरण ही अन्याय है। एक सूफी को, जिसने सर्वस्व परमार्थ पर न्यौछावर कर दिया है, यह कैसे सह्य हो सकता है। इसीलिए उसे स्वच्छन्दता भी सर्वथा त्याज्य है। स्वच्छन्दता भी सर्वथा मनुष्य को सन्मार्ग से विचलित कर देती है, जिससे वह विवेकहीन हो जाता है और पुनः काम, क्रोध, मद, लोभादि से ग्रस्त हुआ परमार्थ को विस्मृत कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह ईश्वरीय सृष्टि का अपमान करने लगता है और सहानुभूति, सहिष्णुता, सहृदयता एवं अनुकम्पा आदि कोमल भावों से वंचित हो जाता है। यह विपर्यय साधक के लिए आत्मोन्नति के विनाश का कारण होता है अतः वह कभी स्वच्छन्दता को ग्रहण नहीं करता वरन् परमार्थपरता, क्षमाशीलता आदि गुणो को धारण करता है।

उपर्युक्त विपर्यय के पर्यवसान तथा सद्गुणों के आविर्भाव के लिए सत्कृत्यों पर विश्वास लाना परमावश्यक है। सत्कार्य मनुष्य की दैवी प्रकृति के द्योतक हैं। इसी लिए दुराचरण के लिए पश्चात्ताप का इस्लाम में बड़ा विधान है। कुरान में तौबा करने वालों को धार्मिक बन्धु कहा है।[1] अल हुज़विरी का कहना है कि तौबा के बिना कोई सेवा ही सच्ची नहीं।[2] यह तो रहस्य-मार्ग पर प्रथम स्थिति है। पश्चात्ताप में ही राबिया प्राय रोया करती थी। सूफ़ियों का विश्वास है कि अधम अथवा जघन्य कर्म करने के पश्चात् यदि शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप कर लिया जाय तो उसका निराकरण हो जाता है। पाप-स्वीकृति पाप-प्रपंच से निस्तार का कारण हो जाती है।

पश्चात्ताप के लिए सूफ़ियों में ज़िक्र, जप, एवं ध्यान का बड़ा महत्त्व है। ज़िक्र को साधारणत हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, (१) जली, (२) खफ़ी।[3] जली से तात्पर्य उच्च स्वर से नामोच्चारण है तथा खफ़ी में मनन और चिन्तन होता है। ज़िक्र का मूल मन्त्र है "ला इलाह इल्लल्लाह"। इसके जाप के लिए अनेक विधान हैं। जली में इस मन्त्र को व्यष्टि या समष्टि रूप में जपा जाता है। खफ़ी में मन की एकाग्रता का प्राधान्य है। इसके लिए योग-साधन द्वारा श्वास का संयमन करना पड़ता है। जाप के समय कोई घुटनों के बल और कोई पालथी आसन से बैठता है। कोई बैठकर बाईं ओर से श्वास लेते हुए अल्लाह का नाम जपते हैं। कुछ पालथी मारकर बैठ जाते हैं और प्रथम दाईं ओर से और पुन बाईं ओर से श्वास लेते हुए मन में ही जाप करते हैं। कोई 'ला' पर ध्यान लगाते हुए श्वास खींचते हैं और 'इल्लल्लाह' कहते हुए छोड़ते हैं। कतिपय श्वास द्वारा 'ला इलाह' ध्वनि को निष्कासित करते हैं और 'इल्लल्लाह' को अन्तर्निहित। इनके अतिरिक्त कुछ आँखें बन्द करके मौन जाप करते हैं और कुछ ध्यान में ही चिन्तन करते हैं। परन्तु इन सभी प्रकारों में जाप का मुख्य विषय यही है कि 'ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं'।

जली ज़िक्र का परिवर्द्धित संगीत है। इस्लाम में संगीत की अधिक प्रतिष्ठा न होते हुए भी सूफ़ियों ने इसे अन्तर्दृष्टि के खोलने में साधन माना है। अल गज़ाली के अनुसार संगीत के सुनने का परिणाम हृदय की पवित्रता है और हृदय की शुद्धि ईश्वरीय प्रकाश का कारण होती है, क्योंकि संगीत की शक्ति से हृदय सचेष्ट हो जाता है और उसके ध्यान के लिए शक्ति प्राप्त कर लेता है, जो इससे पूर्व उसकी शक्ति से

---

[1] 'But if they repent and establish worship and pay the poor due then are they your brothers in religion '—(*The Glorious Quran, S 9, 11*)

[2] *Rabia The Mystic, P 53*

[3] —(i) Jali or loud muttering ... and (ii) Khafi, or mental mutter ... —(*Outlines of Islamic Culture,* ...

परे था।[१] सूफियों का विश्वास है कि साम (संगीत) सौन्दर्य की प्रशंसा के लिए अद्वितीय साधन है। सांसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा परम सौन्दर्य के लिए पुल का कार्य करती है। लावण्यमयी प्रकृति का प्रत्येक दृश्य अपने अपूर्व वैभव में उसी अपार सौन्दर्य का दिग्दर्शन करा रहा है अतः सौन्दर्य की प्रशंसा अनिवार्य है। और वह प्रशंसा कीर्तन द्वारा भावुकता की उद्बोधक होती है। इसीलिए सूफी को अपने साथ प्रकृति-सुन्दरी भी अपने सौन्दर्य-स्रोत का गुणगान-सा करती दीख पड़ती है।

सर्राज, बुजेरी और हुजविरी समा को नवयुवक के लिए हितकर नहीं मानते।[२] उनका कहना है कि सावधानी से कार्य करना चाहिए ताकि नव शिक्षित दुराचारी न हो जाय। परन्तु अग्रगामी शिष्य के लिए ऐसा नहीं है। उसके लिए शुभ संगीत आत्म-जागृति का कारण होता है। जुन नून के अनुसार एक उत्तम शब्द हृदय को ईश्वरीय खोज के लिए प्रेरित करता है और वास्तविकता की छानबीन में एक साधन बनता है।[३] इस संगीत में पाशविकता को स्थान नहीं है। जब कव्वाल या अन्य गायक मंडली में विविध वाद्यों के साथ कीर्तन करते हैं तो एक मादकता-सी छा जाती है। अनेकों को हाल (ईश्वर में तन्मयता) आ जाता है और इलहाम (देववाणी) होने लगता है। इसी अवस्था में वज्द (सहजानन्द) की प्राप्ति होती है जो जुनैद के अनुसार ईश्वरागत प्रकाश की एक अवस्था है।[४] संगीत से उत्पन्न सहजानन्द के लिए धुलनून अल मिस्त्री ने कहा था कि यह परमात्मा की गवेषणा के लिए हृदय को प्रेरणा देने वाला एक दैवी दूत है और जो इसे आध्यात्मिक रूप में श्रवण करता है वह ईश्वर को प्राप्त करता है।[५] अब्दुल हुसेन अल सर्राज[६] ने भी यही कहा

---

१ "Listening to Music, Al Ghazzali says again results in the purification of the heart, and purification is the cause of revelation, for by the power of Music the heart is roused to activity and is strengthened for the con-

ate of revelation from

by music that it was and who listens to it, seeking its spiritual meaning, will find God ' —(*Al Ghazzali The Mystic, Page 89*)

४ 'So too, Abdul Husayn Al Sarraj 'Ecstasy (Wazd) is an expression for what is experienced in, Listening to music, and music carries the place where Beauty dwells and enables me to contemplate God within away to me the veil ' —(*Al Ghazzali The Mystic, Page 89*)

है कि वंद्द (सहजानन्द) संगीत को सुनने से जो अनुभव प्राप्त होता है उसी का प्रकाशन है एवं संगीत मुझे वहाँ ले जाता है जहाँ सौन्दर्य निवास करता है और मुझे मावरा में ईश्वर का ध्यान करने के लिए योग्य बनाता है।

जिक्र या चिन्तन-पक्ष एकान्त-सेवन की रुचि का उद्भावक होता है। एकान्त-सेवन की प्रथा इस्लाम में प्रारम्भ से ही थी। ध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता और एकाग्रता के लिए शान्ति वांछनीय होती है एवं शान्ति के निमित्त एकान्तवास अत्यावश्यक है। इसीलिए मुहम्मद साहब और उनके साथी यदा-कदा निर्जन स्थानों में जाकर ध्यान लगाया करते थे। सूफियों ने भी इस विश्वास को अपनाया। फ़ारस, सीरिया एवं मिस्र के सूफी पूर्वकाल से ही एकान्त-प्रिय थे और उनमें से कतिपय खानकाहों (आश्रमों) में शिष्य-मंडली के साथ रहा करते थे।[1]

उपरिलिखित सूफियों की आस्था-माला में प्रेम सदैव से सूत्र रूप से गुंथा रहा है। इसके बिना सूफी अध्यात्म निर्जीव हो जाय अतएव इसने सदैव से साधना की व्यापक आत्मा का कार्य किया है। इसका विवेचन हम अग्रिम पर्व में करेंगे।

---

1 *Outlines of Islamic Culture, Vol 2, Page 462*

चतुर्थ

सूफी-साधना

सूफीमत का सारा प्रासाद प्रेम पर ही खड़ा है। रतिरूप रागात्मिका चित्तवृत्ति ही प्रेम का रूप धारण कर लेती है। सूफियों में रति का इतना प्राधान्य है कि उन्हें प्रेमी साधक कहना समुचित है। मानव स्वयं दिव्यांश है अतः उसमें प्रेमी भी दिव्य स्रोत से ही आया है और वह दैवी विभूति स्वयं प्रेम रूप है।[1] इब्नुल अरबी के अनुसार प्रेम का मूल कारण सौन्दर्य ही है[2], परमात्मा सर्वाधिक सौन्दर्य रूप भी और सौन्दर्य की यह अनिवार्य प्रकृति है कि वह प्रेम किये जाने के लिए अपने को प्रकट करे। अत ईश्वर स्वयं से प्रेम करता है और अपने सौन्दर्य पर ही मुग्ध होकर उसने अपने को प्रदर्शित किया है। सारा विश्व उसी प्रेम का परिणाम और उसी सौन्दर्य का बिखरा हुआ साकार रूप है। यद्यपि वह ईश्वर सूफियों के लिए साकार नहीं है तथापि विश्व में वही साकार हुआ पड़ा है। वास्तव में ईश्वर के अतिरिक्त है ही क्या? यदि ईश्वर मे परम लावण्य न होता तो विश्व के विविध रूपों में ह्रास, विकास एवं प्रकाश कहाँ से आते क्योंकि ये सब सौन्दर्य के ही प्रतिरूप हैं।

सौन्दर्य की प्रशंसा के लिए ही जो प्रेम किया जाता है, यथार्थतः उसी में रति की सार्थकता है। इसलिए सासारिक सौन्दर्य की प्रशसा प्रेम के परिपाक का कारण होती है और यही सांसारिक प्रेम अलौकिक प्रेम का निमित्त हो जाता है। हृदय में प्रेम का बीज दैवी अवश्य है परन्तु चर्मचक्षुओं के समक्ष तरंगित सौन्दर्य-सरिता में स्नान करने के लिए प्राणीमात्र लालायित रहता है। यही कारण है कि मानव-मन में एक ही प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, अनुरक्ति, आसक्ति, श्रद्धा एवं भक्तिरूप में निवास करता है। परन्तु ऐहिक प्रेम में स्वार्थ और ममत्व की भावना प्रधान होती है जो आकस्मिक आधि और व्याधियों को आविर्भूत किया करती हैं। इसके विरुद्ध दैवी प्रेम वास्तविक प्रेम होता है जिस में स्वार्थ की तनिक भी भावना निहित नहीं होती।

प्रेम का अन्तिम ध्येय प्रेम की वास्तविकता को जानना है और प्रेम की वास्तविकता ही ईश्वरीय तत्व है। मनुष्य निसर्गत: सुन्दरता का प्रेमी है। जो पदार्थ जिसका मन अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है, वही उसके लिए सुन्दर है। अतः बाह्य सौन्दर्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। परन्तु अन्त.सौन्दर्य से तात्पर्य

---

[1] "Verily love is i self God."—(*In An Eastern Rose Garden*, P. 123)

[2] "The basis and the cause of all love is Beauty."—(*The Mystical Philosophy of Muhyiddin Ibnul-Arabi*, P. 173.)

समरव और पूर्णता से है। मनुष्य का सारा प्रयत्न सुन्दर और पूर्ण होने के लिए है। ईश्वर सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य है इसलिए वही पूर्ण है और मनुष्य का आदर्श है। इसी पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य पूर्ण में अनुरक्त होता है और अपने इष्ट का साक्षात्कार चाहता है। अबू तालिब का कथन है कि प्रियतम के दर्शनों की लालसा प्रेम का ही लक्षण है।[1]

वास्तविक सौन्दर्य मानवीय आत्मा पर एक जादू करता है। इसलिए वह सब से अधिक रुचिकर होता है। यही प्रेम का उद्‌भावक होकर स्वार्थ का विघातक हो जाता है, क्योंकि सौन्दर्यानुभव में आनन्द की प्राप्ति होती है और आनन्द आनन्द के लिए ही प्रिय होता है। इन्द्रिय-सुख आत्मानन्द से भिन्न और वासनाजन्य है अतएव दुखावसान है। सौन्दर्य जितना अधिक होता है प्रेम की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। यही कारण है कि सुन्दरतम ईश्वर का प्रेम ही पूर्ण प्रेम है और क्योंकि वही सत्य रूप है अतः उसका प्रेम ही वास्तविक है। मनुष्य इसी पूर्णता से प्रभावित होकर उपासना किया करता है। उपासना में सर्वप्रथम सौन्दर्य की प्रशंसा का ही भाव रहता है और यही आगे तल्लीनता का रूप धारण कर लेता है।

अनुभूति से जो आनन्द होता है वह वासना-जन्य भी हो सकता है और ज्ञान-जन्य भी। वासना मूलक आनन्द में सांसारिक प्रेम की प्रधानता होती है। यही कारण है कि प्रेम पात्र लघु और दीन होता हुआ भी प्रेमी को सदैव अलौकिक सौन्दर्य में पूर्ण दिखलाई देता है। वह उससे सम्बन्धित सभी गुण और पदार्थों की प्रशंसा करता हुआ अघाता नहीं है। ईश्वरीय प्रेम से जो आनन्द प्राप्त होता है वह ज्ञान-जन्य होने के कारण अनिर्वचनीय है। यथार्थ सौन्दर्य के परिचय से वह प्राप्त हुआ है इसलिए ईश्वर का प्रेमी उसकी सौन्दर्य समृद्धि का पार नहीं पाता। अन्त में उसे विस्मय में डूबकर अवाक् रह जाना पड़ता है।

'प्रेम से जिसका हृदय अनुरक्त हो जाता है वह कभी निधन को प्राप्त नहीं होता'[2]—हाफ़िज़ का यह वाक्य वास्तव में प्रेमी की सजीवता को ही उद्‌घोषित करता है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को अपने से कहीं अधिक अच्छा, सुन्दर और सुखी समझता है। इसलिए प्रेमी, प्रेमी न रहकर, प्रेम-पात्र बनना चाहता है और प्रेम-मार्ग पर चलता हुआ सर्वस्व का त्याग करने को भी कटिबद्ध रहता है। कीट-पतंगों में भी हमें यह भावना दृष्टिगोचर होती है। कमल सूखे सरोवर के साथ सूखता, पतंग दीप-

---

1 "Among the signs of love" says Abu Talib "is the desire to meet with the Beloved face to face"—(*Studies in Early Mysticism in the Near and Middle East Page 203*)

2 So Hafiz says "He whose heart is moved by love, never dies"—(*Outlines of Islamic Culture, Vol II, P 471*)

शाखा से लिपटना और मछली को पानी के वियोग में प्राण देना ही अच्छा समझती है। वास्तव में प्रेमी प्रेम की अग्नि में झुलस-झुलस कर सदैव प्राण देने को उद्यत रहता है। अल हल्लाज ने अपने-वध के समय शिब्ली से कहा था 'ओ शिब्ली! प्रेम का आरम्भ दग्धकारी अग्नि है और अन्त मृत्यु है।'[1] ऐसा होने पर भी प्रेमी साधक अमरता को ही प्राप्त करता है।

सच्चा प्रेमी सदा प्रणय की मदिरा से मतवाला रहना चाहता है। उमर खय्याम ने लिखा है कि 'प्रेम की मदिरा हमें बहुत लाभ पहुँचाती है, उससे हमारे शरीर और प्राणों को शक्ति मिलती है एवं उसके पीने से रहस्य का उद्घाटन होता है।[2] अत मैं उस मदिरा का केवल घूँट पीना चाहता हूँ। उसके पश्चात् न मुझे जीवन की चिन्ता रहेगी और न मृत्यु की।' इसीलिए प्रेमी सदैव अपने प्रियतम का साक्षात्कार चाहता है। उसके जीवन का एक ही स्रोत, एक ही पथ और एक ही लक्ष्य है। उसकी चाह और साधना भी एक ही है। ईश्वर के प्रेमी से यदि प्रश्न किया जाय कि तुम कहाँ से आये तो उत्तर मिलेगा—'प्रियतम के पास से।' तुम्हें कहाँ जाना है? 'प्रियतम के पास।' तुम क्या चाहते हो? 'अपना प्रियतम।' यह प्रियतम की रटना कब तक रहेगी? 'जब तक मिलन न होगा।' सच है प्राप्ति से पूर्व शान्ति कहाँ? हुजविरी के अनुसार ब्रह्मज्ञानियों की परिभाषा में प्रेम इष्ट की प्राप्ति के लिए विकलता का ही नाम है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम वह विचित्र अग्नि है जो हृदय-भट्टी पर मादक पेय बना-बना कर प्रेमी को पिलाया करती है। इससे जीवन कुछ भिन्न हो जाता है। वह प्राणों का मोह छोड़कर अपनी निधि को स्वयं भस्म कर देता है। यही कारण है कि प्रेमी में जो नम्रता होती है वह अभिमानी में नहीं। उसे न स्वर्ग की चाहना है न मोक्ष की। वह तो प्रेम की वीणा पर एक ही राग अलापता है और वह है प्रिय-मिलन का। रूमी ने कहा है[4] कि प्रेम के आचरण के बिना प्रियतम तक

---

[1] 'O Shibli, the beginning of love is a consuming fire and the end thereof is death'—(*Al Ghazzali the Mystic, P 177*)

[2] मैं कुव्वते जिस्मों कुव्वते जानस्त मरा।
मैं काशिफे असरारे निहानस्त मरा॥
दीगर तलबे दोनयो उकवा न कुनम।
यक जुरआ पुर अज हर दो जहानस्त मरा॥—ईरान के सूफी कवि, पृष्ठ ५१।

[3] 'According to Hujwiri, Love is defined by theologians as restlessness to obtain the desired object'—(*Outlines of Islamic Culture, Vol II, P. 602.*)

[4] "Without the dealing of love there is no entrance to the beloved."—(*The Persian Mystics, Jalaluddin Rumi, P. 47*)

पहुँचना असम्भव है। इस प्रेम के पवित्र आवरण में प्रणयी दयालु, मृदुल एवं निश्छल हो जाता है। ईर्ष्या, असूया, निन्दा, मिथ्या स्तुति, आक्षेप तथा पारुष्य उससे दूर भाग जाते हैं। वास्तव में सौन्दर्य का प्रेम उसके हृदय को इतना सुन्दर बना देता है कि उसमें बुराइयों की निन्दा के लिए भी स्थान नहीं रहता। यही कारण है कि प्रेमी अपने प्रणय-पात्र के सौन्दर्य पर इतना मुग्ध होता है कि उसे वह सदैव नूतन-सा दीख पड़ता है। इसमें प्रेमी के हृदय की ही विशेषता है, जिसको प्रेम ने युवा बना दिया है। प्रेम स्वयं युवा है। वह जिस पर छाता है उसे ही युवा बना देता है। इसीलिए प्रेमी स्वयं तड़पता और प्रियतम को तड़पाता है। उसको हानि-लाभ तथा यश अपयश की भी चिन्ता नहीं रहती। उसकी अवस्था उस पागल रोगी के समान हो जाती है जिसके घाव पर जितना नमक छिड़का जाय उसे उतना ही चैन पड़ता है और जितनी दवा की जाय उतना ही अस्वस्थ होता जाता है। उसके सम्पूर्ण शरीर में उसका प्रिय व्याप्त रहता है फिर भी वह अपने प्रिय का बन्दी रहना चाहता है। शेख शादी ने लिखा है कि उसका बन्दी कारागार से मुक्त होने का इच्छुक नहीं है।[१] जो उसके प्रेम पाश में अवरुद्ध हो गया है वह छूटना नहीं चाहता।

यह प्रेम माधुर्य उत्पन्न करता है, इसीलिए प्रेमी को कटुक पदार्थ भी मिष्ट हो जाते हैं। प्रेम के रोग से समस्त रोग दूर हो जाते हैं। यह काँटे को पुष्प बना देता है। उसके उन्माद में सूली सिंहासन और कारागृह उद्यान बन जाता है। मंसूर इसी तरंग में हँसते-हँसते सूली पर चढ़ गया था। नि सन्देह यह प्रेम स्वर्गीय गुणों का स्रोत है और चमत्कारों का भण्डार है। प्रेम के साथ समत्व सौन्दर्य, लय, प्रकाश और जीवन आते हैं। जो कुछ हर्ष-विषादमय कहा जाता है वही प्रिय, आनन्दप्रद और मर्मभेदी हो जाता है। यही कारण है कि प्रेमी कवि बन जाता है। प्रेम की इस मोहक शक्ति के प्रभाव से प्रेमी को विश्राम नहीं मिलता। परन्तु अन्त में प्रणय-पात्र को दया आती ही है। हाफिज ने कहा है कि क्या कोई ऐसा भी प्रेमी हुआ है जिसके हाल पर यार ने दया-दृष्टि न की हो।[२]

माधुर्य भाव के कारण ही संसार में सौन्दर्य का बाह्य प्रेम आन्तरिक सौन्दर्य के प्रेम का कारण बन जाता है। सूफियों के कथनानुसार इश्के मजाजी इश्के हकीकी में बदल जाता है। फिर साधक को अन्तर्जगत में आनन्द आने लगता है और ध्यान द्वारा ईश्वरीय सौंदर्य पर मुग्ध होता रहता है। उस बाह्य पदार्थों का सौन्दर्य सुन्दर

---

[१] असीरश न ख्वाहद रिहाई जे बन्द।
शिकारश न जोयद खलास अज कमन्द॥—ईरान के सूफी कवि, पृष्ठ २२८।

[२] "आशिक कि शुद के यार बहालश नजर न कर्द।"—ईरान के सूफी कवि, ३३८।

प्रतीत होता है, जो यहाँ सुन्दर है, वहाँ असुन्दर, जब कि ईश्वरीय सौन्दर्य नित्य, एक रूप और अपरिवर्तनशील है। इस दैवी सौन्दर्य पर विमुग्ध हुआ प्रेम के वास्तविक ध्येय से परिचित हो जाता है और पुन. अपने प्रणयपात्र में समग्र रूप से लीन हो जाता है। इस लीनावस्था में प्रेमी स्वयं प्रेम रूप हो जाता है। जामी ने लिखा है कि मेरे हृदय रूप सितार पर प्रेम ने एक ऐसी गति बजादी है जिसके प्रभाव से मैं सिर से पैर तक प्रेम-ही-प्रेम हो गया हूँ।[1]

सूफियों को इसी दैवी प्रेम की बुभुक्षा है। हम पहले कह आये है कि सूफी एक सच्चा प्रेमी है जो अपने प्रियतम के प्रति प्रेम की साधना मे लीन रहता है। यह सूफी साधना भारतीय साधना से भिन्न है। भारतीय अध्यात्म में विरति शासन करती है जब कि सूफीमत में रति। सूफियों की रति में माधुर्य के साथ मादक भाव भी रहता है परन्तु उसमें निहित वासना को पूत वासना ही कहना उचित है, क्योंकि सांसारिक रति के आस्वादन से जो आनन्द प्राप्त होता है वह क्षणिक और दुखद होता है जब कि दैवी प्रेम का आनन्द नित्य और शान्तिप्रद होता है।

सूफियो की साधना में रति का आलम्बन ईश्वर ही होता है। उनकी आस्था के अनुसार ईश्वर साकार नही है अत. वे साकार प्रियतम की भाँति उसका विरह जगाते, नाम जपते और ध्यान करते है। अनेको नामधारी सूफियो ने आलम्बन की अलक्ष्यता के कारण प्रिय या प्रियाओं को ही आलम्बन मानकर परोक्षत. परम प्रियतम के रति भाव को अभिव्यक्त किया है। सादी जैसे सदाचार के प्रतिपादक कवि ने तो अमरद को ही प्रतीक मानकर प्रियतम का विरह जगाया है।[2] यही कारण है कि सूफी प्रेमी कहे जाते हैं। अपरञ्च जन्मान्तर की मान्यता के अभाव में उन्हें अनन्त आनन्द की अभिलाषा नही है प्रत्युत् हृदय की तृप्ति में ही जीवन का साफल्य भासित होता है।

सम्पूर्ण विश्व उसी का तो प्रदर्शन है अत. प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ उसकी रति का उद्दीपक होता है। वे प्रति सौन्दर्य में परम सौन्दर्य का अश देखते है अतः और अधिक विकल होते रहते है। चाँद प्रियतम के मुख, कमल उसकी आँखो, सुमन-सचय उसके स्मित और रजनी उसके कुचित केशपाशो की स्मृति दिला-दिला कर उन्हें तड़पाया करते है। उन्हें ऐसा जान पडता है कि मानो पवन उसी की खोज में भटकता फिरता है, नदी का हृदय उसी के वियोग में द्रवित होकर पानी हो गया है, विशाल समुद्र की विकलता भी उसी के लिए है और निस्सीम गगन भी दिन में उसी के लिए तपता एवं रात्रि में शत-शत चक्षुओं से उसी के अवलोकन में लीन रहता है।

---

[1] "बरऊदे दिलम नवाख्त यक जमजमा इश्क।
जां जमजमा अमजे पायें ता सर हम इश्क॥"—ईरान के सूफी कवि, पृष्ठ ४००।

[2] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १०२।

सूफी-साधना में एक दर्शनीय विशेषता है कि वे रति के आश्रय होते हैं परन्तु उनका प्रियतम भी आश्रय बन जाता है। उन्हें ही प्रेमी होने का पूर्ण स्वत्व प्राप्त नहीं है, उनका प्रियतम भी प्रिय की ओर बढ़ता है। किन्तु जब प्रियतम में वियोग की विषमता है तो प्रेमी में तड़पन, क्रन्दन, प्रलपन, रुदन आदि सब कुछ है। वह उसके वियोग में भूख-प्यास, शीत-ताप एवं सुख-दुख आदि सभी सहता है। कभी-कभी विरहतापवश उसे निर्वेद आता है तो कभी अयोग्यता पर ग्लानि आती है। कभी चिन्ता चिंतित कर जाती है तो कभी आशा की एक रेख हर्ष का कारण बन जाती है। कभी स्मृति आती है तो कभी धृति और कभी मोह व्यामोहित कर जाता है। कभी आवेग है तो कभी जड़ता, कभी मति है तो कभी उन्माद। इस प्रकार अनेक चेष्टाएँ एवं अवस्थाएँ घटित होकर रति का परिपाक करती रहती हैं। कभी-कभी प्रेमी साधक को इतनी तल्लीनता होती है कि उसे प्रियतम का साक्षात्कार हो जाता है। यही उसकी रति का साफल्य, साधना का अन्त और प्रियतम से मिलनावस्था है। सूफीमत में इसी को मरण कहा गया है। अल हल्लाज ने शिब्ली को सम्बोधित करते हुए कहा था 'ओ, शिब्ली प्रेम का आरम्भ एक दग्धकारी अग्नि है और अवसान मृत्यु।'[1]

इस साधना में ध्यान एवं ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य तीन तत्त्वों से बना हुआ है—(१) बुद्धि गुण युक्त आत्मा (रूह), (२) वासनापूर्ण आत्मपक्ष (नफ्स) एवं (३) इन्द्रियानुभव का आश्रय शरीर। इनमें से रूह दैवी अंश है, जो सूफियों के मतानुसार स्वतन्त्र सत्ता न रखती हुई उसी विश्वात्मा से आई है। वही अपने मूल स्रोत के परिचय एवं गवेषणा में लीन रहती है। नफ्स मनुष्य का दानवी पक्ष है, जिसे शरीर सम्बन्ध से उत्पन्न शैतान की प्रेरित शक्ति कहना चाहिए। यह वासनाओं की जननी, उद्भाविका, सहचरी सभी कुछ कही जा सकती है। यह सदैव आत्मा को परमात्मा से विमुख करने और उसे उन्मार्गगामी बनाने में प्रयत्नशील रहा करती है। इसलिए यह मनुष्य की परम शत्रु है। समस्त जीवन में जप, ध्यान द्वारा नफ्स के विरुद्ध ही युद्ध किया जाता है। सूफी इसी को जहाद कहते हैं। इस जहाद में अपने मूलोद्गम से आध्यात्मिक सम्पर्क जोड़ने का प्रमुख लक्ष्य होता है।

सूफियों के अनुसार आध्यात्मिक सम्पर्क के तीन उपकरण होते हैं[2]—प्रथम कल्ब

---

1 'O Shibli the beginning of love is a consuming fire and the end thereof is death.' —(Al Ghazali the Mystic I. 177)

... the attribute of intelligence, ... bute ... ion ... him,

(हृदय), द्वितीय रूह (आत्मा), और तृतीय सर्र है। कल्ब को सूफीमत में भौतिक नहीं माना गया है। यह शरीर में स्थित होता हुआ भी एक मांसपिंड नहीं वरन् चेतना का लक्षण है। कल्ब और रूह रहस्यमय जीवन की उपयुक्त भूमि हैं अतः इनमें परस्पर स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता।[1] कल्ब ही रहस्यज्ञान का साधन है। यह निसर्गतः निर्मल दर्पण के सदृश है जिसमें वास्तविकताएँ स्पष्ट झलकती हैं। कल्ब-गोचर ज्ञान बुद्धि-ज्ञान से भिन्न होता है, क्योंकि बौद्धिक ज्ञान बाह्य आश्रय की पर्याप्त सहायता लेता है अतः तर्क, वितर्क, विनडा, सन्देह, भ्रम आदि से पूर्ण भी होता रहता है जब कि हार्दिक ज्ञान अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखता है अतः वास्तविक होता है। इस कारण इस क़ल्ब को अन्तर्दृष्टि भी कह सकते हैं। इस पर आवरण डालने वाले दूषित विचार ही हैं जो मनुष्य के दानवी पक्ष की कृति तथा भौतिक संसार के सम्बन्धी होते हैं। इस आवरण के हटने पर हृदय रहस्य के उद्घाटन में लीन हो जाता है। इसके फल-स्वरूप जो ज्ञान होता है, सूफीमत में उसे मारिफत कहा है। यह साधारण इल्म से भिन्न होता है, जो बुद्धि से सम्बन्ध रखता है और जिसे सूफी अक़्ल कहते हैं। सूफी अक़्ल को नफ़्स का ही सहायक मानकर अवलम्बनीय नहीं समझते प्रत्युत इसकी उपेक्षा कर अन्तर्ज्ञान की ही अपेक्षा करते हैं।

रूह दिव्य होने के कारण आवरण के अपनयन पर सदैव अपने उद्गम की ओर उन्मुख रहा करती है। मलीन से मलीन आत्मा भी यदाकदा आपन्नावस्था में अथवा साधु-सगतिवश मलिनता से विमुख हो अपने को देखती ही है। इस अन्त-अवलोकन में सर्र का बड़ा महत्त्व है। यह कल्ब का अन्तस्थल माना गया है। रूह ईश्वर को प्रेम करती है, कल्ब उसको जानता है और सर्र उसका ध्यान करता है। सर्र ही मनुष्य को चिन्ताप्रिय बनाकर अन्तःप्रवृत्ति बनाता है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि ईश्वर के साक्षात्कार में कल्ब और सर्र का बड़ा महत्त्व है। पहले कहा जा चुका है कि कल्ब प्रकृति से उज्ज्वल और पवित्र है परन्तु वासनाओं की कालिमा इसे मलीन और दूषित बना देती है। ज्ञान के प्रकाश के बिना हृदय में अन्धकार हो जाता है। इसी कारण अज्ञानान्धकारपूर्ण हृदय में वस्तु-स्वरूप ठीक-ठीक नहीं भासता और मनुष्य कुमार्गगामी हो जाता है। फिर वह स्वयं प्रपंचपाश बिछाता है और उसमें स्वयं ही आबद्ध होता रहता है। स्वयं ही दानव प्रकृति के वशीभूत होकर निधियाँ लूटता रहता है और शनैः शनैः आत्मद्रव्य से वंचित हो जाता है। यही नहीं संसार का अनर्थ ही उसके जीवन की सार्थकता हो जाता है। परन्तु जब आत्मा पैशाचिक प्रकृति को लात मार देती है और ईश्वर से प्रेम करने

[1] 'The Qulb and the Ruh are the proper organs of the mystical life and are not clearly distinguished from one another.'—(*Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol XII, P. 13*)

लगती है तो हृदय परिप्लुत होने लगता है। बाह्य सौन्दर्य अन्तःसौन्दर्य के समक्ष मन्द पड़ जाता है और आत्मा अपने अन्तस्तल में ही अपनी निधियों को खोजती है। इसमें मनुष्य का सकल्प प्रधानत भाग लेता है, क्योंकि यही दैवी इच्छा का प्रतिबिम्ब है। पुन क्रोध, मान, माया एव लोभादि से विहीन होकर हृदय अतिमानुषी शक्तियों से भर जाता है और प्रकाशवान हो जाता है। इस प्रकाश में सादी[1] के अनुसार प्रकृति की पत्ती-पत्ती उसके लिए धर्म पुस्तक हो जाती है और उसी दैवी सत्ता की ओर सकेत करती सी दीख पड़ती है।

हृदय से अज्ञानान्धकार के अपसारण और प्रकाश के प्रसारण के लिए ज्ञान का दीप प्रदीप्त करना अत्यावश्यक है। ज्ञान तीन प्रकार से विभक्त किया गया है। प्रथम इन्द्रिय ज्ञान है जो चक्षु श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय के विषयो से सम्बन्ध रखता है। यह स्थूल ज्ञान है और आत्मा को सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर ले जाता है। द्वितीय बौद्धिक ज्ञान है। इसका क्षेत्र भावजगत है परन्तु वहाँ कल्पना एव अनुमान की प्रधानता होती है और तर्क की कसौटी पर कसकर धारणा निर्मित की जाती है। इस ज्ञान में इन्द्रिय-ज्ञान सहायता देकर विशेष प्रतिपत्ति का निमित्त बनता है। यह ज्ञान आत्मा में सन्देह स्थिति उत्पन्न करता है अत कदापि निश्चयात्मक नहीं होता। यही कारण है कि सूफी इसे इन्द्रिय-ज्ञान से सूक्ष्म होते हुए भी अन्तर्ज्ञान की सज्ञा न देते वरन् उसका विघातक मानते है। तृतीय ज्ञान आत्मज्ञान है। इसे आध्यात्मि ज्ञान, दैवीज्ञान, अन्तर्ज्ञान, वास्तविक ज्ञान कुछ भी सज्ञा दी जा सकती है। सूफी लो इसे ही मारिफत कहते हैं।

इस ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में कोई बौद्धिक ज्ञान को, कोई आत्म शुद्धि क और कोई आत्म चिन्तन को साधन मानता है। सुलुकी का कथन है कि यह ज्ञा प्रथम बौद्धिक अनुसरण से पुन शनैः शनैः आत्मशुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि से प्राप्त होता है।[2] वास्तव में यह रहस्य का प्रकाशक होता है। अत इसमें मनन एव चिन्तन की प्रधानता होती है जो अन्तर्दृष्टि के पर्यवेक्षण का ही परिणाम है। यह सहज अन्तर्ज्ञान होने के कारण दैवी प्रकाश से सम्बन्ध रखता है। अत हृदय को भी प्रकाशपूर्ण बना देता है। यह किसी अभ्यास या अनुशासन का फल नहीं होता क्योंकि अनुशासन तो वहीं तक काय करता है जहाँ तक मनुष्य दानवी आत्मा स

---

1 When the eyes open and begin to see with the divine light and divine sight, even the leaves of the tree become as the pages of a Bible to Him — (*In An Eastern Rose Garden P 131*)

2 Suluki says that divine knowledge may be obtained in the start by intellectual pursuit and gradually by self purification and intuition '— (*Outlines of Islamic Culture Vol II P 500 1*)

विमुक्त नही होता। बुद्धि यहाँ पगु हो जाती है, क्योंकि यह दैवी होने के कारण ईश्वरीय प्रेरणा से ही प्राप्त होता है इसलिए यह अनिर्वचनीय होता है और रहस्यमयी वाणी में अभिव्यक्त किया जाता है।

ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में अनेको ने भिन्न-भिन्न स्थितियाँ मानी है। साधारणत. हम प्रथम, मध्यम और उत्तम स्थिति की दृष्टि से तीन विभाग कर सकते है। प्रथम स्थिति हम उज्ज्वल जीवन कह सकते है। इसमे मनुष्य सांसारिक वासनाओ को हेय जानकर हृदय की शुद्धि में दत्तचित होता है। उसके वचन और कर्म भी पवित्र हो जाते है। द्वितीय स्थिति को प्रकाशवान् जीवन कह सकते है। इसमें मनुष्य की इच्छा-शक्ति, अनुभव एवं बुद्धि, ये सभी एक ईश्वर पर ही स्थित होते है। अनुभव सचेतन होता है, बुद्धि प्रज्ञा का अनुसरण करती है और इच्छा-शक्ति ईश्वरीय इच्छा पर अवलम्बित हो जाती है। तृतीय स्थिति अन्तिम स्थिति होती है जिसमें मनुष्य ध्यान द्वारा ध्येय से सायुज्य प्राप्त कर लेता है। उसे ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है और उसी में वह अभिन्न रूप से मिल जाता है।

जो सूफी परमात्मा की गवेषणा प्रारम्भ कर देता है वह सालिक (यात्री) कहलाता है। वह पुन: मार्ग पर सात मकामात (स्थितियाँ) पार करता हुआ ईश्वर से अभेद प्राप्त करता है। सालिक से पूर्व वह मोमिन की अवस्था में होता है, जहाँ वह शरीअत पर विश्वास करता है।[1] शरीअत के विधान जब बाधा रूप प्रतीत होते है तो वही किसी मुर्शिद (गुरु) के पास मुरीद (शिष्य) बन जाता है और पुन. निष्ठावान् होकर ईश्वरीय मार्ग पर यात्रा प्रारम्भ कर देता है। अब वह सालिक हो जाता है और शीघ्र ही आबिद (आराधक) होकर मार्ग पर आगे बढता है। यहीं से उसकी वास्तविक यात्रा प्रारम्भ होती है और वह शरीअत से तरीकत के क्षेत्र में आजाता है। इस स्थिति मे यात्री पश्चाताप, संयम, त्याग, धैर्य, ईश्वर में विश्वास, मित भोजन एवं मित भाषण आदि गुणो को पूर्णत ग्रहण करता है। तदनन्तर उसमें इश्क (प्रेम) विकास को प्राप्त हो जाता है और उसे एकान्तप्रियता भाने लगती है। अब वह जाहिद कहलाता है। एकान्त चिन्तन मे उसमें ईश्वरीय ज्ञान का आविर्भाव होता है। सूफी लोग इसे ही मारिफत कहते है। अब वह आरिफ बन जाता है और तल्लीनता को प्राप्त करता हुआ हकीकत के क्षेत्र मे पहुँचता है। इसी क्षेत्र मे उसे वस्ल (ईश्वर से अभेद) की स्थिति आते ही फना की दशा प्राप्त हो जाती है, क्योंकि यहाँ आत्म-भाव का सक्रमण और ईश्वर से अभेद हो जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार या आनन्द प्राप्त

---

[1] "The Sufi sets out to seek God calls himself a traveller (Salik), he advances by slow stages (Maqamat) along a path (Tariqat) to the goal of union with reality (Fana fil Haqq)' —(*The Mystics of Islam, P. 28.*)

होता है। आत्मा ईश्वर में अभिन्न रूप मे निवास करती है। सूफी इसी अवस्था को बका कहते है। यही सूफी का चरम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति पर मनुष्य पूर्ण पुरुष हो जाता है।[1]

फना और बका की स्थितियो में कुछ अवस्थाएँ होती है जिनमें से फना की स्थिति के साथ ही फक्द की स्थिति आती है। इसमें आत्म-भाव का पूर्ण विनाश हो जाता है। इसी तल्लीनता से उन्माद की अवस्था आ जाती है। सूफीमत में इसे सुक्र कहा गया है। बका की स्थिति में ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, इसी को वज्द कहते है और इसी की चरम सीमा शह कहलाती है। यहाँ अभेद का भी भान नहीं रहता। इनमें से फना, फक्द और सुक्र आत्म-भाव के अभावरूप है और बका, वज्द और शह ईश्वरीय भावरूप है अत यह समान स्थितियों के अभाव और भाव रूप होने के कारण परस्पर एक रूप ही है।[2] वास्तव में आरिफ जब हकीकत के क्षेत्र में पहुँच जाता है तब वह हक बन जाता है और साथ ही उसे उपर्युक्त स्थितियाँ प्राप्त हो जाती है। बविस्तरी के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार होने पर 'मै' और 'तू' का भाव भी मिट जाता है और वे दोनों एक हो जाते है।[3] इस प्रकार गवेषणा समाप्त हो जाती है, मार्ग का भी अन्त हो जाता है तथा खोजक विराम को प्राप्त होता है और सबका एकीभाव होकर एकरूपता में परिवर्तित हो जाता है।

जलालुद्दीन रूमी के अनुसार पश्चाताप, त्याग, ईश्वरीय विश्वास और जप द्वारा परमाल्हाद एव अभेद की स्थिति तक पहुँचा जाता है।[4] अन्तिम स्थिति फना है, जिसकी चरमावस्था फना अल फना है।

अत्तार इन्ही स्थितियो को यात्री की सात घाटियाँ कहता है।[5] प्रथम घाटी खोज की है। यहाँ से यात्री ईश्वर की खोज आरम्भ करता है। उसे अपार कठिनाइयो,

---

1 To abide in God (baqa) after having passed away from selfhood (fana) is the mark of the Perfect Man "—(*The Mystics of Islam P 163*)

2 Fana (passing away from individuality) Faqd (self loss) Sukr (intoxication) with their positive counterparts Baqa (abiding in God) Wajd (finding God) and Sahw (Sobriety) "—(*Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol. 12, P 11*)

3 In the presence, says the Sufi Mystic 'I and 'thou' have ceased to exist they have become one, the quest and the Way and the Seeker are one' —(*Studies in Early Mysticism in the near and Middle East, P. 9*)

4 It is the way that leads away from self, through repentence, renunciation, trust in God (tawakkul) recollection (Zikr) to ecstasy and union with God The final stage is fana Culminating in fana al fana '— (*The Influence of Islam P 150*)

5 'The first of the seven is the Valley of Search the second is the Valley of L[illegible]
is the Valle[illegible]
sixth valle[illegible]
the Vall[illegible]

परीक्षाओं और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इस स्थिति में वह सकल्प और धैर्यपूर्वक आगे बढ़ता है और ऋजुता और शुचिता को प्राधान्य देता है। इसके पश्चात् वह द्वितीय प्रेम की घाटी में पग रखता है। इसमें यात्री प्रेमाग्नि से प्रदीप्त हो जाता है और उसमें प्रियतम की प्राप्ति के लिए आकाक्षा बलवती हो जाती है। अब वह अपने निमित्त न जीकर केवल प्रणय-पात्र के निमित्त ही जीता है। प्रेम का आसव पीकर वह इतना मतवाला हो जाता है कि कठिन से कठिन सकटों को भी सह लेता है। उसे वास्तविक ज्ञान हो जाता है और वह तृतीय घाटी में आ जाता है। यहाँ ज्ञान का सूर्य जगमगाता है और प्रत्येक यात्री अपनी शक्ति के अनुसार अन्त-प्रकाश को प्राप्त करता है। यह ज्ञान दिव्य होने के कारण बौद्धिक ज्ञान से नितान्त भिन्न होता है। इस ज्ञान से जिनका हृदय प्रकाशित हो जाता है वे उस दिव्य सौन्दर्य की झाँकी लेते हैं जो अणु अणु में बिखरा पड़ा है। तदनन्तर वह चतुर्थ विच्छेद की घाटी में आता है। इस स्थिति में उसे ससार से पूर्ण विरक्ति हो जाती है अत सासारिक इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। यहाँ तक कि दैवी रहस्य की ज्ञानेच्छा भी नहीं रहती। केवल एक व्यापक दैवी सत्ता का ही भान होता है, जिसके समक्ष समस्त दृश्य सत्ता अभावरूप जान पड़ती है। इसमें समत्व भी उद्बुद्ध हो जाता है जिससे दु खानुभव पूर्णत विलीन हो जाता है। इसके पश्चात् यात्री प्रियतम से मिल जाता है। इस स्थिति का नाम सायुज्य की घाटी है जहाँ बाहुल्य एकत्व में लीन हो जाता है तथा परिणाम और गुण का भाव मिट जाता है। इस अवस्था की पूर्णता पर 'मैं' और 'तू' का भाव नहीं रहता। पुन वह विस्मय की घाटी में पहुँच जाता है। यहाँ वह ईश्वरीय साक्षात्कार से विस्मित होकर परमानन्द में इतना निमग्न होता है कि आत्म-चेतना जाती रहती है और शीघ्र ही आत्मलय की अवस्था आ जाती है जिसे सप्तम घाटी कहा है। इसमें इन्द्रियाँ विषयों से विरत हो जाती हैं। आत्मा उस निस्सीम सत्ता में अपने को पूर्णत विलीन कर देता है, जहाँ अखड आनन्द और अटल शान्ति का साम्राज्य है।

हल्लाज ने नासूत (मानवीय प्रकृति) को लाहूत (दैवी प्रकृति) से किसी प्रकार भिन्न माना है।[1] उसका कथन है कि रहस्य की दृष्टि से सम्पृक्त हुई भी ये अभिन्न नहीं वरन् मिलन में भी व्यक्तित्व रहता ही है। गजाली ने इनके साथ मलकूत और जबरूत का भी विधान किया है। किसी किसी ने हाहूत को भी माना है। ये विकास की स्थितियाँ हैं जिनमें होकर मनुष्य ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के लिए

---

[1] (Hallaj) however, distinguishes the human nature (Nasut) from the Divine (Lahut) Though mystically united they are not essentially identical and interchangeable Personality survives even in union'— (*Studies in Islamic Mysticism, P 80*)

आगे बढ़ना है। नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत ये क्रमशः उत्तरोत्तर स्थिति की योग्यता का कारण होती हैं और अन्त में अधिकांश सूफ़ियों के अनुसार ईश्वर में लीन करा देती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि विविध प्रकार से वर्णित स्थितियों में सभी ने अन्त में आत्मलय और अभेद की स्थिति को माना है जिसे फ़ना एवं बक़ा की संज्ञा दी गई है। इसमें आत्म भाव का नाश और ईश्वर से ऐक्य हो जाता है। तथा ज्ञान अन्तर्दृष्टि से, अन्तर्दृष्टि ईश्वरीय प्रेरणा से, ईश्वरीय प्रेरणा ध्यान से और ध्यान ध्येय से एकरूपता प्राप्त कर लेता है। अलगज़ाली से प्रतिपादित तीन प्रकारों के ध्यानों में यह अवस्था अन्तिम ध्यान की होती है।[1] यहाँ केवल ईश्वर का ही ध्यान होता है और वास्तविकता ही दीख पड़ती है। ध्याता को स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ और मेरा कोई ध्येय है। उस समय आत्मलय हो जाता है जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय की पृथक् स्थिति नहीं रहती। इस स्थिति से पूर्व ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता। फराबी ने कहा है कि जब तक मनुष्य अनेकता से एकरूपता पर नहीं आ जाता उसे परमात्म-परिचय नहीं हो सकता।[2] हुजविरी के अनुसार ध्यान की चरम अवस्था वही है जिसमें प्रेम पराकाष्ठा पर होता है और ईश्वरीय साक्षात्कार में मानवीयता ईश्वर में चिरस्थायित्व द्वारा लय को प्राप्त हो जाती है।[3]

इस अवस्था में इन्द्रियाँ कार्यभार से विमुक्त हो जाती हैं। मन में तल्लीनता के अतिरिक्त कोई अन्य भाव नहीं रहता एवं ईश्वरीय ध्यान में सब कुछ विराम को प्राप्त हो जाता है। अतः उसके लिए संसार का अभाव हो जाता है और केवल एक नित्य सत्ता का ही भान होता है। देश, काल, गुण और भाव का तनिक भी भेद प्रतीत नहीं होता तथा इनसे परे किन्तु इनमें व्याप्त शाश्वत सचाई रूप ही हो जाता है। जलालुद्दीन रूमी ने ईश्वर से सायुज्य-काल को नित्य जीवन कहा है, क्योंकि उसके लिए समय को वहाँ पर स्थान नहीं है।[4]

सूफ़ीमत में स्वप्न का बड़ा महत्त्व है। यात्री की इस तल्लीनता का आवश्यक

---

1 "... and finally the contemplation of God Himself the vision of Reality, which is certain and without doubt."—(*Al Ghazali the Mystic P. 171.*)

2 "According to Farabi God cannot be realised unless a man passes from multiplicity to oneness."—(*Outlines of Islamic Culture Vol. 2 P. 451*)

3 "The Highest contemplation said Hujwiri is evidence of Love and absorption of Human attributes in realising the vision of God and their annihilation by the everlastingness of God."—(*Al Ghazali the Mystic P. 173*)

4 "Eternal Life, me thinks, is the time of Union, because time for me, hath no place there."—(*The Persian Mystic Jalal-ud-din Rumi P. 4*)

अवस्था में चिन्तन को ही स्वप्न कहते है। दूसरे शब्दो में हम उसे तल्लीनता में जागरूकता एव उन्माद में सचेतनता कह सकते हैं। साधारण मनुष्य की अर्द्धसुप्तावस्था में मन की चेष्टाओं के फलस्वरूप हृदय वस्तुओ के विलक्षण सम्मिश्रण से मानस पर जो विविध चित्र अकित हो जाते है, वे भी स्वप्न है, परन्तु वे भ्रमात्मक है जब कि वे वास्तविक। सूफी के स्वप्न में अन्त प्रेरणायें है जिन्हे विश्वात्मा मानव-हृदय में प्रेरित करता है और तब भावना-शक्ति उन्हे पकड लेती है तथा अन्त प्रकाश में मानस-पट पर उनका प्रदर्शन करती है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर आते है कि फना की अवस्था में जो रहस्यात्मक मानसी चित्र होते है, वे ही वास्तविक स्वप्न है। यहाँ परमात्म-भाव के अतिरिक्त और कोई अनुभव नही होता। अत सचेतनता होते हुए भी प्रार्थना आदि किसी माध्यम की आवश्यकता नही।[1] अधिकाशत सभी ने ऐसा ही माना है, क्योकि भेद-बुद्धि रहते हुए एकाग्रता नही हो सकती। एव एकाग्रता के अभाव में एकीभाव नही हो सकता और जब एकीभाव ही नही तो साधना की सफलता कहाँ? हाफिज ने ईश्वर और अपने मध्य आत्म-अस्तित्व के विचार को महा पाप कहा है।[2]

पहले कहा जा चुका है कि फना का स्रोत भारतीय होते हुए भी हम इसे बौद्धो के निर्वाण के तुल्य नही कह सकते।[3] यद्यपि इन दोनो का शाब्दिक अर्थ समान ही है क्योकि फना से तात्पर्य आत्म-लय और निर्वाण से आत्म-निर्वापण है। तथापि निदानत इनमें भेद अवश्य है। निर्वाण लय रूप ही है जब कि निजत्व का अभाव रूप फना ईश्वर के भाव रूप बका से सहयोग पाता है। निर्वाण वासना आदि के समाप्त होने पर क्रमश प्राप्त होने वाली एक स्थिति है जिसमें अक्षय शान्ति होती है और फना की भाँति हर्षोन्माद नही होता।

सूफियो की साधना में प्रतीको का बडा हाथ रहा है। यह कहा जा चुका है कि सूफीमत बाह्याचार के विरुद्ध ईश्वर के प्रति उद्‌बुद्ध हुई नैसर्गिक अनुरक्ति का परिणाम था। कुरान में प्रतिपादित ईश्वर स्वच्छन्द शासक था जो कठोर दड का विधाता था अत आपद्‌ग्रस्त लोगो को और भी भयावह था। भला ऐसा ईश्वर विपन्न मानवो को कैसे शान्तिप्रद हो सकता था। इसीलिए मधुर और कोमल अवलम्बन खोजा गया और वह उस ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा नही हो सकता था, जो प्रेम रूप है, परम सुन्दर है, तथा जिसका सौन्दर्य विश्व के कण-कण में भरा पडा

---

[1] "When God is present and manifested said the Sufi Dhun Nun, "there is no need to make intercession ... (Al Ghazali the Mystic, P 171)

... on of attention on his ... Him and God"—(Out

है। निदान सूफियों का वह ईश्वर प्रियतम के रूप में आया। वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौन्दर्य है, माधुर्य कोष का आगार है, और प्रेम का प्रचारक है। वह प्रणय-पात्र अथवा प्रियतम बनने का ही अधिकारी नहीं वरन् स्वयं भी प्रेमी के लिए तड़पता है।

यह शरीअत के विरुद्ध था। जो ईश्वर आराध्य है, उपास्य है, भला वह माशूक (प्रियतम) कैसे हो सकता है? जो शासक है, निर्णय के दिन का स्वामी है भला वह प्रेमी के लिए कैसे तड़प सकता है? जो स्वयं सर्वोपरि है, सारा चराचर विश्व ब्रह्माण्ड में जिसकी इच्छा मात्र का फल है भला वह जीवात्मा से एक रूप कैसे हो सकता है? नमाज का त्याग कर उन्मादी की भाँति इश्क का राग अलापते जाना तथा हज आदि को छोड़कर केवल पीरों की सेवा में लीन रहना, यह सब परम्परा के विपरीत घोर उपद्रव था, जो धर्मध्वजों की सह्य न था। रक्त की प्यासी तलवार क्षण मात्र में सारा उन्माद उतार देती थी अतः सूफियों ने अपने अभ्यास भवन को इस प्रकार खड़ा किया कि जिसका बाह्य आवरण और अन्तर्भावना एक होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते थे। वे मौत के घाट उतार दिये जाते थे, हल्लाज भी उन्हीं में से था, इसीलिए सूफियों ने प्रतीकों को अपनाया।

यह स्पष्ट हो है कि सूफियों की साधना प्रेम पर आश्रित है। उनकी रति का वास्तविक अवलम्बन ईश्वर ही है। परन्तु प्रत्यक्षतः ऐसा मानना संकटापन्न था, अतः उन्होंने रमणियों को प्रेम का आलम्बन बनाया। यही नहीं किशोर भी प्रणय प्रतीक बनाये गये। इस प्रथा से शनैः शनैः धनी एवं शासक वर्ग में व्यभिचार का बोलबाला हो गया। परन्तु सूफी लोग सांसारिक प्रेम को दैवी प्रेम का साधनमात्र मानते थे। रमणी या किसी किशोर को सम्बोधित कर वे उसी ईश्वर का विरह जगाते थे। अतः उनकी साधना में वासना की दुर्गन्ध न थी वरन् पूत प्रेम का सौरभ महकता था। जहाँ उन्हें इस प्रकार निर्भयता प्राप्त होती थी वहाँ इसका सौन्दर्य परम प्रियतम के सौन्दर्य का प्रतीक होता था। वह सौन्दर्य उनके लिए उस परम सौन्दर्य का स्मारक और प्रेम का उद्दीपक होता था। प्रायः देखा जाता है कि सुन्दर वस्तुएँ दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं और हृदय में एक मधुर चाह उत्पन्न कर देती हैं। यही बात लौकिक प्रेम-पात्रों की भी है। वे भी अपनी सुन्दरता से साधक के मानस को मुग्ध बना देते हैं और उसमें शत-शत कान्त कामनाओं की कल्लोलें उत्तालित करते हैं। सूफी भी इनसे प्रेरणा लेते थे और अपने प्रेम को विरह अग्नि में तपा-तपा कर कुन्दन बनाते थे। उनका इश्क मजाज उनके लिए प्रतीक का कार्य करता था, जिस से ही समझ पाते थे।

इस प्रेम की साधना में सूफियों के यहाँ मदिरा का बड़ा महत्व है। प्रायः सभी

कवियों ने प्रणय-मदिरा का सब गुनकर प्रयास किया है। मदिरा मनुष्य को कुछ समय के लिए निश्चिन्त बना देती है। इसी उन्माद में मनुष्य मतवाला हो जाता है और आनन्द-विभोर हो तल्लीनता को प्राप्त करता है। प्रणय भी मदिरा का कार्य करता है। इसका उन्माद भी मनुष्य को उन्मादी बना देता है। उमरखय्याम ने लिखा है कि प्रेमी को दिन भर प्रणय में ही उन्मत्त रहना चाहिए एवं व्याकुल होकर भटकता रहना चाहिए।[1] चैतन्य अवस्था में प्रत्येक वस्तु की चिन्ता घेरे रहती है परन्तु उन्माद में वस्तुओं का ध्यान नहीं रहता। यदि किसी का ध्यान रहता है तो केवल उसी का जिसने उन्मत्त बना दिया है। इब्नसतरी ने भी मदिरा-पान को अपने आप से छुटकारा पाने के समान माना है।[2]

इस प्रकार मदिरा ने सूफीमत में प्रेम का प्रतीक बनकर सबको मतवाला बना डाला। इस उन्मत्तता में उन्हें अपना प्रणय-पात्र साकी (मदिरा पिलाने वाला) जान पड़ता था। यही प्रेम की सुरा पिला-पिला कर प्रेमी को पागल बनाता था। प्रियतम का सम्पूर्ण शरीर उसके लिए मदिरा बन जाता था। फिर तो प्रणयी को ऐसा प्रतीत होता था कि मानो संसार के सभी पशु-पक्षी, वृक्ष आदि उसी के साथ एक ही मार्ग के अनुगामी हैं। यही कारण है कि उमरखय्याम, फरीदुद्दीन अत्तार और निजामी आदि कवियों ने कुक्कुट, हुदहुद एवं बुलबुल आदि पक्षियों को भी शाश्वत सत्य का ही उद्‌घाटन करते पाया है। रूमी की बाँसुरी तो वियोगावस्था की ही गाथा सुनाती है। उसमें जिस अग्नि का प्रकाश है वह प्रेम की ही अग्नि है। इस प्रकार प्रणय-पात्रों से मदिरा पी-पी इन प्रणयी कवियों ने जो कुछ कहा वह स्वयं मद-भरा है तथा लैला मजनूं, शीरीं फरहाद आदि प्रणयियों के प्रेमोपाख्यान सुना-सुना कर अपनी रचना में जो अनूठा रस भरा है वह साधकों के लिए सदैव सच्ची प्रेमोपासना का साधन बना रहेगा।

सूफियों ने अपनी रचनाओं में सांकेतिक शब्दों का बड़ा प्रयोग किया है। यथा सुगन्धि से तात्पर्य ईश्वरीय ज्ञान अथवा पूर्णता की आशा है। मदिरा प्रेम अथवा

---

[1] आशिक हमा रोजा मस्तो शैदा बादा।
दीवानओ शोरीदओ रुसवा बादा॥
दर हुशयारी गुस्सये हर चीज खुरेम।
चूं मस्त शवेम हरचे बादा बादा॥

—ईरान के सूफी कवि, पृ० ५१।५२।

[2] खराबाती शुदन अज खुदरिहाईस्त।

—ईरान के सूफी कवि, पृ० २९३।

उन्माद को जतलाती है। मदिरालय ससार, पूजा-स्थान अथवा प्रणयपात्र के शरीर को ध्वनित करता है। मदिरा पिलाने वाला स्वय प्रियतम है या आध्यात्मिक गुरु है। उष्ट्र का प्रयोग ईश्वर के प्रति यात्रा के लिए हुआ है। विद्युत ईश्वरीय प्रकाश एव सौन्दर्य ईश्वरीय पूर्णता के लिए प्रयुक्त हुए है। उन्माद से प्रयोजन हृदय का सासारिक पदार्थों से विमुख होकर ईश्वर में तन्मयता से है। इस प्रकार अन्योक्तियों द्वारा उन्होंने नित्य तत्त्व की ही व्याख्यात किया है। इनकी आड में वे प्रत्यक्ष अभियोग से बचते हुए अपने मत का प्रचार करते थे और स्वय साधना-मार्ग को निष्कटक बनाते थे। अप्रस्तुत से प्रस्तुत के प्रतिपादन द्वारा अदृश्य सचाइयों का जैसा रहस्य उद्घाटित हुआ वैसा स्वभावोक्तियों द्वारा नही हो सकता था। मूर्त से अमूर्त की व्याख्या बडी सुगमता से होती है और सुगमता से ही हृदयगम हो जाती है। इसी प्रथा का आश्रय लेकर अनेक सूफियो ने उलटवासियों का भी खूब प्रयोग किया। इनके आश्रय में बेटा बाप बन गया और जननी प्रणयिनी हो गई तथा प्रेयसी ने प्रेम का रूप धारण कर लिया। परन्तु यह विचारणीय है कि इन प्रतीकों के प्रयोग में सूफियों का प्रयोजन कभी भी वासना की पुष्टि नही रहा। ये तो केवल प्रतीक मात्र थे। वास्तव में तो वे उसी प्रियतम का निरूपण करते थे जो प्रेमरूप है, परम सुन्दर है तथा जिसका प्रेम और सौन्दर्य समस्त विश्व में व्याप्त हो रहा है।

सूफियों में अधिकाश सख्या ईरानियों की है। प्राय फारस का प्रत्येक विचारक ही कवि[1] हुआ है। उमरखय्याम, फरीदुद्दीन अत्तार, रूमी एव हाफिज आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खय्याम ने अपनी रुबाइयो में जो भाव भरे हैं वे समस्त ससार के लिए एक अनूठी निधि हो गये है। इन्ही के बल पर इसका जितना नाम इगलैड, अमेरिका में है उतना ईरान में भी नही।[2] सनाई, अत्तार तथा रूमी ने मसनवियों में जो प्रेमाख्यान लिखे है, वे यद्यपि दृष्टान्तरूप में है तथापि अन्तस्तल मे उसी प्रणय धार को प्रवाहित करते है जिसमें निमग्न होकर आत्मा अपने प्रियतम को खोजती है। रूमी की मसनवी तो रहस्य के उद्घाटन में अपनी समता नही रखती इसलिए ब्राउन ने रूमी को सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि माना है।[3] इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने गजल को भी माध्यम बनाया है। अरबी में इसका खूब प्रचार हुआ।[4]

---

[1] "Almost every Persian thinker has been a poet —(*Studies in Persian Literature, P 39*)

[2] "Omar Khayyam is a name more familiar in England and America than in Persia "—(*The Legacy of Islam, P 180*)

[3] *A Literary History of Persia, P 423*

[4] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृष्ठ १११।

पंचम पर्व

सूफीमत का भारत-प्रवेश

पूर्व पर्वों मे विस्तृत विवेचन किया जा चुका है कि वास्तव मे सूफीमत का र्भ उस रहस्यमयी भावना से ओतप्रोत है जो देश, काल की अपेक्षा किये बिना ो मानव मात्र के हृदय में उद्भूत हो सकती है। मुस्लिम हृदय में भी सघर्षमय ीवन एव वाह्याडम्बर के प्रति उपेक्षा और अरुचि का ही यह परिणाम था। जो ावना स्वतन्त्र रूप से उडना चाहती थी, वह प्रथम दड-भय से संकुचित हुई पडी ही, परन्तु पुन बल पाकर उठ खडी हुई और मुहम्मद साहब की मृत्यु के लगभग ो सौ वर्ष पश्चात् पूर्ण ओज के साथ बाह्य क्षेत्र में अवतरित हो गई। शनैं शनैः अरब ेसोपोटामिया, सीरिया, फारस आदि एशियाई देशो में इसने उडान भरी और शीघ्र ही मिश्र और स्पेन तक पहुँची।

सूफीमत का प्रचार और प्रसार फारस, मिश्र और सीरिया मे अधिक हुआ। सूफियो की अधिक सख्या फारस मे ही थी। फारस का प्राय प्रत्येक विचारक ही कवि हुआ और सूफी अधिकाशत सभी कवि थे। धुल नून मिश्री विस्ताम के वायजीद, इब्नुलअरबी, जुनेद, अल गजाली, फरीदुद्दीन अत्तार, जिली और जलालुद्दीन रूमी आदि ने इस मत के विकास में वाक् और लेखनी द्वारा जो सहयोग दिया वह सूफीमत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। इन्ही सफी कवियो की वाणी का प्रभाव दूर-दूर देशो मे भी पडा। जलालुद्दीन रूमी तो टर्की में बीस वर्ष रहा था और वहाँ की रहस्यवाद की कविता पर सूफीमत की छाप लगाने मे सफल हुआ था। जर्मन रहस्यवादी ऐकहर्ट टौलर और सूसो सूफीमत से प्रभावित थे[1] और महाकवि दाते भी इस प्रभाव से अछूता न बचा था[2]। उमरखय्याम का जैसा नाम अमरीका और इगलैंड में है वैसा फारस मे भी नही।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि ग्यारहवी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक इसका खूब उत्थान हुआ। वास्तव मे फारस मे अब्बासी शासन-काल इसका स्वर्ण-युग था, जिसमें इसके सौरभ ने महक-महककर दूरस्थित

---

thought, Many of the before them Parti. J Suso —(The Persian

m this source reached "—(The Legacy of Islam, P 210 11)

[3] The Legacy of Islam, P. 180

देशों को भी सुरभित बना दिया था। यद्यपि दाम्पत्य-भावना से मुक्त अरस्तात्
प्रेम ने यूरोपीय साहित्य पर अपनी मुद्रा अंकित कर दी थी। किन्तु फारस के प्रे
काव्य ने उसे नया ही रूप दिया।

भिन्न-भिन्न देशों में विकसित सूफीमत के रूप में कुछ भेद था। अरब
धर्मनिष्ठता एवं अन्धविश्वास ने स्वतन्त्र विचारधारा को पनपने न दिया। इस
प्रतिकूल फारस की आत्मा चिरकाल से सुसंस्कृत तथा स्वच्छन्द थी। अरब शासन
यद्यपि उसके कलेवर को मसल दिया था परन्तु आत्मा कभी भी अन्य रंग से रंजित
हुई। हजरत जोरोस्टर से लेकर अनेक विचारक फारस में उत्पन्न हुए, जिनकी विचा
पद्धति सदैव भविष्य के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करती रही। यही कारण था कि प्रे
की जो सरिता फारस में प्रवाहित हुई, वह अरब में नहीं। प्रेम-प्राचुर्य के अभाव में ह
अरबों की रहस्यवाद की कविता ईरानियों की अपेक्षा निम्न कोटि की है।[1] उस
तन्मयता और आवेश है परन्तु अनुक्रम, चिन्तन और सार का अभाव है। उदाहरणत
अरबी रहस्यवादी कवि उमर इब्नुल फारिद अपने समकालीन ईरानी कवि जलालुद्दीन
रूमी के समकक्ष नहीं बैठता। स्पेन का सूफीमत प्राय चिन्तन-प्रधान था।[2]

इस प्रकार सूफीमत विविध देशों में अभ्युत्थान को प्राप्त हुआ परन्तु फारस में
समता कोई न पा सका। जलालुद्दीन रूमी के समय तक यौवन का पूर्ण विकास
पाकर यह निधन की ओर अग्रसर हुआ।[3] इसके कई कारण थे। सूफियों की स्वतन्त्र
विचारधारा धार्मिक विधानों का प्रत्यक्ष उल्लंघन करती थी। इसके लिए धुलनून एवं
मंसूर अल-हल्लाज जैसे प्रतिष्ठित सूफियों को कठोरतम दंड भुगतने पड़े थे। वास्तविक
प्रेम की आड में व्यभिचार ने नैतिक जीवन का अन्त-सा कर दिया था। इसलिए जब
मंगोलों ने फारस पर आक्रमण किया तो खलीफा उनका सामना न कर सका और सन्
१२५८ ई० में अब्बासी शासन की समाप्ति हो गई। यद्यपि पचास वर्ष के अन्दर ही
मंगोलों ने मुस्लिम धर्म की दीक्षा ले ली तथापि संघर्ष ने सूफीमत को बड़ी हानि
पहुँचाई। इसके पश्चात् जब तैमूर ने पश्चिम एशिया में विध्वंस मचाया तो इस्लाम
का राजनैतिक ऐक्य नष्ट हो गया।

रूमी तक जिस उच्चता को लेकर सूफीमत का प्रसार हुआ था, पश्चात्

---

1 "The mystical poetry of the Arabs is far inferior as a whole, to that of the Persians."—(*A Literary History of the Arabs*, P. 325)

2 "... for Spanish Sufism was essentially speculative."—(*Arabic thought and its place in History*, P. 204)

3 Rumi (1270 A. D.) belongs to a period in which the Islamic religious and philosophical life had early exhausted itself in all directions."—(*The Metaphysics of Rumi*, P. 1)

वही गहनता को प्राप्त हो गया अत जनसाधारण के लिए दुरूह हो गया। धीरे-धीरे धार्मिक विधि विधानों, प्रमादपूर्ण जीवन, भिक्षा के विविध साधनों, एव अशिक्षित जनों की प्रवचना के नाना मार्गों ने इसमें प्रवेश पा लिया। आगे चलकर पाश्चात्य सभ्यता ने भी भौतिक दृष्टिकोण देकर मनुष्य को वहिर्प्रवृत्ति बनने में योग दिया। इसके अतिरिक्त शीया-सुन्नी विरोध ने तो ऐसा आघात दिया कि फारस में वह सदैव के लिए सो गया।

शीयाओ का विश्वास था कि इमाम ही धर्मरक्षक एव वास्तविक गुरु है। उनके विश्वासानुसार अली ही प्रथम इमाम थे। अली विवेकवान्, सयमी तथा साथ ही ईश्वर द्वारा अधिकारप्राप्त भी थे। वे मुहम्मद साहब के जामाता तथा उन्ही के द्वारा नियुक्त उनके उत्तराधिकारी थे। अत प्रथम तीनो खलीफा अबू बक्र, उमर और उस्मान उनकी दृष्टि में प्रतिष्ठा न पा सके। इमामो का क्रम अली से ही प्रारम्भ हुआ। अली के छोटे पुत्र तृतीय इमाम हुसेन का विवाह फारस की राजकुमारी से हो जाने पर यह सम्बन्ध और भी दृढ हो गया। इसी से उत्पन्न पुत्र चतुर्थ इमाम हुआ।

इससे स्पष्ट है कि शीया लोग शासकों में दैवी अधिकार मानते थे, जब कि सुन्नी प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो में विश्वास रखते थे। अरब सदैव से अधिकाशत प्रजा-तन्त्रवादी थे। इसके विरुद्ध फारस के लोग अपने शासको को दैवी मनुष्य मानते थे। सुन्नी तुर्कों के शासन-काल में फारस के शीया आधिपत्य-भार से दबे रहे। कुछ मगोलो ने उन्हे दबाव से मुक्त अवश्य किया, परन्तु स्वतन्त्रता की श्वास वे सफवी वश के राजत्व-काल में ही ले सके। पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ में ये सफवी वास्तव में सूफी थे।[1] प्रारम्भ में सहस्रो शीया मौत के घाट उतार दिये गये थे परन्तु आगे चलकर शीयामत राजवश ने अपना लिया और सुन्नियों की सख्या अधिक न होते हुए भी इसे बलात् प्रजा पर थोप दिया गया।

इसी शीयामत द्वारा सूफीमत का फारस में अन्त हुआ। सफवी शासन काल में सूफियो को अनेक प्रकार के पारुष्य और कठिनाइयो का सामना करना पडा। निर्वासन, बहिष्कार, दाह, हत्या आदि विविध अत्याचारो के कारण उन्हे पग-पग पर मृत्यु का मुख देखना पडता था। इस प्रकार शीघ्र ही सभ्यता, काव्य एव रहस्यवाद फारस से विदा हो गये।[2] मठ, आश्रम तथा एकान्त साधना के स्थान ध्वस्त कर दिये

---

[1] "At the beginning of the 15th Century, then, the Safawis were simply the hereditary pirs murshids, or spiritual directors of an increasingly large and important order of Darwishes or Sufis —(*A History of Persian Literature in Modern Times, P 19 20*)

[2] "Hence it was under this dynesty learning, culture, poetry and mysticism completely deserted Persia' —(*A History of Persian Literature in Modern Times, P. 27*)

गये। यहाँ तक कि सम्पूर्ण देश में शासकों के कृपापात्र तक न रहे। अन्त में सूफीमत को अफगानिस्तान और भारत में आश्रय लेना पड़ा।

मुगलों के शासनकाल में सूफीमत का बड़ा उत्थान हुआ। इससे यह न समझना चाहिए कि फारस से निर्वासित होने पर ही सूफीमत भारत में आया। ईसा की बारहवीं शताब्दी में ही यहाँ हम अनेक सूफी सम्प्रदायों के प्रवेश, प्रचार और सम्मान को पाते हैं। इससे बहुत पूर्व ही मध्य पूर्व के देशों से भारत का सम्पर्क स्थापित हो गया था। अरब्ला का महुर देशों का अनुर है।[1] इससे प्रतीत होता है कि फारस से भारत का सम्पर्क अति प्राचीन था। बुद्धमत का प्रचार भी इस्लाम से पूर्व ही पूर्वी एशिया और ट्रैन्सोक्सियाना में होने लगा था।[2] उस समय बल्ख में बौद्ध मठ विद्यमान थे। अरब के दक्षिण तथा मेसोपोटामिया में भी भारतीयों का प्रवेश बहुत पहले ही हो चुका था। सूफियों ने माला का प्रयोग बौद्धों से सीखा था।[3] ई० सन् ९७३ में उत्पन्न हुए अल-मारी ने लिखा है कि शहद खाना निषिद्ध है और अहिंसा का पालन करना चाहिए। वानक्रेमर का कथन है कि मारी ने ये बातें जैन धर्म से ली थीं।[4] बायजीद ने फना के सिद्धान्त को सिन्ध निवासी अबू अली से सीखा था।[5] मन्सूर अल हल्लाज तो स्वयं भारत में इन्द्रजाल के अध्ययनार्थ आया था।[6] इस प्रकार धार्मिक एवं सामाजिक विचार-विनिमय चिरकाल से होने लगा था तथापि सन् १००० ई० से पूर्व यूनान की अपेक्षा भारत का प्रभाव मुसलमानों पर कम पड़ा था।[7]

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व ही योगियों का प्रभाव सूफियों पर पड़ गया था। सूफियों ने अनेक स्थानों पर योगियों के आसन और प्राणायाम को अपना लिया था। अबू सईद बिन अबिल खैर, जिसकी मृत्यु सन् १०४९ ई० में हुई, योगियों की भाँति ध्यान लगाता था।[8] आगे अनेक प्रतिष्ठित सूफियों ने भारत की यात्रा भी की। फरीदुद्दीन अत्तार स्वयं भारत में आया।[9] सादी पंजाब में भ्रमण करता हुआ गुजरात तक पहुँचा और अनेक प्रकार के लोगों से मिला।[10] हाफिज अपने दीवान के कारण इतना प्रसिद्ध हो गया था कि भारतवर्ष के बादशाह उसके दीवान से शकुन उठाया करते थे।[11] मुहम्मदशाह बहमनी ने उसे निमन्त्रण देकर दक्षिण भारत में बुलाया भी था

---

1 *The Spirit of Islam, P. 22.*

I, P. 12.

परन्तु किसी दुर्घटनावश वह न आ सका।

इन घटनाओं से प्रतीत होता है कि भारतवासियों की अनेक प्रथाओं एवं तत्वभूत बातों को अपनाकर सूफी अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इसीलिए सूफी सन्त भारत पधारे थे। उनमें से कुछ केवल चामत्कारिक रहस्यों का अध्ययन करने, कुछ आध्यात्मिक विवरण लेने तथा कुछ भारतीय वायुमण्डल से परिचय पाने आये थे। अफगानिस्तान के मार्ग से अनेक सूफी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले लोग भारत में आए। विदेशों से धर्म-प्रचारार्थ आने के कारण उनमें अदम्य उत्साह था। वे किसी व्यवस्था के आदेशानुसार नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में आये थे। ईश्वरीय सेवा उनका ध्येय था। उनका जीवन पवित्र होने के कारण लोगों को उनके आचरण शीघ्र ही ग्राह्य हो गये। उनकी प्रधान शिक्षा थी बहुदेवतावाद के प्रतिकूल एकेश्वरवाद की स्थापना। यहाँ की समाज का ढाँचा ऐक्य के अनुकूल न था, अतः उन्होंने जाति-पाँति एवं वर्ण के भेद को निस्सार बतलाया और शीघ्र ही अनेकों पददलित एवं आपन्न व्यक्तियों को अपना अनुगामी बना लिया। उनका प्रेम-व्यवहार लोगों को लुभाने में जादू का कार्य करता था, अतः वे मुसलमानों में ही नहीं हिन्दुओं में भी प्रचार करते थे। जिसके परिणामस्वरूप अनेक हिन्दू भी उनकी प्रथाओं के अनुयायी हो गये। परन्तु मुसलमानों में इसका अच्छा प्रसार हुआ।

आइने अकबरी में अबुल फजल ने अपने समय में चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।[1] वे इस प्रकार हैं—चिश्ती, सुहरावर्दी हबीजी, तफूरी, कर्खी, सकती जुनैदी, काजरूनी, तूसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी अधमी और हुबैरी। इनकी अनेक शाखाएँ फैलीं। चिश्ती सम्प्रदाय के अतिरिक्त भारतीय सूफी सम्प्रदायों में कादरी, सुहरावर्दी, शत्तारी और नक्शबन्दी अत्यन्त प्रसिद्ध थे।[2] आज भी अधिकांश भारतीय मुसलमान इनमें से किसी न किसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

ख्वाजा हसन निजामी के अनुसार सुहरावर्दी सूफी सर्वप्रथम भारत में आये थे और सिन्ध में आकर बसे थे।[3] सैयद मुहम्मद हाफिज ने अन्वेषणों के आधार पर

---

1 "[illegible] in his [illegible] khiyal [illegible] Zaydi; [illegible] History of Sufism Introduction P 7 8)

2 'Other popular order of Sufis in India as already stated, were '—Qadari, Suharawardi, Shattari, Naqshbandi '—(Outlines of Islamic Culture Vol 2, P 546)

3 "According to Khawajah Hasan Nizami the Suhrawardi Sufi were the first to arrive in India and made their Headquarters in Sind —(An Introduction to the History of Sufism Introduction, P 8)

यह निश्चित किया है कि भारत का सर्व प्राचीन सूफी सम्प्रदाय चिश्ती है।[1] चिश्ती सम्प्रदाय के संस्थापक अबू-अब्द-अल् चिश्ती थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने सन् ११९२ ई० में इसे भारत में स्थापित कर प्रचारित किया था। ये सीस्तान अथवा अफगानिस्तान में चिश्त मे उत्पन्न हुए थे। किन्तु तत्पश्चात् अपने माता-पिता के साथ खुरासान और वहाँ से निशापुर चले गये थे। निशापुर में ही ये गुरु-दीक्षा लेकर दीर्घकाल तक रहे। मक्का-मदीना की यात्रा के समय मार्ग में इन्होंने अनेक प्रतिष्ठित सूफियों से परिचय प्राप्त किया, जिनमें शेख अब्दुल कादिर जिलानी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अन्त में ये गजनी भी गये, जहाँ से सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गौरी की सेना के साथ भारत आये। यहाँ आकर अनेक स्थानों में भ्रमण करने के पश्चात् सन् ११९५ ई० में अजमेर को इन्होंने अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया। उनका समाधि-स्थान अजमेर में ख्वाजा साहब की प्रसिद्ध दरगाह है। इनकी शिष्य-परम्परा में कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, शेख फरदुद्दीन शकर गंज, निजामुद्दीन औलिया, अलाउद्दीन अली अहमद साबिर और शेख सलीम अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। कहते हैं कि ख्वाजा कुतुबुद्दीन की समाधि समीप होने के कारण ही बड़ी मीनार का नाम कुतुब-मीनार पड़ा था।[2] निजामुद्दीन औलिया की समाधि भी दिल्ली में ही है। इनके अनेक शिष्य हुए, जिनकी परम्परा ने चिश्ती सम्प्रदाय को शीघ्र ही भारत में दूर-दूर तक प्रसारित कर दिया। खुसरो भी इन्हीं का शिष्य था। इनकी शिष्य परम्परा के सभी सदस्य निजामी कहलाते हैं। निजामुद्दीन का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी नासिर अल दीन महमद (१३५६ ई०) था जो चिराग़े दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध था।[3] इस सम्प्रदाय में पश्चात्काल के सन्तों में शेख सलीम ने (१५२७ ई०) अधिक ख्याति प्राप्ति की। कहते हैं कि इन्हीं के आशीर्वाद से अकबर के पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम इन्हीं के नाम पर सलीम रखा गया था।[4] फतहपुर-सीकरी की दरगाह में इनकी समाधि है। अठारहवीं शताब्दी में नूर मुहम्मद नाम के सूफी कवि भी इसी सम्प्रदाय के एक दीप्तिमान सितारे थे।

अजमेर, दिल्ली एवं पानीपत आदि स्थानों पर जो इन सन्तों की दरगाहें बनी हुई हैं, वे अधिकांश मुसलमानों के लिए आकर्षण का कारण रही हैं। प्रायः प्रतिवर्ष वहाँ उत्सव होता है जो उर्स कहलाता है और समाधिस्थ सन्त की बरसी के रूप में मनाया जाता है। सहस्रों मुसलमान ही नहीं हिन्दू भी वहाँ जाते हैं और श्रद्धा-

---

1 "Our Modern Authority on it is based upon the secret researches of Syed Mohamad Hafeez, who considers that the oldest Dervish Order in India is the Chisti Order." —(*Islamic Sufism P. 285*)

2 *Islamic Sufism P. 285*

3 *Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol XI, P. 68.*

4 *Outlines of Islamic Culture, Vol. II, P 546*

भाव से विधि-विधानो में भाग लेते है तथा उत्सव मनाते है। उर्स पर कीर्तन होता है जो कव्वाली के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें रहस्यात्मक भजन एव गीत गाए जाते है। इन दरगाहो में प्रारम्भ से ही निर्धन व्यक्तियो के लिए आश्रय एव मदरसो का प्रबन्ध होता रहा है, जिनका सम्पूर्ण प्रबन्ध धनी-मानी व्यक्तियो के द्वारा प्रदत्त द्रव्य से किया जाता रहा है।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रथम नेता सिन्ध में आकर बसे थे, अत सिन्ध से लेकर मुल्तान तक का प्रदेश ग्यारहवी शताब्दी से ही सूफीमत का केन्द्र रहा है। सर्वप्रथम मुल्तान के ही प्रसिद्ध तत्वज्ञानी बहा अरहक्क बहा अल्दीन जकरिया (११७०-१२६७) के नेतृत्व में ही इस सम्प्रदाय ने अच्छा प्रभावशाली कार्य किया और शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली। इनका इस सम्प्रदाय के मूल प्रणेता शेख अल्दायुख शिहाब अल-दीन सुहरावर्दी से बगदाद में परिचय हुआ था। वही इन्होने उनकी शिष्यता को ग्रहण किया।

इस सम्प्रदाय मे अनेक सन्त हुए जिन्होने सिन्ध, पजाब, गुजरात, बिहार और बगाल आदि प्रान्तो में सूफीमत का प्रचार किया। अनेक स्थानो पर धार्मिक एव सास्कृतिक केन्द्र भी स्थापित हुए। जलालअलदीन तबरीजी (१२४४) बगाल गया और वहाँ रहकर बडा प्रचार किया। सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश[1] (१२९१), सईद जलाल (मखदूम जहानियान) और बुरहान अल्दीन कुतुबे आलम (१४५३) आदि कुछ सन्त अधिक प्रसिद्ध हुए। पठान एव सैयद वश के शाहो पर इस सम्प्रदाय का बडा प्रभाव था। बगाल के राजा कस का बेटा जतमल तो स्वय सूफी सन्त हो गया था और शाह जलालुद्दीन के नाम से ख्यात हुआ था। दक्षिण में भी इस सम्प्रदाय ने बडा महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। हैदराबाद और बीजापुर के राज्य भी इसके प्रभाव से अछूते न बचे। बाबा फक्र अलुदीन ने पनुकोडा के राजा और उसकी बहुत-सी प्रजा को दीक्षित किया था। इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी तक इस सम्प्रदाय न सम्पूर्ण भारत में अच्छा प्रचार किया और सहस्रो व्यक्तियो को अपना अनुयायी बनाया।

कादरी सम्प्रदाय के संस्थापक बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जिलानी थे।[2] ये सन् १०७८ से ११६६ ई० तक विद्यमान रहे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्राय सभी देशों में पाये जाते है। भारत में इस सम्प्रदाय का प्रवेश सन् १४८२ ई० मे हुआ। प्रारम्भ में सैयद बन्दागी मुहम्मद गौथ ने सिन्ध में अच्छा प्रचार किया। उनके पश्चात् इस सम्प्रदाय में अनेक सत हुए जिन्होन भारत भर में इसका सदेश पहुँचाया।

'bd al qadır Jılanı of
—(An Introduction

उनमें से शेख मीर मुहम्मद (मियामीर) जो लाहौर में १६३५ ई० में मरा तथा जो दाराशिकोह का आध्यात्मिक गुरु था और ताज अल्दीन (१६९८) जिसकी समाधि औरंगाबाद में है अधिक प्रसिद्ध हुए। प्रसिद्ध सूफी कवि सैयद बरकतुल्ला भी कादरी सम्प्रदाय में विशेष आस्था रखते थे।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय तुर्किस्तान के ख्वाजा बहा अलुदीन नक्शबन्द ने संस्थापित किया था। इनकी मृत्यु १३८८ ई० में हुई। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भारत, चीन, तुर्किस्तान, जावा और टर्की में पाये जाते हैं। टी० डब्ल्यू० आरनोल्ड[२] के अनुसार शेख अहमद फारुकी सिरहिन्दी ने, जो १६२५ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुए, इसे भारत में चलाया था। किन्तु प्रतीत होता है कि ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह बैरंग, जिनका निधन-काल १६०३ ई० है, इसे भारत में लाये थे। यह सम्प्रदाय इन आठ नियमों पर आश्रित है—श्वास में चैतन्य, चरणों पर दृष्टि, यात्रा, एकान्तवास, ईश्वरीय स्मृति, ईश्वर के प्रति एकान्त-गमन, ईश्वरीय ध्यान और आत्म-विस्मृति।[३]

शत्तारी सम्प्रदाय की नींव सन् १४१५ ई० में अब्दुल्ला शत्तार ने डाली थी। सुमात्रा, जावा और भारतवर्ष ही इसके प्रधान केन्द्र हैं। इस सम्प्रदाय में मुहम्मद गौष (१५६२ ई०), वजीह अलुदीन गुजराती (१५८९ ई०) और सन्त शाहेपीर (१६३२ ई०) उल्लेखनीय हैं। मुहम्मद गौष तो हुमायूँ को अपना शिष्य समझता था।[४] यह सम्प्रदाय मानता है कि आत्म-निषेध में विश्वास नहीं करना चाहिए। आत्म-लोप का विचार सत्यरूप नहीं है। ऐक्य से तात्पर्य एक ही पदार्थ को देखना और जानना है। अत 'मैं मैं हूँ और मैं एक हूँ' यही एक सूफी को मान्य होना चाहिए। अपनी तनवी आत्मा का हनन करने के लिए तप की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वरीय ध्यान करना भी व्यर्थ है। शत्तारी सूफियों का कहना है कि मनुष्य का पाशविक रूप ईश्वर की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं है। ईश्वर विश्व का शासक है अत' उसी की आराधना से वह प्राप्त हो सकता है। महामिलन[५] में आत्म-लय (फना) की अवस्था जो ये नहीं मानते, क्योंकि उसमें ध्याता ध्येय से पृथक होने के कारण द्वित्व की

भावना स्पष्ट झलकती है, जो अद्वैत की भावना अर्थात् वहदतुल वजूद के सिद्धान्त के अनुकूल नही पडती।

उपर्युक्त सम्प्रदायो के सूक्ष्म विवेचन स प्रतीत होता है कि इनका पूर्ण उत्थान मुगल शासन-काल में ही हुआ। अकबर, जहाँगीर आदि अनेक मुगल सम्राट् पीरो के परम भक्त थे। शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह तो मुस्लिम और हिन्दू रहस्य-ज्ञान का अच्छा वेत्ता था। उसने सूफीमत और वेदान्त का गम्भीर अध्ययन किया। तदुपरात उसने दोनो मतो के गूढ सिद्धान्तों की तुलनात्मक विवेचना की और बतलाया कि उनमें कोई तात्विक अन्तर नही है। कलेवर भिन्न अवश्य है, परन्तु आत्मा एक ही है। बहादुरशाह भी शाह होते हुए एक सन्त से कम न था। उसकी अनेक कविताओ मे सूफीमत के उच्च सिद्धान्तो की बडी विशद व्याख्या है।

इन सभी सम्प्रदायो का आध्यात्मिक नेता, जो अन्य मुस्लिम देशो मे प्राय शेख कहलाता है, भारतवर्ष में मुरशिद या पीर कहलाता है।[1] भारतवर्ष मे पीरों की अत्यधिक मान्यता हुई। मुसलमान तो इन्हे सम्मान देते थे, हिन्दू भी प्राय श्रद्धावश, कामनावश, अथवा नृत्य-वाद्य से पूर्ण ईश्वर के कीर्तन मे सम्मिलित होकर पीरो के दर्शन करते थे। कुछ सूफी फकीर झाड-फूँक भी करते थे, जिससे मूर्ख एव अनजान लोगो को चमत्कार दिखाकर अपना भक्त बना लेते थे। यही नही धीरे-धीरे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी इनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। वाङ्माधुर्य चमत्कृति के साथ मिलकर द्रुतग्राह्यता का कारण होता था। यह प्रभाव हमे आज भी दृष्टिगोचर होता है।

पीर ही विविध सम्प्रदायों की शाखा-प्रतिशाखाओ के व्यवस्थापक होते आये है। या तो ये नियुक्त होते है या उत्तराधिकार स बनते है। समयानुसार विधान निर्मित कर व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी इन्ही पर होता है। नवीन शिष्यो को दीक्षित करना एव उन्हे ईश्वरीय ज्ञान प्रदान करना भी इन्ही का कार्य है। खानकाहो में पीरो का निवास-स्थान होता है। पीर की शिष्य-परम्परा में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक तो वे जो स्थान-स्थान पर जाकर निर्धनो के भोजन, वस्त्र एव अध्ययन के लिए द्रव्य आदि एकत्र करते है और दूसरे वे जो शान्त, एकान्त अथवा विरक्त जीवन बिताते है। इन खानकाहो का मुस्लिम जनता पर बडा प्रभाव रहा है।

इन पीरो ने आध्यात्मिक क्षेत्रो मे ही नहीं वरन् सामाजिक एव राजनैतिक क्षेत्र में बडा प्रभावशाली कार्य किया। अपने जीवन-काल में बहुधा ये बडी प्रतिष्ठा के पात्र रहे और निधनोपरान्त उनकी समाधि पर बड़-बडे भवन बन जो सदैव से प्रधानत मुसलमानो की धर्म-यात्रा के केन्द्र रहे है। भारतवर्ष में दिल्ली, अजमेर, मुल्तान,

[1] "The spiritual guide known as Sheykh in Islamic countries is commonly known as Murshid or pir in India" — (*An Introduction to the History of Sufism, Introduction, P 8*)

फतहपुर सीकरी, गुजरात तथा दक्षिण में हैदराबाद आदि अनेक स्थानों पर समादृत पीरों के समाधि-मन्दिर बने हुए हैं। इनमें से अनेक स्थानों में प्रतिवर्ष उत्सव भी होते हैं, जहाँ सहस्रों नर-नारी जाते और विधानानुसार धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। लोग अनेक प्रकार के उपहार ले जाते हैं। प्रीति-भोज भी होते हैं जिनमें पक्वान एवं मिष्टान्न के अतिरिक्त ओदन का प्राधान्य होता है। पीरों की समाधि पर होने वाले उत्सवों को उर्स कहा जाता है। यहाँ गायन और वादन का विशेष प्रबन्ध होता है। कव्वाल मृत पीर की प्रशंसा में कव्वाली गाते हैं। इस अवसर पर निर्धनों को मिष्टान्न आदि पदार्थ वितरित किये जाते हैं। समाधि पर विपुल मात्रा में संचित हुआ सुमन-भार आगन्तुकों को न्यूनाधिक रूप में दे दिया जाता है, जिसे वे पवित्र उपहार समझकर घर ले जाते हैं और आधि-व्याधि के निवारणार्थ काम में लाते हैं। इस पीर-पूजा का प्रभाव हिन्दुओं पर भी अधिक रहा है। यही कारण है कि सहस्रों हिन्दू स्त्रियाँ आज भी समाधियों पर जाती और फूल-बताशे चढ़ाती हैं। फकीरों से झाड़-फूंक कराती हैं और तावीज, गंडा एवं भस्म आदि लेकर उन्हें विविध प्रकार से सम्मानित करती हैं। परन्तु जागृतिवश यह प्रतिष्ठा कम होती जा रही है, क्योंकि पूर्व की सी पवित्रता अब पीर और फकीरों में नहीं रही वरन् जादू-टोना आदि उपचारों ने उन्हें पथ-भ्रष्ट कर दिया है।

भारतवर्ष में यह एक प्रमुख बात रही है कि इनके सिद्धान्त अधिकांशतः समान रहे हैं अतः एक सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय को छोड़े बिना ही दूसरे सम्प्रदाय को ग्रहण कर सकता है। हिन्दुओं के वर्णाश्रम भेद की भाँति यहाँ भेद नहीं है। कोई भी मुसलमान किसी भी सम्प्रदाय में दीक्षित हो सकता है और अपने को चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी, शत्तारी या नक्शबन्दी कहला सकता है। मुसलमानों में समाधियों की यात्रा, समाधि पर दीप जलाना एवं भोजन प्रदान करना आदि प्रथाएँ हिन्दुओं से आईं।[1] हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा का प्रचार था, जिसका प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। उनके यहाँ पीरों की समाधि के अतिरिक्त और कोई स्थान न था कि जहाँ श्रद्धाभाव प्रदर्शित किया जाय अतः वे स्थान ही धूप-दीपादि के स्थान बने।

उपरिलिखित विवेचना से प्रतीत होता है कि भारत में सूफीमत का स्थापन १२वीं शताब्दी से हुआ और मुगल शासन-काल में इसका अत्यधिक प्रचार और प्रसार हुआ। किन्तु इससे पूर्व भी सूफी सन्त सिन्ध पर सन् ७१२ ई० में प्रथम मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् भारत के पश्चिमी भाग में आने लगे थे। मुल्तान इनका प्रधान केन्द्र था। प्रारम्भ में आने वाले इन सन्तों का नाम सूफी न रहा हो परन्तु

---

1 *An Introduction to the History of Sufism Introduction. P. 15*

नकी भावना सूफी ही थी। नौवी शताब्दी से तो स्पष्टत ही यह सूफी कहे जाने लगे थे।

मुसलमान जिस समय भारत मे आए थे शिव-पूजा का अधिक प्रचार था था उनकी स्थापना के समय सिद्ध और नाथ योगियो का बोलबाला था।[1] सिद्ध, वज्रयानी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे और तान्त्रिक पथ के अनुगामी थे। योगी लोग शिव के आराधक थे। यद्यपि शकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था तथापि शिव की महत्ता को योगियो ने अगीकृत किया। परन्तु उनकी यह मान्यता ब्रह्म की अनन्यता में बाधास्वरूप न थी। आगन्तुक सूफियो का आध्यात्मिक स्रोत फारस का प्रम काव्य रहा हो परन्तु तत्पश्चात् यहाँ के वातावरण ने यहाँ के सूफी सन्तो पर बडा प्रभाव डाला। उन्होंने भारतीय जनता पर तो अपना प्रभाव डाला ही था किन्तु योगियों का भी इन पर कम प्रभाव न पडा। हिन्दी काव्य में सूफी सन्तो की मृगावती, मधुमालती, पद्मावती, चित्रावली, अनुराग बाँसुरी एव इन्द्रावती आदि जितनी भी प्रेमाख्यानक रचनाएँ है उनमें नायक को योगचर्या का सम्पादन करना पडा है। स्थान-स्थान पर गोरखनाथ, गोपीनाथ तथा भर्तृहरि का नाम आता है। वेषभूषा तथा आसन भी योगियो के ग्रहण किये गये हैं। शिव का शिवत्व तो व्यस्त-सा दीख पडता है। कहने का तात्पर्य यह है कि योग की माया ने सूफियो को भी वशीभूत कर लिया था। गाँवो में तो अब तक सूफी फकीर योगी नाम से प्रसिद्ध हैं।

वह समय भक्ति के आविर्भाव का समय था। मुस्लिम अत्याचारो से खिन्न मानव मन को सात्वना का कोई आधार और साधन न दीख पडता था। अत वह अन्त प्रवृत्ति हो चला था। भक्ति-प्रवाह सगुण एव निर्गुण धारा रूप में प्रवाहित हो रहा था और विविध प्रकार से चित्त-शान्ति के उपाय प्रकाश में आ रहे थे। वेदान्त का प्रतिपादन भी विशिष्टाद्वैत द्वैत, शुद्धाद्वैत, और द्वैताद्वैत रूप में हो रहा था। चौदहवी शताब्दी से तो भक्ति का बहुमुखी रूप प्रचण्डता से प्रसार पाने लगा था। सूफियो का प्रभाव ज्ञानाश्रयी सन्तो पर अवश्य पडा। कबीर के निगुणवाद में सूफी विचारधारा का गम्भीर मिश्रण है। परन्तु हम यह मानन के लिए उद्यत नही है कि भारत में रहस्यवाद सूफियो के द्वारा आया और न यह मान सकते है कि प्रणयवाद की उद्भूति का मल स्रोत सफीमत ही है। सम्पूर्ण उपनिपद् साहित्य रहस्यवाद से ओतप्रोत है। इन्ही में से निसृत अद्वैत का प्रभाव तो मध्य-पूर्व के सूफियो पर पडा था, जिसने सूफीमत को एक नया निश्चित रूप दे दिया था। भागवत में गोपकृष्ण की लीला के रूप में प्रणयवाद का हम बडा सुन्दर चित्रण पाते है। इससे ज्ञात होता है कि भारत के लिए

---

[1] *The Mystics, Ascetics and Saints of India, P. 115*

यह नूतन भावना न थी प्रत्युत् इसके प्रतिकूल सूफी सन्तो ने जितने भी प्रेमाख्यान लिखे वे सभी हिन्दू कथाओ के आधार पर एव भारतीय सस्कृति के आश्रय में ही लिखे। हाँ, इतना मानना पडेगा कि निराकारोपासना में प्रणय की पद्धति सूफियो के ही अनुकूल है तथा हिन्दी साहित्य पर इसका प्रभाव पडा है।

निर्गुण धारा के अतिरिक्त भक्ति-काल में सगुणोपासना का भी व्यापक प्रचार चला। तुलसी और सूर से पूर्व ही यह भावना प्रकट हो गई थी। जब निराकार और ध्येय ईश्वर अपने गूढ और नीरस रूप से मनुष्य को शान्ति प्रदान न कर सका तो ईश्वर का वह लोकरजक रूप हमारे समक्ष आया जो ससार के लिए आदर्श है, भक्तो के लिए सौम्य अत स्पृह है तथा ज्ञानियो के लिए चिन्त्य एव प्रकाशरूप है। परन्तु यह स्वरूप सूफीमत से भिन्न है। ईश्वर के सगुण एव निर्गुण रूप ने सूफी सन्तो में एक ऐसी भावना जागृत कर दी थी जिसमें हम बडा अद्भुत मिश्रण पाते है। एक ओर हम भारतीय सूफियो की रचनाओं में धर्मनिष्ठता की प्रवृत्ति पाते हैं तो दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म का अनोखा विवेचन। वास्तव में यहाँ कुरान का अल्लाह हैं ईश्वर बन गया हैं जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओ का भी हाथ है। सूफी रचनाओं क अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता हैं कि लेखक सन्त किसी लक्ष्य की ओर बढता अवश्य है परन्तु जब उसे चतुर्दिक् भिन्न किन्तु ग्राह्य वातावरण दृष्टिगोचर होता है तो उसे भी अपनाने आगे बढता है। मुस्लिम और हिन्दू-भावना का यह बडा सुन्दर और विचित्र चित्रण है।

इस भारतीय वातावरण का सूफी कवियो पर ऐसा प्रभाव पडा कि भावो के मिश्रण के साथ उन्होने भाषा को भी अपनाया। प्रारम्भ में आने वाले सूफियो की भाषा प्राय फारसी थी। यहाँ तक कि चौदहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमीर खुसरो की अधिकाश रचनाएँ फारसी में ही हैं। यद्यपि प्रधानत ये फारसी के ही सूफी कवि थे और उस भाषा में 'मसनवी शीरी व खुसरो' तथा 'मसनवी लैला व मजनू' आदि मसनवियाँ लिख चुके थे तथापि इन्होंने हिन्द की भाषा को अपना लिया था और उसमें काव्य निर्माण करने लगे थे। इनके समय तक मुल्तान और लाहौर सूफियों के केन्द्र थे। ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महमूद गजनवी द्वारा दूर तक ससैन्य भारत में प्रवेश के पश्चात् मुसलमानो के साथ विविध भाषा-भाषी भारतीयो के सम्पर्क ने एक नई भाषा को जन्म दिया था, जिसमें अरबी, फारसी, पजाबी एव खडी बोली का मिश्रण था। मुहम्मद गौरी द्वारा सन् ११६३ ई० में मुस्लिम राज्य की स्थापना के अनन्तर तो यह सम्पर्क और बढ गया और मिश्रित भाषा को अच्छा बल मिला। इसे वे लोग हिन्दवी कहते थे। इस भाषा में सर्वप्रथम अमीर खुसरो ने काव्य-निर्माण किया।

मुहम्मद तुगलक और अलाउद्दीन की दक्षिण-विजयों के साथ यह भाषा दक्षिण

को भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है।[1] तब से भक्ति का प्रवाह अखण्ड रूप से । इसका एक अकाट्य प्रमाण यह है कि ईसा से १४३ वर्ष पूर्व पंजाब के ग्रीक ा एँटी आल्कीडस के राजदूत तथा भारत के क्षत्रप हेलिओडोरस को भी भक्ति ने ृष्ट किया था तथा वह भागवत हो गया था।[2]

पाणिनि ने वासुदेव, अर्जुन आदि का नाम लेते हुए बतलाया है कि वासुदेव भक्तों को वासुदेवक कहते हैं।[3] इससे प्रतीत होता है कि वासुदेव सम्प्रदाय उस समय प्रमान था। इससे पूर्व महाभारत के अनुसार वासुदेव या नारायण विष्णु के रूप में ात होने लगे थे। यही नहीं ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्रादि देवता हमें विष्णु की अर्चना ते मिलते हैं।[4] ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मगस्थनीज ने भी शौरसेनी यादवों ा हरिकृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है।[5] यह पूजा कर्मकाण्डों तथा यज्ञों के प्रति ा का ही प्रतिफल था। सम्भव है कि मनुष्यों ने भक्ति की तरंग में कल्लोलित कर विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की हों और सगुणोपासना का प्रचार किया हो, परन्तु ा से दो सौ वर्ष पूर्व हम मूर्तियों का उल्लेख नहीं पाते। सर्वप्रथम इसी काल में री के शिलालेख में सकर्षण और वासुदेव की मूर्ति-पूजा के निमित्त मन्दिर-निर्माण उल्लेख मिलता है।[6]

---

[1] मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

—गीता, अ० १८, श्लोक ६५।

[2] इसके लिए ग्वालियर राज्य में भिलसा प्रदेश में बेसनगर में स्थित ईसा पूर्व की ी शताब्दी के हेलिओडोरस के विष्णुस्तम्भ पर निम्नलिखित लेख पढ़िये—

"देव देवस्य वासुदेवस्य गरुडध्वज अयकारितो हेलिओडोरेण भागवतेन दियस- ए तखसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस्य अन्तलिकितस उपता सकास रजो ेपुतस् .....

—*J R. A S 1909 Oct Pp (1055 56)*

[3] वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्। —अष्टाध्यायी ४।३।९८।

[4] सब्रह्मका सरुद्राश्च सेन्द्रादेवा सहर्षिभि. ॥३०॥

[5] अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठ

षष्ठ पर्व

भक्ति-मार्ग

सिद्ध सम्प्रदाय के नीरस योग और आडम्बरपूर्ण तान्त्रिक उपचारों के पश्चात् बारहवीं शताब्दी में जिस सरस मधुर भक्ति की धारा दक्षिण से उत्तरी भारत की ओर तरंगित हुई उसका मूल स्रोत शुद्ध भारतीय था। डा० ग्रियर्सन आदि कतिपय विद्वान् का यह कहना कि इस धारा का उद्गम ईसाई मत में है, नितान्त असत्य और भ्रमपूर्ण है। तथा मुसलमानों के भारत प्रवेश के अनन्तर सूफी प्रचार अथवा संघर्ष ने इसे जन्म दिया, यह विचार भी युक्तियुक्त नहीं है। भारत अति प्राचीन काल से ही भक्ति प्रवण रहा है। आर्य जाति के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में भी इस भक्ति के बीज पाये जाते हैं। प्रशंसा भक्ति का एक अंग है। वेद में भी देवों की जो विविध स्तुतियाँ हैं उनमें भक्ति-भाव अन्तर्निहित है। प्रधानत वरुण के प्रति उद्गीत प्रशंसापूर्ण ऋचाओं में हम दास्य-भाव की प्रधानता पाते हैं।[1] यह दास्य-भाव भी भक्ति का एक प्रधान अंग एवं लक्षण है।

संहिता काल के उपासना-काण्ड के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञादि कर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। इस व्यवधान के अनन्तर उपनिषद् काल में हम विचार तथा चिंतन का प्राधान्य पाते हैं। इसका विशेष परिपाक बौद्ध काल में हुआ। किन्तु चिन्तन मनुष्य के कोमल और मधुर भाव को तृप्त न कर सका, अत एव साकार आलम्बन की आवश्यकता हुई और भागवत धर्म संस्थापित हुआ। ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग का संघर्ष महाभारत काल तक चलता रहा अन्त भक्ति तथा कर्म का समन्वय प्रथम बार

---

[1] तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भि ।
अहेलमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयु प्रमोषी ॥११॥

—ऋग्वेद, म० १, सू० २४।

कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ॥१॥
कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥२॥
अय हू तुभ्य वरुणो ह्णीते ॥३॥
अरं दासो न मीळ्हुषे कराणि ॥७॥

—ऋग्वेद, ७, ८६।

हमको भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है।[1] तब से भक्ति का प्रवाह अखण्ड रूप से बहा। इसका एक अकाट्य प्रमाण यह है कि ईसा से १४३ वर्ष पूर्व पजाब के ग्रीक राजा ऐंटी आल्कीडस के राजदूत तथा भारत के क्षत्रप हेलिओडोरस को भी भक्ति ने आकृष्ट किया था तथा वह भागवत हो गया था।[2]

पाणिनि ने वासुदेव, अर्जुन आदि का नाम लेते हुए बतलाया है कि वासुदेव के भक्तो को वासुदेवक कहते है।[3] इससे प्रतीत होता है कि वासुदेव सम्प्रदाय उस समय विद्यमान था। इसमे पूर्व महाभारत के अनुसार वासुदेव या नारायण विष्णु के रूप में पूजित होने लगे थे। यही नही ब्रह्मा, रुद्र एव इन्द्रादि देवता हमें विष्णु की अर्चना करते मिलते है।[4] ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मेगस्थनीज ने भी शौरसेनी यादवो द्वारा हरिकृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है।[5] यह पूजा कर्मकाडो तथा यज्ञो के प्रति घृणा का ही प्रतिफल था। सम्भव है कि मनुष्यो ने भक्ति की तरग में कल्लोलित होकर विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की हो और सगुणोपासना का प्रचार किया हो, परन्तु ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हम मूर्तियों का उल्लेख नही पाते। सर्वप्रथम इसी काल में नगरी के शिलालेख में सकर्षण और वासुदेव की मूर्ति-पूजा के निमित्त मन्दिर-निर्माण का उल्लेख मिलता है।[6]

---

[1] मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

—गीता, अ० १८, श्लोक ६५।

[2] इसके लिए ग्वालियर राज्य में भिलसा प्रदेश में बेसनगर में स्थित ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी के हेलिओडोरस के विष्णुस्तम्भ पर निम्नलिखित लेख पढिये—

"देव देवस्य वासुदेवस्य गरुडध्वज अयकारितो हेलिओडोरेण भागवतेन दियस-पुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस्य अन्तलिकितस उपता सकास रजो कासीपुतस् ·····

—*J R. A S 1909 Oct Pp (1055 56)*

[3] वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्। —अष्टाध्यायी ४।३।९८।

[4] सब्रह्मका सरुद्राश्च सेन्द्रादेवा. सहर्षिभि ॥३०॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठ देव नारायण हरि ॥३१॥

—महाभारत, शातिपर्व, अ० ३४१।

[5] 'It was to him again that four hundred years before Christ, Megas thenees referred as Heracles (Hari Krisbana) the God 'held in especial honour' by the Soursent in whose country was situated Methora (Mathura) and the river Lobares (Yamuna) flows' —(*The Nirgun School of Hindu Poetry P 5*)

[6] मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृष्ठ १६।

बौद्धमत के उत्थान-काल से बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का संघर्ष तीव्र रूप में चल रहा था। बौद्ध धर्म राजाश्रय प्राप्त कर वायुवेग से इतस्ततः प्रसृत हो रहा था। ब्राह्मण धर्म के वर्णभेद घृणा, यज्ञ, हिंसा आदि को इसमें स्थान न था। समता और प्रेम ने इसकी ग्राह्यता को और भी अनुप्राणित कर दिया था। बाह्य प्रदेशों से आने वाले यवन, शक, आभीर एवं गुर्जर आदि जातियों ने जब भारत में प्रवेश किया तो बौद्धों ने मुक्त हृदय से उनका स्वागत किया और शनै शनै अपने में अन्तर्भूत कर लिया। इसी काल में जैन धर्म भी अपनी शक्ति से प्रचार पा रहा था। वह भी यज्ञानुष्ठान आदि के विरुद्ध एक तुमुल नाद था। यह विरोध इतना स्वाभाविक था कि मानव-हृदय स्वयं ही उस ओर मुड़ा और भक्ति भावना को भी उल्लंघन कर समता के क्रोड में जा बैठा। इसके परिणामस्वरूप भागवत धर्म मन्द पड़ गया, परन्तु मानव-मन के कोमलांग में गुप्त पड़ा रहा और समय पाकर पुनः प्रकाश में आया। ईसा की चतुर्थ शताब्दी के गुप्त राजा वैष्णव ही थे यह इतिहास-प्रसिद्ध है।

मौर्यवंश के अवसान के साथ-ही-साथ बौद्ध धर्म की अवनति प्रारम्भ हो गई थी क्योंकि पुष्यमित्र ने ईसा पूर्व १८४ में इस वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर शुंगवंश की नींव डाली। वह वैदिक धर्म का कट्टर पक्षपाती था। इसके अतिरिक्त कई शताब्दियों पर्यन्त सदाचार और निष्ठा की परम्परा के पश्चात् बौद्ध धर्म में भी कर्मकाण्ड ने प्रवेश पा लिया था। भिक्षु-संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश भी अनर्थ का ही कारण हुआ। धीरे-धीरे विचार-स्वातन्त्र्य बढ़ता गया और हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ने लगा। अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने हिन्दू धर्म की विशेषताओं को अपना लिया। इसके फलस्वरूप ईसा की प्रथम शताब्दी में कुशानवंशीय राजा कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की दो शाखाएँ हो गईं—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा को स्थान न था। परन्तु महायान में भगवान् बुद्ध की पूजा की प्रतिष्ठा हुई अतः भक्ति-भावना को स्थान मिला। सभी मनुष्य भिक्षु नहीं हो सकते, अतः गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी भक्ति द्वारा निर्वाण-प्राप्ति को सम्भव माना गया।[१] इसमें अतीत, वर्तमान एवं भावी बुद्धों की तथा बोधिसत्वों और अनेक तान्त्रिक देवियों की कल्पना की उद्भावना हुई और उनकी मूर्तियाँ निर्मित हुईं। इस व्यापक हिन्दू प्रभाव ने जहाँ बौद्ध धर्म में शिथिलता ला दी वहाँ वह स्वयं भी प्रभावित हुए बिना न रहा और यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया।[२]

बौद्ध धर्म की महायान शाखा में भी अनेक प्रशाखाएँ फूटीं। ईस्वी सन् ४००

---

[१] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ६।

[२] "As Monier Williams says, Buddhism was drawn into Hinduism and Buddha was accepted as an incarnation of Visnu."—(*Medieval India*, P. 176)

से लेकर ७०० तक इसी के अन्तर्गत मन्त्रयान की अधिक प्रतिष्ठा हुई।[1] इसमें योग और तन्त्र दोनों को स्थान मिला। इसी का एक रूप वज्रयान के नाम से प्रचलित हुआ जिसने ८०० ई० से लेकर १२०० ई० तक भारतीय समाज एवं साहित्य पर बड़ा प्रभाव डाला। सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की इस अधोगत अवस्था में भी उसका अच्छा मान था। सम्राट् हर्ष शैव होते हुए भी बौद्ध भिक्षुओं का सम्मान करता था। परन्तु अब इसके अन्तिम दिन आ गये थे और नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शंकराचार्य ने ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के साथ-साथ इसका भी अन्त-सा कर दिया। बारहवीं शताब्दी के अन्त तक पूर्वी भारत के अतिरिक्त इसकी सत्ता प्रायः सर्वतः नष्ट हो गई।

पूर्वी भारत में अवशिष्ट बौद्धधर्म वज्रयान के नाम से प्रसिद्ध था। वज्रयानी न्त सिद्ध कहलाते थे और तान्त्रिक क्रियाओं के सम्पादन में व्यस्त रहते थे। बिहार में ालन्दा और विक्रमशिला इनके केन्द्र थे। बख्तियार खिलजी ने जब इनके मठों को वस्त किया तब ये नष्टप्राय हो गये। सहजयान भी महायान की शाखा थी। वज्रयान ं साधना का विशेष महत्त्व था, परन्तु सहजयान जीवन के सहज पथ से सम्बन्ध रखता ा, जिसमें योग और काय-क्लेश को साधना का अंग नहीं माना गया था। वज्रयानी सद्ध स्त्री-मद्य-सेवन को साधना का अंग मानते थे।

बौद्धों का महासुखवाद वज्रयान सम्प्रदाय में भी आया परन्तु अब यह वासना ा उच्छेदमूलक न रहकर वासनाजन्य सुख के सदृश समझा गया। धर्म के नाम पर व्यभिचार बढ़ रहा था। धार्मिक विरोध के कारण इसे साधना का साधक बना दिया ाया था। यही कारण था कि रहस्य की प्रवृत्ति चल पड़ी थी और सांकेतिक एवं ढ़ार्थक शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

सिद्ध चौरासी हुए हैं। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार इनकी परम्परा ईसा की आठवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर बारहवीं शताब्दी तक चलती है। इन सिद्धों की रचनाएँ भी मिलती हैं, जो धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत हैं। रचना की दृष्टि से सर्व-प्रथम सरहपा हैं, जिसका काल ७६० ई० है।[2] इन सिद्धों की साधना में शान्त भावना को स्थान है और साथ ही रहस्यवाद की प्रतिस्थापना भी है, परन्तु निराशावाद नहीं है। यही कारण है कि ये शरीर को अशुचिपूर्ण पदार्थों का भंडार नहीं वरन् तीर्थ की भाँति पवित्र मानते हैं और भोगों को ग्राह्य बतलाते हैं। सरहपा[3] ने खाते-पीते तथा

---

[1] हिन्दी-साहित्य, पृ० ११।

[2] हिन्दी काव्यधारा, पृ० २।

[3] खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्काबि भरन्ते।
आइस धंम्म सिज्झई परलोअह। णाह पाए दलोउ भअलोअइ॥

—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ६।

सुख का उपभोग करते हुए धर्म की सिद्धि बतलाई है। गोरखनाथ ने भी भोग में योग माना है।[1]

ये सिद्ध प्राचीन रूढियों के पक्षपाती नही थे, वरन् स्वतन्त्र विचार के पुरुष थे। सरहपा, तिलोपा, शान्तिपा आदि संस्कृत के बड़े विद्वान् थे परन्तु योगचर्या में विश्वास रखते हुए भी साधनार्थ अनेक आडम्बरपूर्ण दुराचरणों का अनुसरण करते थे। यही कारण था कि ये सरल और सुगम भाषा लिखते हुए भी कुछ सांकेतिक शब्दो का प्रयोग करते थे जिससे वह साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध होती थी। प्रकाश और अंधकार के मध्य में स्थित सध्या की भाँति बोध्य और अबोध्य अर्थ से युक्त इनकी भाषा 'सध्या भाषा' के नाम से पुकारी गई।

इन सिद्धो में अलख निरजन की मान्यता थी। इसका सम्बन्ध शास्त्रो में प्रतिपादित ब्रह्म से नही था, वरन् इससे वास्तविक तत्त्व का ही बोध होता था और नामान्तर और रूपान्तर से बौद्धो के निर्वाण का ही द्योतक था। आगे कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तो ने इसे अपनाया, परन्तु राम-रहीम के रूप में। यहाँ यह बात विचारणीय है कि कबीर का राम भी दशरथ-पुत्र नहीं है। पर वह कुछ परिवर्तन के साथ अद्वैत का ही ब्रह्म है। ये लोग निधनोपरान्त मुक्ति की अपेक्षा जीवन में ही भोग में योग-सिद्धि मानते थे। इनके अनुसार वैराग्य निराशाजनक होने के कारण इतना ग्राह्य और श्रेयस्कर नही जितना परम सुख का अनुभव करानेवाला कायिक सुख। इसीलिए ये सहजमार्ग के अनुयायी थे और काया को ही तीर्थ मानते थे। सरहपा[2] ने मन्त्र, तन्त्र, ध्येय आदि को भ्रम का कारण कहा है और शरीर में[3] ही गंगा, यमुना, गगासागर, प्रयाग, वाराणसी एवं चन्द्र सूर्यादि माने हैं। इसी प्रकार तिलोपा[4] ने भी तीर्थ-तपोवन आदि का विरोध करते हुए काय-शुचिता में ही पाप-मुक्ति बतलाई

---

[1] भगमुषि स्यद अगनि मुष पारा। जो राखे सो गुरू हमारा। (४६।१४२)

—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६१।

[2] मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण। सब्बवि रे बड ! विब्भम कारण।

—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ६।

[3] ऐत्थु से सुरसरि जमुना, एत्थ सें गगा सायर।
एत्थु पयाग बणारसि, एत्थु सें चन्द दिवाअर ॥४७॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइ भमइ परिट्ठओं।
देहा-सरिसअ तित्थ, मइ सुह अणएण दिट्ठओं ॥४८॥

[4] तित्थ तपोवण म करहु सेवा। देह सुचीहि ण सन्ति पावा ॥१६॥

—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १७।

है। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ये सिद्ध भक्तिमार्ग के अनुयायी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनकी उपासना वासनामय थी, जो भक्ति के सर्वथा विरुद्ध है।

पूर्व परम्परा से इतना घोर विरोध और परिवर्तन हुआ इसका कारण सम्भवत बौद्ध धर्म के मध्यकाल में सयम का शैथिल्य था, जिसको निम्न जातियो के प्रवेश ने और बल दिया था। निम्न जातियो में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति सदैव पाई जाती है, अत सयम और सदाचार के आधार पर निर्मित बौद्धमत का प्रासाद भी अन्त में इतना जर्जरित हो गया कि पतित होने पर जन्मभूमि में उसके ध्वसावशेष तक न रहे। इन सिद्धों में भी प्राय चमार, धोबी, जुलाहा, डोम एव लकडहारा आदि निम्न वर्ग के ही लोग थे।

सिद्ध काल की रचना साहित्यिक दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण नही है, परन्तु भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शक अवश्य रही। इनकी रचनाओ में प्राय रहस्यवाद मिलता है। सरहपा[1], शवरपा[2] तथा भुसुकपा[3] आदि सभी सिद्धो ने रहस्यवाद पर रचना की है। रहस्यवाद के अतिरिक्त सहजमार्ग, पाखड-निषेध एव गुरु-महिमा आदि विषयो पर अच्छा विवेचन पाता है। सिद्ध समुदाय में गुरु का बडा माहात्म्य था। सरहपा ने कहा है कि गुरुउपदेशामृत से वचित व्यक्ति शास्त्रार्थ रूपी मरुस्थल में तृषित ही मरता है।[4] सहजमार्ग तथा भोग में योग-सिद्धि के अतिरिक्त प्राय सभी विषयो को न्यूनाधिक रूप में इनके पश्चात् नाथपथियो ने अपनाया और जो क्रमश ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी सन्तों को भी मान्य हुआ।

वज्रयान सिद्धो के वामाचार, भ्रष्टाचार एव सहजमार्ग के विरुद्ध बहुत समय से

---

[1] एउत वाम्रहि गुरु कहइ, एउत बुज्झइ सीस।
सहजामिश्र-रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस ॥६॥
—हिन्दी काव्यधारा पृ० २।

[2] गुरु वाक्-पुजिआ धनु णिअ-मण बाणे।
एके शर सन्धाने विन्धह विन्धह परम-निवाणे ॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० २०।

[3] णिशि अन्धारी मूसा करअ अचारा। अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा।
माररे जोइया मूसा-पवना। जेण तूटइ अवणा-गवणा ॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १३२।

[4] गुरु-उवएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहि, तिसिए मरिअउ तेहि ॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ८।

भावना प्रसरित हो रही थी। यह वह समय था जब भारत में मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हो रहा था। इससे पूर्व महमूद गजनवी ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अनेक बार भारत के पश्चिमी भाग में लूटमार कर चुका था। सन् १०२५ में जब उसने राजपूताने के मरुस्थल का पार कर गुजरात में सोमनाथ के सुप्रसिद्ध मन्दिर को लूटा और बड़े बड़े पुजारी, पडित, भक्त एव वीरो के समक्ष अपनी गदा से मूर्ति को चूर चूर कर अतुल धन-राशि साथ लेकर लौट गया तब तो लोगो को बड़ी निराशा हुई। इसके पश्चात् जब सन् ११६३ ई० मे महाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज को परास्त कर दिल्ली में मुस्लिम राज्य की नींव डाली और उसके दास कुतुबुद्दीन ने गुलाम वश की स्थापना की तब से तो हिन्दुओ का घोर दमन प्रारम्भ हुआ और अनेक ऐसी मार्मिक घटनाएँ हुई जिन्होने हिन्दू मानस को विक्षुब्ध कर दिया।

ईसा की आठवी और नौवीं शताब्दी में उत्तर भारत में वैष्णव सम्प्रदाय का ह्रास हो गया था और उसने दक्षिण में आश्रय पाया था। इस समय उत्तर में राजपूतों का शासन होने से शैवोपासना प्रबल हो रही थी। मुसलमानो के आगमन के समय यहाँ शिवपूजा का ही प्राधान्य था।[1] यह शिव पूजा भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व ही आदि-काल से चली आ रही है। इसका एक मुख्य प्रमाण वह प्रस्तर की मूर्ति है जो आज से छ हजार वर्ष पूर्व मोहजोदारो नामक नगर से मार्शल द्वारा निकाली गई है। वैष्णव सम्प्रदाय की रक्षा दक्षिण के अलवार भक्तो एव राजाओ के हाथो हो रही थी। जब मुसलमानो के आक्रमण से राजपूत-शक्ति छिन्न भिन्न हो गई तब शैव मत भी ह्रास को प्राप्त हो गया और वैष्णव धर्म को पुन श्वास लेने का अवसर मिला। यह पुन दक्षिण से उत्तर की ओर आया। इसका श्रेय श्री रामानुजाचार्य को था जो दक्षिण भारत में ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे।

इस प्रकार सगुणोपासना का प्रबल प्रयत्न तो हो रहा था, परन्तु यह समय इसके लिए उपयुक्त न था। एक तो शकराचार्य के अद्वैत का प्रभाव अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा था दूसरे नत्रो के समक्ष भगवान् एव अन्य देवताओ की मूर्तियों का ध्वस देखकर लोगो के हृदय में निराशा उत्पन्न हो गई थी। अब यह सिद्ध हो चुका था कि मूर्तियाँ केवल पाषाण-खड ही है न कि असुरनिकन्दन, जन मन-रजन, तथा भव-भय-भजन शक्तियाँ। जो स्वयं अपनी रक्षा नही कर सकता वह भला दूसरों की क्या रक्षा करेगा? बारहवीं शताब्दी के पश्चात् गोरखनाथ ने इस बात को अच्छी तरह जान लिया था कि सिद्ध सम्प्रदाय के भ्रष्टाचार का मूलोच्छेदन कर सुधार अनिवार्य है तथा मुस्लिम भावना को समक्ष रख कर मूर्तिपूजन अनावश्यक है। इसीलिए उन्होंने एक ऐसे मार्ग की स्थापना की जिसमें प्राय वर्तमान सभी मतों का समावेश था। यह मार्ग

[1] The Mystics, Ascetics and Saints of India, P 115

नाथ् पथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इस पथ का मूल भी बौद्धों की बज्रयानी सम्प्रदाय ही है ।[1] परन्तु इसने उसकी तान्त्रिक क्रियाओ को नही अपनाया । गोरखनाथ ने शकराचार्य के अद्वैत तथा पतजलि के योग का मेल कर हठयोग द्वारा साधना का मार्ग प्रदर्शित किया । जीवन का कठिनतम रूप पुन समक्ष आया और काय क्लेश को प्रधानता मिली ।

शकराचार्य ने अद्वैत की प्रतिस्थापना कर ब्रह्मैकवाद का प्रचार अवश्य परन्तु शिव का माहात्म्य स्वीकार किया । नाथपथियो ने भी बौद्धो की ब सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुए भी शिव को इष्ट के रूप मे अपनाया । वास्त बौद्ध कलेवर में हिंदू आत्मा को लिए शैव भावना के रूप में अकुरित हुए । जन के अनुसार गोरखनाथ स्वय प्रथम बौद्ध थे, पुन शैवमत मे दीक्षित हुए । जिस सिद्धों की सख्या चौरासी है, नाथो की सख्या नौ है ।[2] सिद्धो की परम्परा ब शताब्दी तक समाप्त हो जाती है । पुन कबीर के समय तक नाथ सम्प्रदाय प्रचार और प्रसार हमें दीख पडता है । बज्रयानी सिद्धो का प्रचार अन्त में पूर्वी में अधिक हुआ । गोरखनाथ ने अपनी सम्प्रदाय की स्थापना पश्चिमी भाग जिसमें पजाब और राजपूताना प्रमुख थे । परन्तु पश्चात् यह उत्तरी भारत गया और दक्षिण पश्चिमी भाग में भी जा पहुँचा । क्षितिमोहन सेन ने लिखा बगाल के नाथ और योगियो के पद, मैनावती और गोपीचन्द के गान सारे उत्तरी तथा कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक में भी गाये जाते थे तथा गोरख गान, नाथ और योगियो के पद बगाल, राजपूताना आदि सर्व स्थानो में प्रचलित थ ।[3]

नाथ सम्प्रदाय ने सिद्धो के वाममार्ग को तो अगीकृत न किया परन्तु पाखड-विरोध तथा गुरु-महिमा आदि में समानता रही । गोरखनाथ ने मास खाने से दया-धर्म का नाश, मदिरा पीने से प्राणो में नैराश्य, एव भोग के प्रयोग से ज्ञान-ध्यान का ह्रास बतलाया है ।[4] इन्होने[5] हिन्दुओ के देवालय और मुसलमानो की मसजिद को

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १६ ।

[2] दी मिस्टिक्स, एसेटिक्स एण्ड सेंट्स ऑफ इडिया, पृ० १८५/१८६ ।

[3] भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ विभाग, ३ मध्यकाल, पृ० ८६ ।

[4] अवधू मास भषत दया धर्म का नास । मद पीवत तहाँ प्राण निरास ।
भागि भषत ग्यान ध्यान षोवत । जम दरबारी ते प्रांणी रोवत ॥

—गोरखबानी, पृ० ४६ ।

[5] हिन्दू ध्यावै देहरा मुसलमान मसीत ।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहरा न मसीत ॥

—गोरखबानी, पृ० २५ ।

आराधना का स्थान न मानकर परमेश्वर के ध्यान को ही महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि योगी जिस अलख का निरूपण करते हैं, वह हिन्दुओं के राम और मुसलमानों के खुदा से भिन्न है।[1] उस परम तत्त्व का निरूपण करते हुए गोरखनाथ ने लिखा है कि उसे न हम स्थूल स्थान कह सकते हैं और न शून्य, न भाव संज्ञा दे सकते हैं और न अभाव।[2] अतः वह सत्-असत् एवं भावाभाव से भिन्न है। वह अगम्य तथा बुद्धि और इन्द्रियों के अगोचर है। बुद्धि उसके स्वरूप को नहीं जान सकती तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्श इन्द्रियाँ उसे विषयीभूत नहीं कर सकतीं। वह आकाश-मंडल में बोलने वाला एक बालक है। आकाश-मंडल से तात्पर्य शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र है जहाँ ब्रह्म का निवास है। वहीं योग-बल द्वारा समाधि में साक्षात्कार होता है। उस परमतत्त्व को बालक इसलिए कहा है कि वह निर्विकार होता है। अतः वह नामरूप उपाधियों से रहित है। वहाँ पर न निरति है न सुरति, न योग है, न भोग।[3] न वहाँ जरा है न मृत्यु और न रोग। वाणी तथा ओंकार भी वहाँ नहीं है। न वहाँ उदय है न अस्त का रात-दिन भी नहीं है। वहाँ सम्पूर्ण चराचर जगत में कोई भिन्नता नहीं दृष्टिगोचर होती। वहाँ तो अधिष्ठान एवं नामरूपोपाधि रूप मूल और शाखा से विहीन केवल शुद्ध ब्रह्म ही है जो सर्वत्र व्याप्त है और जो न सूक्ष्म है, न स्थूल। इस परमतत्त्व की पहचान के लिए गुरु की परमावश्यकता है। जो गुरु वचनों[4] का पालन करता है उसका द्वन्द्व नष्ट हो जाता है और वही शून्य[5] (ब्रह्मरन्ध्र) में

---

[1] हिन्दू ध्यावै राम कौं मुसलमान खुदाइ।
जोगी ध्यावै अलख कौं, तहाँ राम अछै न खुदाइ॥
—गोरखबानी, पृ० २५।

[2] बसती न सुन्य सुन्य न बसती अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा॥
—गोरखबानी, पृ० १।

[3] निरति न सुरति जोग न भोग, जुरा मरण नहीं तहाँ रोग।
गोरष बोलै एकंकार, नहिं तहं बाचा ओअंकार॥
उदैं न अस्त राति न दिन, सर्बे सचराचर भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्व व्यापीक सुषम न अस्थूल॥
—गोरखबानी, पृ० ३८-३९।

[4] मान्या सबद चुकाया दंद।
—गोरखबानी, पृ० ६।

[5] गगन मंडल में ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥
—गोरखबानी, पृ० ६।

अमृतकूप से चूने वाले अमृत का पान कर सकता है। इसके निमित्त उसे इतस्तत भटकने की आवश्यकता नही और मदिर-तीर्थादि भी व्यर्थ हैं।[1] काया ही तीर्थ है अत हृदय की पवित्रता और शरीर का सयमन साधना के साधन हैं। निद्रा, त्याग, मिताहार तथा विविध आसनो द्वारा कायनिरोध करना चाहिए। तत्पश्चात जो अजपाजाप करता है, ब्रह्मरन्ध्र में मन को लीन रखता है, इन्द्रियो पर विजय पा लेता है तथा ब्रह्मानुभूति रूप में काया का होम करता है, महादेव भी उस योगी के चरणो की वन्दना करता है अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।[2]

नाथ मत में आत्मा और परम तत्व को एक ही माना गया है।[3] सम्पूर्ण दृश्य जगत माया की उत्पत्ति है।[4] यह माया असत्य है।[5] योग की युक्तियो म इस माया का प्रपच नष्ट हो जाता है और योगी ससार से पार हो जाता है।[6] यहाँ हमें अद्वैत का पूर्ण प्रभाव दीख पडता है। नाथ मत में हठ योग का विशेष माहात्म्य है, इस ही आगे कबीर, जायसी आदि ने महत्त्व दिया है अत इसका निरूपण परम आवश्यक है।

योग शब्द 'युज' धातु स बना है, जिसका सामान्य अर्थ है मेल। कायिक एव मानसिक सयमन द्वारा समाधि में आत्मा का परम तत्व से मिल जाना योग कहलाता है। महर्षि पतजलि ने भी चित्तवृत्तियो के निरोध को ही योग कहा है।[7]

यह योग चार प्रकार का है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।[8] नाथ पन्थ में इनमे से हठयोग का विशेष महत्त्व है जो वास्तव मे राजयोग अर्थात् ईश्वर-मिलन का ही परम साधन है। अत यहाँ हठयोग का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है।

---

[1] अवधू मन चगा तो कठौती हीं गगा। —गोरखबानी, पृ० ५३।

[2] अजपा जपे सुनि मन धरै पाँचो इन्द्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि में होमै काया, तास महादेव बन्दै पाया॥
—गोरखबानी, पृ० ३।

[3] आत्मा उत्तिम देव। —गोरखबानी पृ० ६४।

[4] धाइ नहीं तहू वा बादल नाहीं, बिन थामा बार्ड मडप रचीया।
तिहाँ आप उपावन हारो जो॥ —गोरखबानी पृ० ९७

[5] अवधू माया मिथ्या ब्रह्म मुसाचा, —गोरखबानी, पृ० २३८

[6] जोग जुगति सार तो भौ तिरिये पार॥ —गोरखबानी पृ०

[7] योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ॥२॥ —पातजलयोगसूत्राणि, समा

[8] मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका क्रमात् ॥१२९॥
एक एव चतुर्धाऽय महायोगोऽभिधीयते। योग उपनिषद्, पृ०

हठयोग—हठयोग से तात्पर्य बलात् शरीर और मन पर संयमन पाकर ईश्वर को प्राप्त करना है। चित्तवृत्तियों का निरोध करने के लिए कुछ अभ्यास अनिवार्य है। पातंजलयोगशास्त्र[1] में इन्हें योगांग कहा है और वे आठ हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और, (८) समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन यम में आता है[2] तथा शौच, सन्तोष, तप तथा स्वाध्याय और ईश्वर-चिन्तन का नियम में।[3] आनन्द भोगोपयुक्त शरीर-निश्चलता को आसन कहा गया है।[4] आसन सिद्धि के पश्चात् श्वास की गति का जो अभाव हो जाता है उसे प्राणायाम संज्ञा दी गई है।[5] अपने विषयों से हटकर इन्द्रियों का चित्तानुकूल हो जाना ही प्रत्याहार है।[6] नाभिचक्र, हृदय-कमल अथवा मूर्धा आदि किसी देश विशेष पर चित्त के केन्द्रीकरण को धारणा कहते हैं।[7] उस देश में ध्येय में एकलीनता ध्यान कहलाता है।[8] इसके पश्चात् समाधि आती है। इसमें आत्मभाव[9]-शून्यता तथा ध्येय और ध्यान की एक-रूपता हो जाती है। यही योग की सिद्धि है।

इनमें से हठयोग में आसन और प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। प्राणायाम में श्वास प्रश्वास पर गति का संयमन पाना पड़ता है, क्योंकि इसके बिना एकाग्रता का होना असम्भव है। श्वास द्वारा जो वायु भीतर की ओर जाती है उसे पूरक कहते हैं। प्रश्वास द्वारा जो वायु छोड़ी जाती है उसे रेचक और निरुद्ध की जाने वाली वायु को

---

[1] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ।२६।
—पातंजलयोग, साधनपाद।

[2] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ।।३०।। —पातंजलयोग, साधनपाद।

[3] शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा. ।।३२।।
—पातंजलयोग, साधनपाद।

[4] स्थिरसुखमासनम् ।।४६।। पातंजलयोग, साधनपाद।

[5] तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम ।।४६।।
—पातंजलयोग, साधनपाद।

[6] स्वविषया प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहार ।।५४।।
—पातंजलयोग, साधनपाद।

[7] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।।१।। —पातंजलयोग, विभूतिपाद।

[8] तत्र प्र येकतानता ध्यानम् ।।२।। —पातंजलयोग, विभूतिपाद।

[9] तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि ।।३।।
—पातंजलयोग, विभूतिपाद।

कुम्भक कहते हैं। इन्ही तीनो वायुश्रो की क्रियाश्रो से प्राणायाम भी इन्ही नामो से तीन प्रकार का माना गया है।[1]

प्राणायाम की सिद्धि के लिए शरीर-शुद्धि परमावश्यक है, क्योकि शरीर लाघव के बिना श्वास-धारण असम्भव है श्रौर यदि किया जाय तो प्राणाघात की आशका रहती है, अत शरीर-शुद्धि के लिए षट्कर्म का विधान है—धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौली श्रौर कपालभीति। इन क्रियाश्रो से जब शरीर का प्रत्येक आभ्यन्तर भाग शुद्ध हो जाता है तब विविध आसनो द्वारा इन्द्रिय श्रौर मन को सयमित कर ध्यान से समाधि प्राप्त होती है। आसन चौरासी है, परन्तु उनमें साधना के लिए सिद्धासन, भद्रासन, सिंहासन श्रौर पद्मासन मुख्य हैं।[2]

प्राणायाम के अभ्यास से वायु का सयमन होता है, अत. वायु-नाडियो में शक्ति प्रबल हो जाती है श्रौर चक्र उत्तेजित हो जाते हैं, जिस से योगी सिद्धि को प्राप्त करता है। शरीर में ७२,००० नाडियाँ मानी जाती हैं, परन्तु उनमे ७२ मुख्य हैं।[3] इन ७२ में से दस नाडियों को विशेष महत्त्व दिया गया है[4], (१) इडा, (२) पिंगला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्तिजिव्हा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू, श्रौर (१०) शखिनी।

इन दस नाडियो में भी इडा, पिंगला श्रौर सुषुम्ना का ही प्राधान्य है। इडा मेरुदड के वाम पार्श्व में श्रौर पिंगला दक्षिण पार्श्व में तथा सुषुम्ना दोनो के मध्य में स्थित है।[5] इडा नाडी वाम पार्श्व से मेरुदड को पार करती हुई नासिका के वाम पार्श्व में पहुँचती है। सुषुम्ना मेरुदड से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ये तीनो नाडियाँ प्राणवायु की वाहक हैं। यही कारण है कि योगी प्राणायाम के समय अपने दाहिने हाथ के अँगूठे से नासिका के वाम एव दक्षिण पार्श्व को दबाकर उच्छ्वास एव

---

[1] रुचिर रेचक चैव वायोराकर्षण तथा।
प्राणायामस्त्रया. प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भका। —योग-उपनिषद, पृ० १५।

[2] सिद्धं भद्रं तथा सिंह पद्म चेति चतुष्टयम॥ —योग उपनिषद, पृ० १९६।

[3] बहतर कोठडी निपाई। —गोरखबानी, पृ० १२१।

[4] प्रधाना प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दशस्मृता।
इडा च पिंगला चैवसुषुम्ना च तृतीयका॥५२॥
गान्धारी हस्तजिव्हा च पूषा चैव यशस्विनी।
अलबुसा कुहूरत्र शखिनी दशमी स्मृता। —योग उपनिषद, पृ० १९९।

[5] इडा वामे स्थिता नाडी पिंगला दक्षिणे स्थिता —॥
सुषुम्ना मध्य देशस्था प्राणमार्गास्त्रय स्मृता॥५५॥
—योग-उपनिषद, पृ० १९९।

निश्वास के अभ्यास द्वारा प्राणवायु को साधता है। प्राणवायु के अतिरिक्त अन्य वायुओं का निग्रह भी प्राणायाम में बड़ा महत्व रखता है।

वायु दस प्रकार की है[1]—(१) प्राण, (२) अपान (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकरक, (९) देवदत्त और (१०) धनंजय। इनमें प्रथम पाँच प्रमुख हैं। अंतिम पाँच प्रकार की वायु सहस्रों नाड़ियों में सचरण करती रहती है। प्राणादि पाँच वायुओं में प्राण और अपान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि जीव इन्हीं के वश में रहता है। प्राणायाम के द्वारा ही वायु का निग्रह कर जीव शान्ति को प्राप्त करता है।

वायु निग्रह में उपर्युक्त इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की विशेषता है क्योंकि ये ही तीनों प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं तथा इन्हीं के साधन से भ्रम दूर हो जाता है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[2] इन तीनों में भी सुषुम्ना ही सिद्धिदायिनी है।[3] क्योंकि सूर्य (पिंगला) नाड़ी में वायु तीव्रता से चलती है और चन्द्र (इडा) में मन्द। निश्वास के समय पिंगला नाड़ी चलती है और उच्छ्वास के समय इडा। परन्तु योगी इन दोनों से पृथक सुषुम्ना का आश्रय लेता है, क्योंकि वहीं बिन्दु का निवास है तथा अमर जीवन है। इडा और पिंगला द्वारा वायु के विकर्षण और निष्क्रमण में तो जीव कभी स्थिरता नहीं पाता।

इसी सुषुम्ना नाड़ी के निम्न भाग में स्थित कुंडली मारे कुंडलिनी नाम की एक दिव्य शक्ति है।[4] यह सर्पाकार है जो प्रायः सुप्तावस्था में रहती है। अयोगी पुरुषों में सुप्त होने के कारण यह अधोमुख हुई पड़ी रहती है और वासना को दीप्त करती रहती है। परन्तु योगी लोग प्राणायाम द्वारा इसे जागृत करते हैं। सुषुम्ना की

---

[1] प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनंजयः ॥
प्राणाद्याः पंच विख्याता नागाद्याः पंच वायवः ॥५७॥ —योग-उपनिषद।

[2] इडा प्यंगुला सुषुम्ना नाड़ी। छूटै भ्रम मिलै बनवारी।
—गोरखबानी, पृ० १६७।

[3] उठत पवना रवी तपगा वैठत पवना चंद।
दहुनिरतरि जोगी विलम्बं, बिंद बसै तहा ब्यद ॥ —गोरखबानी, पृ० २१।

[4] तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता ॥
सार्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्ना मार्गसंस्थिता ॥
—शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २३।

छः स्थितियाँ हैं जिन्हें षट्चक्र कहते हैं । ये इस प्रकार है[1]—(१) मूलाधार चक्र जो चतुर्दल कमल के रूप में है, (२) स्वाधिष्ठान चक्र जो षट्दल कमल के रूप में लिंगमूल में स्थित है, (३) मणिपूरक चक्र जो नाभि प्रदेश के पास दशदलाकार है, (४) अनाहत चक्र जिस में द्वादश दल हैं और जो हृदय प्रदेश में स्थित है, (५) विशुद्धाख्यचक्र जो कंठ में स्थित है और षोडश दलों से युक्त है, (६) आज्ञाचक्र जो केवल दो दल वाला है और भ्रूमध्य में स्थित है। गोरखनाथ ने इन्हीं चक्रों को मूलचक्र, गुदाचक्र, मणिचक्र, अनहदचक्र, विसुधचक्र और चन्द्रचक्र के नाम से पुकारा है।[2]

इन छः चक्रों से ऊपर सहस्रदल कमल है। इसे शून्यचक्र भी कहते हैं। योग से जब कुंडलिनी प्रबुद्ध हो जाती है तो सुषुम्ना में विद्यमान ब्रह्मनाडी में होकर वह ऊपर को प्रसरण करती है और सहस्रार तक पहुँचती है। यही सुषुम्ना का मूल है और यही ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। इसी ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का वास है।[3] योग की सिद्धि कुंडलिनी को विस्फुरित कर इसी ब्रह्म की प्राप्ति में है। ब्रह्मरन्ध्र में ही चन्द्रमा स्थित है, जहाँ अमृत का वास है।[4] जो योगी नहीं हैं वह उसे पान नहीं कर सकता अतः वह स्रवित होकर मूलाधार चक्र में जाता है और वहाँ सूर्य द्वारा शोषित हो जाता है।[5] परन्तु जिसने कुंडलिनी को जगा[6] दिया है, उसके सर्वांग में वायु भक्षण होने लगता है तथा अमृत-स्रावक चन्द्रमा ही मूलाधार में स्थित राहु (सूर्य)

---

[1] चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥४॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम ।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥

—योग-उपनिषद, पृ० ३३८।

[2] अवधूमूल चक्र थिर होवै कंद । गुदाचक्र अगोचर बंध ।
मणिचक्र में हंस निरोधै । अनहदचक्र में चित्त परमोधै ॥
विसुध चक्र में सहं सवाद । चन्द्रचक्र मैं लागै समाध ॥

—गोरखबानी, पृ० २०२।

[3] सहस्र नाडी प्राण का मेला, जहाँ असंख कला शिव थान ॥

—गोरखबानी, पृ० ३३।

[4] गगन मंडल मे ऊंधा कूवा तहाँ अमृत का बासा ॥

—गोरखबानी, पृ० २०।

[5] अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पुनिम के घरि सूर ।

—गोरखबानी, पृ० २०।

[6] उलटी सकति चढ़े ब्रह्मंड नव सष पवना पैले सरवंग ॥

—गोरखबानी, पृ० ७१।

को ग्रस लेता है जिससे अमृत का पान सिद्ध हो जाता है और सिद्धि प्राप्त हो जा है। कुडलिनी जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है तो योगी को एक नाद सुनाई देता है जो अनहद नाद कहलाता है।[1] यह सार का भी सार और गम्भीर से गम्भीर है।[2] इस से ब्रह्मानुभूतिरूप माणिक्य हाथ लगता है। यह नाद सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु ब्रह्मरन्ध्र में ही परमतत्व की खोज में यह अन्त श्रुतिगोचर होता है।[3] इसी नाद से अपार प्रकाश होता है, यही ब्रह्मानुभूति है, परम तत्व की प्राप्ति है तथा शिव का साक्षात्कार है।

नाथपथ ने उपर्युक्त हठयोग द्वारा सिद्धि का मार्ग प्रदर्शित किया। यह बड़ा दुरूह मार्ग था, अत इसके प्रतिपादन में उलटवासियो का बड़ा प्रयोग हुआ। इस योग का व्यापक प्रभाव हम ज्ञानाश्रयी एव प्रेमाश्रयी शाखा पर देखते हैं। सूफियो के प्रेमाख्यानक काव्यो में तो प्राय सभी नायक योगी होकर निकले हैं परन्तु तत्कालीन परिस्थिति हमें बतलाती है कि इस मार्ग के विरुद्ध भावना जागृत हो रही थी और एक सगुण आलम्बन की चाहना रह-रह कर विकास में आती थी।

यह पहले कहा जा चुका है कि शकराचार्य ने ब्रह्मैक्यवाद का प्रचार कर सगुणोपासना का विरोध किया था, जिसका प्रभाव हम नौवी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। परन्तु इस शुष्कवाद ने मानव-मन में निराशा उत्पन्न कर दी थी। अस्त हिन्दू जनता को कोई आश्रय नही दीख पडता था। योगियो ने भी जिस मार्ग को अपनाया था वह भी शाकरमत की पद्धति पर ही निर्मित था। यह विक्षुब्ध और विपन्न हृदय में धैर्य और शान्ति का कारण नही हो सकता था। अ परिस्थिति नितान्त भिन्न होती जा रही थी। यद्यपि मुसलमानी शासन में सगुणोपास का शुद्ध रूप समक्ष लाना असम्भव-सा हो गया था, क्योकि प्रत्यक्षत ऐसा कर अपने को विपत्ति-सागर में निमग्न करना था तथापि मानसिक क्षेत्र में जो मधुर भा तरगें ले रहा था उसे कौन निरुद्ध कर सकता था। उसका फल यह हुआ कि शनै शनै अवसर पाकर अद्वैत का विरोध हुआ और उसके सुधार रूप मे निम्नलिखित चार मत की स्थापना हुई—

---

[1] उलटि चन्द्र राहु कू ग्रहे। सिध सकेत जती गोरष कहे॥

—गोरखबानी, पृ० ७१।

[2] सारमसार गहर गभीर गगन उछलिया नाद॥
मानिपा पाया फेरि लुकाणा भूठा वादविवाद॥

—गोरखबानी, पृ० ६।

[3] नाद रह्या सरबत्र पूरि। गगन मडल में पोजो अवधू बरत अगोचर मूर॥

—गोरखबानी, पृ० १६७।

काल	संस्थापक	मत
१२वीं शताब्दी	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैतवाद
१३वीं शताब्दी	मध्वाचार्य	द्वैत
१३वीं शताब्दी	विष्णुस्वामी	शुद्धाद्वैत
१३वीं शताब्दी	निम्बार्क	द्वैताद्वैत

विशिष्टाद्वैत—शंकराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों ही अद्वैतवादी हैं, क्योंकि दोनों ही के मत में परम सत्ता ब्रह्म एक ही है। शंकर के मत में नाम रूपोपाधि से जीव कल्पित है और ब्रह्म ही सत्य है। संसार ब्रह्म की माया से ही भासमान है। माया विवर्त है। रामानुज के मतानुसार जीव कल्पित नहीं। यह ब्रह्म का ही प्रकार है। इनके यहां भी लोक की उत्पत्ति ब्रह्म की माया शक्ति से है, किन्तु यह माया-शक्ति विवर्त रूप नहीं, वरन ब्रह्म का विकार रूप है। इस मत को विशिष्टाद्वैत इसलिए कहते हैं कि इन्होंने जीव को ब्रह्म का विशिष्ट प्रकार माना है। मोक्षावस्था में भी ब्रह्म में इसकी सत्ता बनी रहती है, लय नहीं होती।

जीव ब्रह्म का अंश अथवा प्रकार होने के कारण सदैव उसका सामीप्य चाहता रहता है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से मानी है, अन्तर्यामिन्, सूक्ष्म, पूर्णावतार, अंशावतार, और अर्चावतार। ये परब्रह्म के क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलतर रूप हैं। साधक स्थूलरूप की उपासना करते ही सूक्ष्म अन्तर्यामी का परिचय पा सकता है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव के परम कल्याण के लिए विष्णु भगवान की श्री नाम की शक्ति सक्रिय रहती है। श्री के प्रसाद से जीव को पापों से छुटकारा मिलकर परमतत्व का सायुज्य प्राप्त होता है, जो आनन्द की पराकाष्ठा है। यही मुक्ति-मार्ग का रहस्य है। सूफियों की परिभाषा में यह श्री हुस्न अथवा सौन्दर्य के नाम से बोधित की जाती है जो मनुष्य के हृदय में इश्क अथवा प्रेम को जगाता रहता है। इश्क का हुस्न से रहस्यात्मक मिलन अथवा वस्ल ही सूफीमत की पराकाष्ठा है।

द्वैत—इस मत के अनुसार विष्णु रूप ब्रह्म की स्वतन्त्र सत्ता है। सारा चराचर जगत् उसी से उत्पन्न हुआ है। जीवात्मा परतन्त्र है। ब्रह्म और जीव में स्वामी और सेवक का सम्बन्ध है, अतः जीव कभी भी ब्रह्म नहीं हो सकता। वैकुंठ की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति के लिए संसार का वास्तविक ज्ञान परमावश्यक है। अतः जगत् मिथ्या नहीं वरन् सत्य है। इसीलिए मध्वाचार्य ने माया को अग्राह्य बतलाया है और ज्ञान के साथ विष्णु के प्रति आत्मसमर्पण रूप भक्ति की प्रतिपादना की है।

शुद्धाद्वैत—विष्णुस्वामी ने माया को हटाकर अद्वैत की शुद्ध रूप से व्याख्या की इसीलिए यह मत शुद्धाद्वैत कहलाया। इसमें कृष्ण रूप ब्रह्म की आराधना का प्राधान्य है। ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वह अपनी इच्छा से ही इन रूपों

का आविर्भाव करता है। सन्वित् आत्मा एवं चित् प्रकृति या जगत् इसी ब्रह्म से हुआ है। *प्रकृति मिथ्या नहीं है, अत संसार में ईश्वर-प्राप्ति के लिए भक्ति की साधना करनी चाहिए।* कृष्ण के अनुग्रह से ही भक्ति की प्राप्ति होती है। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने इसी अनुग्रह की पुष्टि कहा।

द्वैताद्वैत—इसके अनुसार कृष्ण ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, परन्तु इसके सगुण रूप का विशेष महत्त्व है। ब्रह्म ही विश्व का स्रष्टा है। सारी सृष्टि उसी का प्रदर्शन है। जीव भी उसी का अंश है। परन्तु वह उससे अभिन्न नहीं है। मुक्तावस्था में भी जीवात्मा अपने को ब्रह्मरूप देखता हुआ भी उससे एक रूप नहीं हो जाता। वह ब्रह्म गोलोकवासी है। उसी की प्राप्ति का नाम मुक्ति है और इस मुक्ति का साधन राधा कृष्ण की भक्ति है।

यह कहा जा चुका है कि जब नाथपंथियों का उत्तरी भारत में बड़ा प्रबल प्रचार था उस समय सगुणोपासना भी अपने न्यूनाधिक रूप में चल रही थी। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्क अद्वैत मत के विरोध में क्रमश श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय और सनकादि सम्प्रदाय की स्थापना कर उपर्युक्त चार वादों का प्रतिपादन कर चुके थे। जनता पर इस सगुण भक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा। परन्तु भारतीय इतिहास में यह सुलतानी शासन-काल था। उनमें हिन्दुओं के प्रति अभी सौहार्द्र एवं सहिष्णुता उत्पन्न नहीं हुई थी। यही कारण था कि मन्दिरों का ध्वंस, तीर्थों की भ्रष्टता और हिन्दू नाम पर अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर थे। हिन्दुओं में आश्रय-हीनता और निराशा का भाव उत्पन्न हो गया था, अत इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय न था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही यहाँ प्रेम और सद्भावना से रहें। इसका मध्यम मार्ग मध्यम भक्ति ही थी, जिसमें दोनों ही धर्मों के *सामान्य सिद्धान्तों का सामंजस्य हो। गोरखनाथ ने भी समयानुकूल मध्यम मार्ग को* ही अपनाया था, परन्तु योग की विषमता एवं शिव की आराधना ने उसे सर्व-ग्राह्य नहीं रहने दिया था। अत पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् हम कबीर, नानक, दादू आदि ऐसे सन्तों को पाते हैं जिन्होंने सर्वग्राह्य मार्ग को अपनाकर हिन्दू और मुसलमानों में सामंजस्य उत्पन्न करने का शक्तिभर प्रयत्न किया।

निर्गुण धारा—यहाँ हमें भक्ति धारा में निर्गुण शाखा दीखती है, जिस में ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी दोनों ही प्रकार के भक्त हुए। हम पहले कह आये हैं कि उत्तरी भारत में योगी (जोगी) अधिक संख्या में फैले हुए थे। मुसलमानी अत्याचार एवं ग्राहक शक्ति और हिन्दू उपेक्षा-बुद्धि ने उन्हें अस्थिर बना दिया था, अत शनै शनै वे मुसलमान होते जा रहे थे। ये लोग प्राय जुलाहे का काम करते थे। कबीर स्वयं

ज्ञानमार्गी सन्तों में सर्वप्रथम कबीर हुए। उन्होंने वेदान्त का ज्ञान लेकर रहस्यवाद का प्रतिपादन करके भी उसे माधुर्य से ओतप्रोत कर दिया। यह मधुर-भाव सूफियों जैसा था, क्योंकि निराकारोपासना में प्रेम का प्राधान्य सूफी पद्धति के अनुसार ही था। भागवत पुराण में प्रणयवाद विद्यमान था। सम्भव है कि भागवतों के प्रणयवाद ने कबीर पर प्रभाव डाला हो, परन्तु भागवत का प्रणयवाद साकारोपासना में ही था। यद्यपि उसमें उद्धव-गोपी संवाद आदि में निर्गुण का विवेचन है, परन्तु वह केवल सगुणोपासना पर बल देने के लिए ही। निराकारोपासना के लिए प्रेम को अपनाना सूफी-पद्धति में ही था।

प्राय देखा जाता है कि विद्वान् ज्ञानमार्ग एवं प्रेममार्ग में भेद बतलाते हुए ब्रह्म और जीव के मध्य पति-पत्नी भाव के विपर्यय पर बल देते हैं अर्थात् कहते हैं कि ज्ञानमार्गी सन्त ब्रह्म को पति और आत्मा को पत्नी एवं सूफी सन्त ब्रह्म को पत्नी और जीव को पति मानकर साधना करते हैं। परन्तु यह नितांत भूल है, क्योंकि इन दोनों की साधना में जो माधुर्य है वह रहस्यात्मक है, अत उसका प्रतिपादन किसी भी ढंग से किया जा सकता है परन्तु उसका बाह्यरूप वास्तविक नहीं समझना चाहिए। कबीर ने अनेक सूफी तत्वों को भी ग्रहण किया। यथा उन्होंने नासूत, मलकूत, जबरूत एवं लाहूत इन चार लोकों की कल्पना को माना है।[1]

कबीर ने अपनी साधना में बहुत सी बातें सिद्ध और योगियों से ली। उन्होंने शून्य को अपनाया, परन्तु भिन्न रूप से। बौद्धों की महायान शाखा के अनुसार शून्य से तात्पर्य असत् था। योगियों ने सहस्रार को ही शून्य माना। परन्तु कबीर ने इसका अर्थ ब्रह्मरन्ध्र किया। इसके अतिरिक्त षट्चक्र तथा इडा आदि नाड़ियों को भी ग्रहण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि हठयोग की साधना को कबीर ने अधिकांशत स्वीकृत किया। परन्तु निर्गुण ब्रह्म को उसी रूप में न माना। उन्होंने उसमें गुण का भी आरोप किया अन्यथा प्रेम-साधना असम्भव थी। कबीर के निर्गुणवाद में शब्द का विशेष माहात्म्य है। उन्होंने शब्द को ब्रह्म ही माना है।[2] अत योगियों के नाद से यह भिन्न है।

---

[1] *है कोई दिल दरवेश तेरा।*
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़िके, जाइ लाहूत पर करे डेरा।
—कबीर का रहस्यवाद, परिशिष्ट, पृ० ५३।

[2] शब्द ही दृष्ट अनदृष्ट ओंकार है, शब्द ही सकल ब्रह्मांड जाई॥
कहै कबीर तै शब्द को परिखले शब्द ही आप करतार भाई॥
—कबीर वचनावली, पृ० १८६।

कबीर ने रहस्यवाद के प्रतिपादनार्थ उलटबासियों का प्रयोग भी किया जो कोई नई प्रथा न थी। वह साधक के साथ साथ सुधारक थे, अत: इनकी वाणी में हम मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भेदभाव तीर्थ एवं कर्मकाण्ड आदि का घोर विरोध तथा राम नाम और सद्गुरु की विशेष महिमा पाते हैं।[1] उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही फटकारा है और एक समन्वय मार्ग को पकड़ा है, जिस में राम और रहीम को एक कर दिया गया है[2] परन्तु वह न दशरथ-पुत्र राम है और न खुदा। वह तो निर्गुण ईश्वर है, जो सहज ही नहीं जाना जाता।[3]

यह पहले कहा जा चुका है कि सूफी साधक बहुत पहले ही भारत में आ गए थे। उन्होंने यहाँ के वातावरण के अनुसार सूफीमत का प्रचार किया था। यद्यपि इन्होंने सिद्ध और योगियों की हठयोग रसायन एवं तान्त्रिक विद्या की बहुत सी बातें ग्रहण कीं, परन्तु कबीर आदि की भाँति खंडन-मंडन को नहीं अपनाया। इनकी प्रेम-कथाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ये सच्चे प्रेम-मार्ग के अनुयायी थे, जिस पर अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष और खंडन मंडन को स्थान नहीं था। इसीलिए ये प्रेममार्गी कहलाते हैं यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि कबीर की वाणी में फटकार क्यों मिलती है जब कि सूफी प्रेम-सरणी के अनुयायी थे। इसका यह कारण है कि कबीर ने माया को प्रपंच माना है, अत: संसार मिथ्या है और संसार के मिथ्यात्व में सभी कुछ मिथ्या है। परन्तु सूफियों के पक्ष में ब्रह्म सत है और दृश्य जगत उसकी सिफात है अर्थात्

[1] साधो भजन भेद है न्यारा।
का माला मुद्रा के पहिरे चंदन घसे लिलारा।
मूड मुडाये, जटा रखाये, अंग लगाये छारा॥
का पानी पाहन के पूजे कंदमूलफलहारा।
कहा नेम तीरथ-व्रत कीन्हे जो नहिं तत्त विचारा॥
—कबीर वचनावली, पृ० २४३।

पूजहु राम एकु ही देवा। साचा नावण गुरु की सेवा॥
—कबीर ग्र०, पृ० २६४।

[2] हिन्दू तुरक की एक राह है सतगुर यह बताई।
कहहिं कबीर सुनो भई सन्तो राम न कहेउ खोदाई
—कबीर वचना०, पृ० २३८।

[3] निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥
—कबीर ग्रंथावली, पृ० १०४।

सब उसी के सौन्दर्य का प्रदर्शन है, अतः जो जहाँ है ठीक है। उसकी सिफात तो जात के महत्त्व के द्योतक हैं, जैसे लहरें समुद्र के ओज की।

हिन्दी में सूफियों की रचनायें विविध प्रान्तीय एवं प्रादेशिक भाषाओं में मिलती हैं। किन्तु अवधी में जो साहित्य मिलता है वह काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि का है। इस साहित्य में प्राय: प्रेम-गाथायें लिखी हुई हैं, जो मसनवियों के ढग पर हैं। मुक्तक काव्य में भी सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु इन प्रेमाख्यानों द्वारा साधना-मार्ग में प्रेम की पीर जगा-जगा कर ईश्वर के प्रति जिस रतिभाव की अभिव्यक्ति हुई है वह अत्यन्त हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है। यद्यपि प्रेमाख्यानों की एक परम्परा-सी चली और हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही प्रेमगाथाओं को काव्य-बद्ध किया, किन्तु सूफी साधकों ने केवल प्रेम-कहानियाँ ही न रखकर उन्हें ईश्वरीय प्रेम का साधन बना दिया। उन्होंने कथा-प्रसगों में आध्यात्मिक सकेत किये हैं वे ही उनको दिव्य रूप देने में सफल हुए हैं। भारतीय पद्धति में ये प्रेम-गाथायें वाच्यार्थ में ही मनोरंजन के लिए लोकप्रिय थीं। सूफियों ने इन प्रेम-गाथाओं के वाच्यार्थ के आधार पर व्यंजना-शक्ति के द्वारा साकेतिक अर्थ प्रतिपादित किया। कथायें प्राय. किंचित् परिवर्तन के साथ ऐतिहासिक अपिच तत्कालीन जनप्रवाद पर आधारित हैं और हिन्दू शासक वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। यही प्रदर्शित करता है कि मुसलमान होते हुए भी ये लोग कितने उदार, कालापेक्षी और समन्वयवादी थे। कथाओं में हिन्दू देवताओं को पर्याप्त सम्मान दिया गया है। परन्तु उनका निर्देश केवल अलौकिक घटनाओं के सम्पादनार्थ ही किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू-मुस्लिम-आधार-शिला पर इस साहित्य का भवन प्रेम के पुट से बडा मनमोहक और सर्व-ग्राह्य हो गया है।

सप्तम पर्व

हिन्दी-साहित्य में सूफी कवि और काव्य

भारतवर्ष में सूफियों ने अपने भाव व्यक्त करने के लिए प्राय उन्हीं प्रातीय या प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग किया, जो वहां बोली जाती थी जहाँ वे रहते थे। हिन्दी में सूफी साहित्य के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि सूफियों का प्रधान साहित्य अवधी में है। कुतुबन, मझन, जायसी एव नूर मुहम्मद आदि की रचनायें अवधी में ही हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्य ब्रज, पजाबी प्रादेशिक भाषाओं में भी मिलता है यथा बुल्लेशाह आदि ने अपनी वाणी में पजाबी का प्रयोग किया है तथा वखतुल्ला ने प्रेमप्रकाश में प्रधानत ब्रज का। इसी प्रकार सूफियों से प्रभावित कबीर, दादू, यारी दरिया तथा बुल्ला साहब आदि ज्ञानमार्गी सतो ने अपनी वाणी में सधुक्कडी भाषा में ही यत्र तत्र सूफी विचार प्रकट किये है। अवधी म सूफियो की जो रचनायें है वे साहित्य की अनूठी निधियाँ है। ये रचनाएँ प्रेम काव्य के नाम स प्रसिद्ध है।

सूफी प्रेम काव्य—अवधी का सूफी काव्य प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रेम-कथायें लिखी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से सवप्रथम प्रेम-काव्य मुल्ला दाऊद का 'चन्दावन' या चन्दावत है। इसमें नूरक और चन्दा की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसका रचना-काल सन १३१८ ई० है। यह समय अलाउद्दीन खिलजी का शासन काल था। उसके पश्चात् कुतुबन से पूर्व हमें कोई ऐसा काव्य नही मिलता। सम्भव है कि और भी प्रेम-कथायें लिखी गई हो जो इस समय प्राप्त नही है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पदुमावती (पद्मावती) नामक ग्रन्थ में कुछ प्रेम-गाथाओं का इस प्रकार सकेत किया है।

> विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
> मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बरागी ॥
> राजकुँवर कचनपुर गएउ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ ॥
> साध कुँवर खडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
> प्रेमावति कहँ सुरसर साधा। ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा ॥[1]

इससे प्रतीत होता है कि जायसी (सन १४९९ ई०) से पूर्व सपनावति (स्वप्नावती), मुगधावति (मुग्धावती), मिरगावति (मृगावती), मधुमालति (मधुमालती) और प्रेमावति (प्रेमावति) प्रेम काव्य लिखे जा चुके थे। इनमें से मृगावती और

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ १

मधुमालती तो खंडितरूप में उपलब्ध है परन्तु शेष का पता नहीं। जायसी द्वारा संकेतित कथाओं में विक्रमादित्य एवं ऊषा-अनिरुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। शेष लोक-प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर लिखी हुई जान पड़ती है। जायसी ने मधुमालती का नायक 'मडावंत' लिखा है परन्तु उस्मानकृत चित्रावली में इसके स्थान पर मनोहर का उल्लेख है।

मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥[1]

मधुमालती की प्राप्त प्रतियों में भी मनोहर ही नाम है।[2]

इन प्रेमाख्यानक काव्यों के पश्चात् जायसी के पद्मावत काव्य का ही नाम ाता है। क्योंकि जायसी के पश्चात् हुए उस्मान कवि ने भी मृगावती, पद्मावती, और धुमालती का ही उल्लेख किया है।

मगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा॥
सिंहल पदुमावति भोरूपा। प्रेम कियो हैं चितउर भूपा॥
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥[3]

जायसी का 'पद्मावती' काव्य हिन्दी-साहित्य की एक विभूति है। इसके माख्यान ने ऐसा मधुर प्रभाव डाला कि उसके पश्चात् अनेक प्रेम काव्य लिखे गए, नकी परम्परा ई० सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आती है। उपलब्ध न्थों के आधार पर उनकी तालिका निम्न रूप से बनाई जा सकती है।

ाव्य	कवि	काल
चत्रावली	उसमान	सन् १०२२ हिजरी (सन् १६१३ ई०)
ानदीप	शेख नबी	लगभग सवत् १६७६ (सन् १६१६ ई०)
्स जवाहिर	कासिमशाह	लगभग सवत् १७८८ (सन् १७३१ ई०)
न्द्रावती	नूर मुहम्मद	हिजरी सन् ११५७ (सन् १७४४ ई०)
नुराग बाँसुरी	,	हिजरी सन् ११७८ (सन् १७६४ ई०)
ेम रतन	फाजिलशाह	सन् १८४८ ई०।

इनके अतिरिक्त दो काव्य और मिलते हैं—(१) आलमकृत 'माधवानल' जिसका रचना काल हिजरी सन् ९९१ (सन् १५८३ ई०) है। (२) शेख निसारकृत 'यूसुफ जुलेखा' जो हिजरी सन् १२०५ (सन् १७९० ई०) में लिखा गया था। परन्तु ये इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि सूफी काव्यधारा में सर्वप्रथम स्थान

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ १३।

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १२०।

[3] चित्रावली, पृ० १३।

कुतुबनकृत मृगावती या है और पुन मंझनकृत मधुमालती या है । अब कवियों के परिचय के साथ उनकी रचनाओं के प्रेमाख्यानों का सार लिखा जाता है जिससे उनके वर्ण्य-विषय में साम्य एवं सूफी भावनाओं का यथेष्ट ज्ञान हो सके ।

कुतुबन—ये शेख बुरहान के शिष्य थे, अत चिश्ती सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे । इनका काल सन् १४९३ ई० के लगभग माना जाता है, क्योंकि ये जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह (शेरशाह के पिता) के आश्रित थे । इन्होंने 'मृगावती' नाम का एक प्रेमाख्यानक काव्य हिजरी सन् ९०९ (सन् १५०१ ई०) में अवधी में लिखा । यह काव्य चौपाई की पाँच पंक्तियों के पश्चात् एक दोहे के क्रम से लिखा हुआ है । इसकी एक खंडित प्रति नागरी-प्रचारिणी सभा के पास है । इसमें कवि ने प्रेम कहानी ईश्वर के प्रति साधक के प्रेम की व्यंजना की है ।

मृगावती का कथासार—चन्द्रगिरि का राजा गणपति देव था । उसका पुत्र कंचनपुर के राजा रूप मुरारि की सुन्दरी कन्या मृगावती पर आसक्त हो गया । अनेक संकटों को झेलता हुआ राजकुमार उसके पास पहुँचा । राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी अत एक दिन राजकुमार को प्रवंचित कर कहीं अन्यत्र उड़कर चली गई । राजकुमार को उसके वियोग में परम दुःख हुआ और उसकी गवेषणा के लिए योगी होकर निकल पड़ा । मार्ग में समुद्र से परिवेष्टित एक पहाड़ी पर पहुँचा जहाँ उसने एक राक्षस के चंगुल में फँसी हुई रुक्मिणी नाम की एक रमणी को बचाया । रुक्मिणी के पिता ने यह सुनकर कृतज्ञतावश उसका विवाह राजकुमार से कर दिया । उसके पश्चात् राजकुमार उस नगर में गया जहाँ मृगावती अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शासन कर रही थी । वहाँ उसने मृगावती के साथ विवाह कर लिया और बारह वर्ष रहने के पश्चात् दूत द्वारा पिता का संदेश पाकर वह मृगावती तथा मार्ग में से रुक्मिणी को भी साथ लेकर चन्द्रगिरि लौट आया । बहुत समय तक सुखपूर्वक रहकर राजकुमार एक दिन मृगया खेलता हुआ हाथी से गिरकर मर गया । इससे दोनों रानियों को परम संताप हुआ और वे भी प्रिय से मिलने अग्नि में जलकर भस्म हो गईं ।

मंझन—इन्होंने 'मधुमालती' नाम की एक प्रेम कहानी लिखी, जो हस्तलिखित भी पूर्ण रूप में नहीं मिली है । उसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ पता नहीं है । मधुमालती भी मृगावती की भाँति अवधी में चौपाई की पाँच पंक्तियों के अनन्तर एक दोहे के क्रम से लिखी हुई है, परन्तु उसमें कहीं आकर्षक है । कहानी पूर्ण तो नहीं मिली है, परन्तु उतनी मात्र से ही ज्ञात होता है कि कवि का ध्येय कहानी के विस्तार को बढ़ाकर साधक की यात्रा के कष्टों का प्रतिपादन करना है तथापि प्रकृति के नाना रूपों द्वारा सौन्दर्य और संगीत प्रेम द्वारा सच्चे प्रेम की व्यंजना में कोई कमी नहीं आने पाई है ।

मधुमालती का प्राप्त कथांश—कनेसर नगर के राजा सूरजभान का पुत्र मनोहर था। एक रात कुछ अप्सराएँ उसे सुप्तावस्था में ही उठाकर महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में लिटा आई। जागने पर दोनो ने एक दूसरे को देखा और परस्पर मुग्ध हो गये। बहुत देर तक वार्तालाप करने के पश्चात वे सो गये। इसी अवस्था में अप्सराएँ पुन मनोहर को उठाकर उसके महल में रख आई। जागने पर दोनो ही परम दुखी हुए। राजकुमार उसके वियोग में योगी होकर कुछ मित्रो के साथ चल पडा और समुद्र-पार करता हुआ उनसे बिछुड गया। एक पटरे के सहारे समुद्र को पार करने के पश्चात् ज्योंही वह एक जगल में पहुँचा तो उसने एक रमणी को देखा। आत्म-परिचय देते हुए उस सुन्दरी ने बतलाया कि वह चितविसरामपुर के राजा चित्रसेन की पुत्री प्रेमा थी और एक राक्षस उसे हर लाया था। राजकुमार उस राक्षस को मारकर प्रेमा के साथ चितविसरामपुर आया, क्योंकि उसने कहा था कि मधुमालती उसकी सखी थी, अत वह उससे मिला देगी। दूसरे दिन जब मधुमालती प्रेमा के यहाँ आई तो उसने उन दोनों को मिला दिया।

मधुमालती की मा रूपमजरी को जब यह ज्ञात हुआ कि उसकी पुत्री मनोहर मे प्रेम करती है तो उसने मधुमालती से प्रेम-व्यापार से विरत होने के लिए कहा, परन्तु वह जब न मानी तो उसने शाप दिया कि पक्षी हो जा। मधुमालती पक्षी होकर उड गई, परन्तु उसके पश्चात् रूपमजरी को बडा दुख हुआ। मार्ग में उडती हुई पक्षी रूप मधुमालती ताराचन्द नाम के एक राजकुमार के हाथ पड गई। उसने राजकुमार को अपनी प्रेम-कहानी और सारी कथा कह सुनाई। ताराचन्द उसे लेकर महारस नगर ले गया जहाँ माता द्वारा अभिमन्त्रित जल के सिंचन से वह पुन स्त्री रूप में आ गई। ताराचन्द ने मधुमालती को अपनी बहन बना लिया और कुछ दिन वही रहा।

एक दिन मधुमालती की माँ और मधुमालती न प्रेमा को सारा वृत्तान्त लिख भेजा। अभी प्रेमा पत्रो को पढकर दुखी हो ही रही थी कि उसे एक सखी से ज्ञात हुआ कि मनोहर योगी के वेष मे आया है। उसने यह समाचार मधुमालती के पिता के पास भेज दिया। जिसे सुनकर राजा-रानी दोनो ही मधुमालती को साथ लेकर चितविसरामपुर पहुंच गये। वहाँ मधुमालती का विवाह सानन्द मनोहर के साथ कर दिया गया।

कुछ दिनों आनन्द से रहने के पश्चात् एक दिन ताराचन्द जब आखेट से लौटा तो मधुमालती के पास झूलती हुई प्रेमा पर मुग्ध होकर वह मूर्च्छित हो गया। इसके पश्चात् उसका उपचार प्रारम्भ होता है परन्तु प्रति खडित होने के कारण आगे कथांश का पता नहीं। कथा में ताराचन्द के इस प्रेमोपक्रम से ज्ञात होता है कि ताराचन्द और प्रेमा का विवाह भी अवश्य हुआ होगा।

मझन ने इस काव्य में यह जतलाया है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत उसी ईश्वर के रूप का प्रदर्शन है अत जीवात्मा का उससे नित्य सम्बन्ध है और इसीलिए वह उससे मिलन के लिए तडपती रहती है।[1] तथा अनेक कष्टों के पश्चात् जब वह उसे प्राप्त कर लेती है तभी शान्ति को प्राप्त होती है।

मलिक मुहम्मद जायसी—जायसी के स्थान, काल एव जीवन के विषय में बहुत कुछ सकेत उनके ग्रन्थो मे ही मिल जाते हैं। पद्मावती के अनुसार जायस नगर इनका स्थान था।[2] इसका पहला नाम उदयानू (उद्यान) था।[3] पद्मावती में 'तहाँ आइ कवि कीन बखानू'[4] तथा आखिरी कलाम में 'तहाँ दिवस दस पाहुने आयउँ। भा वैराग बहुत सुख पायउँ'।[5] इन वाक्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कही अन्यत्र उत्पन्न हुए थे पर जायस नगर में आकर बसे थे और वही इन्हे वैराग्य हुआ था। इसीलिए डा० ग्रियर्सन आदि कतिपय विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि यह जायस के निवासी नही थे, परन्तु यह अनुमान भ्रमपूर्ण ही है, क्योंकि इनके 'जायस नगर धरम अस्थानू' ये शब्द स्पष्ट बतला रहे हैं कि वही उनका धर्मस्थान था। धर्मस्थान से तात्पर्य पवित्र स्थान से है और मनुष्य के लिए जन्मस्थान ही सर्वाधिक पवित्र स्थान होता है, परन्तु इतना अवश्य मानना पडेगा कि ये प्राय जायस मे अन्यत्र जाया करते थे और पुन वहाँ आकर वास करते थे।

इनका जन्म-काल ६०६ हिजरी (सन् १४६६ ई०) है। आखिरी कलाम में इन्होने लिखा है—

"भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।।"[6]

---

[1] देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छदर्यो मोही।।
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना।।
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जाऊ।।
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रक नरेसा।।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ११८।

[2] जायस नगर धरम अस्थानू।
—जायसी ग्रन्थावली—'पद्मावत' पृ० ६, (प० रामचन्द्र शुक्ल ने 'पद्मावती' ग्रन्थ को 'पद्मावत' कहा है)।

[3] जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाम आदि उदयानू।।
—वही, आखिरी कलाम, पृ० ३४२।

[4] वही, पद्मावत, पृ० ६।

[5] वही, आखिरी कलाम, पृ० ३४२।

[6] वही, आखिरी कलाम, पृ० ३४०।

अर्थात् मेरा जन्म, 'नौ सदी' के पश्चात् हुआ। और जन्म से तीस वर्ष उपर होने पर मैंने इस ग्रन्थ को लिखा। इसके पश्चात् आखिरी कलाम का रचना-काल देते हुए वे लिखते हैं कि—

'नौ सै बरस छतीस जब भए। तब एहि कथा क आखर कहे॥"[1]

इसमें स्पष्ट है कि हिज़री सन् ९३६ (सन् १५२८ ई०) में इन्होंने आखिरी कलाम लिखा। यह उन्होंने पहले ही बता दिया है कि जन्म से तीस वर्ष अधिक हो जाने पर इसे लिखा था। इससे सिद्ध होता है कि उनका जन्मकाल ९०६ हिज़री ही है तथा 'नौ सदी' से तात्पर्य 'नौवीं सदी के पश्चात्' है। हिज़री सन् ९३६, ई० सन् १५२८ के लगभग पड़ता है जो मुगल बादशाह बाबर का शासन-काल है। इन्होंने आखिरी कलाम में बाबर की प्रशंसा भी की है।[2] इससे उपर्युक्त तिथि प्रमाणित हो जाती है। पद्मावत के निर्माण-काल के विषय में जायसी ने लिखा है—

"सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥"[3]

अर्थात् हिज़री सन् ९२७ ई० (लगभग ईसवी सन् १५२०) में कथा को प्रारम्भ किया। यह समय लोधी वंश का है। परन्तु जायसी ने पद्मावती में ईश्वर, मुहम्मद साहब एवं खलीफाओं की प्रशंसा करने के पश्चात् दिल्ली के सुलतान शेरशाह की प्रशंसा की है।[4] दिल्ली में शेरशाह का समय सन् १५४० ई० से प्रारम्भ होता है।[5] इससे उक्त कथन का विरोध होता है। जान पड़ता है कि सन् १५२० ई० में कुछ थोड़ा-सा अंश बनाया होगा। पुनः सन् १५४० में (शेरशाह के समय में) इसे पूर्ण किया होगा। पद्यार्थ भी 'अहा' और 'कहा' भूतकालिक क्रियाओं से यही बतलाता है कि सन् ९२७ हिज़री था जब कथा के प्रारम्भिक वचनों को कहा।

यह एक कान से बहरे और एक आँख के काने थे।[6] अमेठी के राजघराने में इनका बड़ा सम्मान था। इनके चार मित्र थे, मलिक यूसुफ, सलार कादिम, सलोने मियाँ

---

[1] वही, आखिरी कलाम, पृ० ३४३।

[2] बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उन कहँ विधि साजा॥

—जायसी ग्रन्थावली—आखिरी कलाम, पृ० ३४१।

[3] वही, पद्मावत, पृ० ९।

[4] 'सेरसाहि देहली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥

—वही, पद्मावत, पृ० ५।

[5] ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इंडिया (हिन्दी संस्करण), पृ० १८१।

[6] एक नयन कवि मुहमद गुनी।

—वही, पद्मावत, पृ० ८।

और बड़े सेख[1]।

इन्होंने अपने तीनों ही ग्रन्थों 'पद्मावती', 'अखरावट' और 'आखिरी क्लाम' में अपने गुरु का वर्णन किया है। पद्मावती में एक स्थान पर ये सैयद अशरफ जहांगीर को अपना गुरु बतलाते हैं[2] और दूसरे स्थान पर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) को।[3] अखरावट में भी इन्होंने इन दोनों को गुरु रूप में स्वीकार किया है।[4] परन्तु आखिरी क्लाम में उन्होंने सैयद अशरफ जहांगीर को ही अपना पीर (गुरु) और स्वयं को उनका मुरीद (शिष्य) माना है।[5]

जायसी ने दोनों पीरों की जो वंशावली दी है, उससे प्रतीत होता है कि वे चिश्ती सम्प्रदाय के निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। इसकी दो शाखाएँ थी, एक सैयद अशरफ की शिष्य-परम्परा और दूसरी वह जिसमें शेख मोहिदी हुए। दूसरी शाखा मानिकपुर कालपी आदि की है। इसकी गुरु-परम्परा का इन्होंने सैयद राजे हामिदशाह तक उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार हम दोनों शाखाओं की

---

[1] चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए ॥
यूसुफ मलिक पंडित बहुज्ञानी। पहिले भेद बात वै जानी ॥
पुनि सलार कादिम मति माहा। खाडे दान उभै निति बाहाँ ॥
मियाँ सलोने सिंघ वरियारू। वीर खेतरन खड्ग जुझारू ॥
सेख बड़े, बड सिद्ध बखाना। किए आदेस सिद्ध बड़ माना ॥
—वही, पद्मावत, पृ० ८।

[2] सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोंहि दीन पंथ उँजियारा।
—जायसी ग्रन्थावली, पद्मावत पृ० ७।

[3] गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा।
—वही, पद्मावत, पृ० ८

[4] कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ' जहंगीरू ॥
पा पाएउँ गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
—वही, अखरावट, पृ० ३२१-३२२।

[5] मानिक एक पायउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा ॥
जहांगीर चिश्ती निरमरा। कुल जग महँ दीपक विधि धरा ॥
तिन्ह घर हौं मुरीद सो पीरू। सवरत बिनु गुन लावै तीरू ॥
—वही, आखिरी क्लाम, पृ० ३४२।

तालिका इस प्रकार बना सकते हैं—[1]

(क)
सैयद अशरफ जहांगीर
|
शेख हाजी
|
शेख मुहम्मद — शेख कमाल

(ख)
सैयद राजे हामिद शाह
|
हजरत ख्वाजा
|
शेख दानियाल
|
सैयद मुहम्मद
|
अलहदाद
|
(ग)
शेख बुरहान (कालपी)
|
शेख मुहिदी (मुहीउद्दीन)
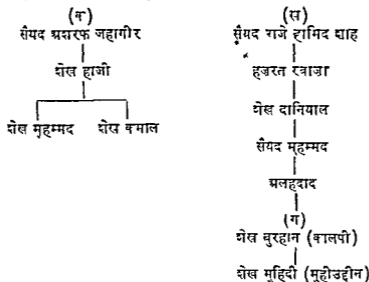
शेख मुहीदी की गुरु-परम्परा में हजरत ख्वाजा का नाम भी गिनाया गया है परन्तु ऐतिहासिक आधार पर शेख दानियाल के गुरु सैयद राजे हामिद शाह थे। हो सकता है कि शेख दानियाल हजरत ख्वाजा को पूज्य भाव से देखते हों और ख्वाजा साहब की कृपा से ही उन्होंने हामिदशाह से शिष्यता प्राप्त की हो। इस परम्परा में

---

[1] (क) सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोंहि दीन पन्थ उजियारा॥
ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सबै गुन भरा॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पथ देइ कहँ देव सँवारे॥
सेख मुहम्मद पून्यो करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
—जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृ० ७।

(ख) गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥
अगुवा भयउ सेख बुरहानू। पथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू॥
अलह दाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोसन सुरखुरू॥
सैयद मुहमद कै वै चेला। सिद्ध पुरुष सगम जहि खेला॥
दानियाल गुर पथ लखाए। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाये॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिये मेरइ जहँ सैयद राजे॥
—वही, पद्मावत, पृ० ८।

(ग) नाँव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥
—वही, अखरावट, पृ० ३२२।

जायसी की गणना के अतिरिक्त निजामुद्दीन औलिया तक कुछ पीर और हुए जो इस प्रकार है—

निजामुद्दीन औलिया (निधनकाल सन् १३२५ ई०[1])
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अल उल हक़
|
शेख कुतुब आलम
|
शेख हुसामुद्दीन (मानिकपुर)

इसके पश्चात् सैयद राजे हामिदशाह का नाम है।

जायसी ने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थो का निर्माण किया। नागरी प्रचारिणी पत्रिका बगाल ऐशियाटिक सोसायटी, सैयद कल्बे मुस्तफा, डा० स्प्रेंगर तथा प० रामशुक्ल एव जनश्रुति के आधार पर उनकी रचनाओं की जो सूची मिलती है उसमे ज्ञात होता है कि उनकी सख्या बीस से भी अधिक है।[2] परन्तु उनमें से पद्मावती, अखरावट और आखिरी कलाम ही उपलब्ध हैं। अन्य विश्वसनीय भी नहीं हैं।

'आखिरी कलाम' में कयामत का वर्णन है। इसकी रचना उन्होंने तीस वर्ष की आयु में की थी। इसके अध्ययन से ऐसा ज्ञान होता है कि एक पक्का मुस्लिम युवक वास्तविकता से दूर विधान के अनुसार अल्लाह के आदेश से घटित प्रलय, पुनर्जागरण निर्णय के दिन तथा स्वर्ग के आनन्द का वर्णन कर रहा है। इसमें परिश्तों तथा मुहम्मद साहब का जो स्थान है वह इस्लाम के अनुसार ही प्रदर्शित किया गया है परन्तु सूफी सिद्धान्तों से पूर्णत मेल नहीं खाता। 'अखरावट' में वर्णमाला के कुछ वर्णों को लेकर एक-एक वर्ण पर क्रम से कुछ सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर, सृष्टि, जीव, ससार—असारता, ईश्वरीय प्रेम एव उसके साधनो का बड़े सुन्दर ढग से विवेचन हुआ है। परन्तु जायसी को अमर बनाने वाली उनकी कृति 'पद्मावती' ही है।

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग ११, पृ० ८।

[2]

१ पद्मावती	६ इतरावत	११ मुकहरानामा	१६ कहारनामा
२ अखरावट	७ मटकावट	१२ मुखरानामा	१७ मेखरावटनामा
३ आखिरी कलाम	८ चित्रावत	१३ पोस्तीनामा	१८ धनावत
४ सखरावत	९ खुर्वानामा	१४ मुहरानामा	१९ स्फुट छन्द
५ चम्पावत	१० मोराईनामा	१५ नैनावत	२० सोरठ
			२१ परमार्थ जपजी

पद्मावती—यह काव्य जायसी को अमर करने के लिए पर्याप्त है । अपनी प्रेम-परम्परा में यह समानता नही रखता । वास्तव में अवधी के रहस्यात्मक ग्रन्थों मे यह अनूठा है । इसमें सात अर्धालियों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है । इसकी रचना मसनवियो के ढग पर हुई है । प्रारम्भ में ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त तथा गुरु की क्रमानुसार स्तुति की है । पुन कथारम्भ हुआ है जो सर्गबद्ध न होकर प्रसगानुसार हुआ है । इसमें हिन्दू मुस्लिम विचारो का अच्छा सम्मिश्रण है । कथा ऐतिहासिकता को लिये हुए हिन्दू ही है । कथा का 'पद्मावती को लेकर चित्तौर आने तक का अश कल्पित है परन्तु परवान् के अश में बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य है। इतिहास के अनुसार चित्तौड के शासक भीमसिंह की रानी का नाम पद्मिनी था जो सिंहल के राजा हम्मीर शक की कन्या थी । उसके रूप की प्रशसा सुनकर दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन ने आक्रमण किया । पुन राजा के छुडा लाने तक की कथा प्राय समान है । देवपाल की कथा कल्पित है।

जायसी ने इसे महाकाव्य बनाने का प्रयत्न किया है । ऋतु वर्णन समुद्र-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, युद्ध वर्णन, मानव प्रकृति का वर्णन आदि अनेक बातें विस्तार-पूर्वक अकित है । यहाँ तक कि भोजन आदि का वर्णन तक बडे विस्तार से किया है। इस विषय में हिन्दू विचारधारा को ही अपनाया गया है ।

इसकी सारी कथा को रहस्यात्मकता से परिपूर्ण बनाने के लिए जायसी ने अनेक स्थानो पर सकेत किये हैं । परन्तु वर्णन विस्तार ने मूल प्रवृत्ति को बडी हानि पहुँचाई है । अन्त में उन्हाने सम्पूर्ण कथा का अध्यात्म रूप देने के लिए स्पष्ट सकेत कर दिया है ।[1] कथा मे जो नख शिख, प्रेमावश तथा ऐसी ही अन्य बातो का वर्णन है उससे आध्यात्मिक पक्ष को कुछ धक्का सा लगता प्रतीत होता है । परन्तु सूफियो के मत मे लौकिक प्रेम अथवा इश्केमजाजी आध्यात्मिक प्रम का साधन है अत नख शिख आदि का वर्णन इस ग्रन्थ में असमजस को उत्पन्न नही करता ।

प्रेम काव्यो में हम इस प्रतिनिधि काव्य कह सकते है, क्योकि क्या काव्य की दृष्टि से और क्या अध्यात्म की दृष्टि म यह सर्वोत्कृष्ट है । विरह-वेदना की जो अभि-

---

[1] तन चित उर, मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा ।
गुरु सुआ जेइ पथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनिया धधा । बाचा सोइ न एहि चित बधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सैतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु । बूझि लहु जो बूझै पारहु ॥
—जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृ० ३०१

व्यक्ति इस ग्रन्थ में हुई है वह असाधारण है। यद्यपि नूर मुहम्मद ने इन्द्रावती एवं अनुराग बाँसुरी में जीव, मन आदि नामों को लेकर ही कथा लिखी है अतः अध्यात्म स्पष्ट है परन्तु महाराष्ट्र में लौकिक कथाओं को लेकर अध्यात्म का प्रतिपादन बड़ा दुष्कर होता है। जायसी ने वह कार्य अत्यधिक सफलता से किया है। अन्य सूफी प्रेम-काव्यों की भाँति इसमें भी नाथपन्थी सन्तों का व्यापक प्रभाव है। हठयोग को इन्होंने भी प्रधान साध्य माना है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों एवं ब्रह्मरंध्र आदि का इन्होंने यत्र-तत्र प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही वेदान्त का तो पूर्ण प्राधान्य ही है। क्योंकि साधना द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से अभेद रूप में मिलन ही वस्तुतः इसका वर्ण्य विषय है।

पद्मावती की कथा—पद्मावती सिंहल द्वीप के राजा गंधर्व सेन और रानी चम्पावती की कन्या थी। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुई तो देश-देशान्तरों के राजकुमार उसके परिणयार्थ आने लगे परन्तु राजा अभिमानवश उन्हें आँख तक में न लाता था। पद्मावती के पास हीरामन नामक स्वर्ण वर्ण का एक पण्डित सुआ था। एक दिन उसने सुए से इस विषय में वार्तालाप किया, जिसे सुनकर राजा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और सुए को मारने की आज्ञा दे दी। उस समय तो वह बचा लिया गया परन्तु वहाँ रहना उचित न समझकर वह एक दिन भाग निकला। उड़कर एक जंगल में पहुँचा, जहाँ एक दिन किसी व्याध के जाल में फँस गया। बहेलिये ने उसे एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया और ब्राह्मण ने चित्तौर में आकर राजा रत्नसेन को एक लाख रुपये में बेच दिया।

रत्नसेन को शनैः शनैः सुए से अत्यन्त प्रेम हो गया। एक दिन जब राजा आखेट के लिए गया हुआ था, उसकी रानी नागमती ने हीरामन से सगर्व पूछा, "तोते! सच-सच बतलाओ, क्या मुझ जैसी सुन्दरी भी संसार में कोई है ?" हीरामन ने हँसकर कहा, "रानी! सिंहल द्वीप की पद्मिनी तुम से कहीं अधिक सुन्दरी है। उसके लावण्य-प्रकाश के समक्ष तुम रात्रि के समान हो।" यह सुनकर इस आशंका से कि कहीं यह राजा से पद्मिनी की प्रशंसा न करदे उसने उसे मारने की आज्ञा दे दी। परन्तु धाय ने उसे न मारा और छिपा दिया। राजा ने आकर तोते को माँगा। नागमती ने राजा को क्रुद्ध और सन्तप्त देखकर धाय से उसे मँगवा दिया।

राजा ने हीरामन से सारी बात पूछी। उसने राजा से पद्मावती के सौन्दर्य का सविस्तर वर्णन किया, जिसे सुनकर राजा मूर्छित हो गया। यद्यपि हीरामन ने बहुत समझाया तथापि वह धैर्य धारण न कर सका और सिंहल द्वीप जाने को उद्यत हो गया। तोते ने जब यह कहा कि प्रेम मार्ग बड़ा कठिन है, इस पर भोगी नहीं योगी [illegible] ब तो वह राज-पाट त्याग योगी हो गया और मखना, सिंगी,

क, घघारी आदि धारण कर योगी के वेश में सोलह सहस्र योगी राजकुमारों के साथ हल द्वीप को चल दिया। नागमती आदि ने उसे बहुत प्रलोभन दिया परन्तु यह न ना। इस यात्रा में तोते को उसने अपना पथ-प्रदर्शक गुरु बनाया।

रत्नसेन योगी राजकुमारो के साथ मार्ग की अनेक कठिनाइयो के पश्चात् कलिंग आया और वहाँ के राजा गजपति से जहाज लेकर सिंहल द्वीप की ओर चल दिया। ार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और मानसरोवर समुद्रो को क्रमश पार कर ह सिंहल द्वीप पहुँचा। हीरामन ने इन सबको महादेव के मन्दिर में ठहरा दिया और थ, रत्नसेन से यह कहकर कि वसन्त पचमी के दिन पद्मावती यहाँ पूजार्थ आती । अत. यही तुम उसके दर्शन पा सकोगे, पद्मावती के पास चला गया।

हीरामन ने जाकर पद्मावती से रत्नसेन के गुणो की बडी प्रशसा की जिसे नकर पद्मावती अत्यन्त प्रसन्न हुई। वह वसन्त पचमी के दिन तोते के कथनानुसार न्दिर में गई और रत्नसेन को देखा। रत्नसेन को उसने वैसा ही पाया जैसा तोते ने हा था। उधर रत्नसेन ने जब पद्मावती को देखा तो वह मूर्छित हो गया। वह उसके पास गई और चन्दन से उसके वक्षस्थल पर यह लिखकर चली आई कि 'तूने भी भिक्षा के योग्य योग नही सीखा है, जब समय आया तो तू सो गया।"

रत्नसेन की जब मूर्छा हटी तो वह अत्यन्त दु खी हुआ और जल मरने के लिए द्यत हुआ। इसी समय उसकी रक्षार्थ देवताओं की प्रार्थना से महादेव और पार्वती ने परीक्षा द्वारा उसका प्रेम सत्य जानकर उसे आश्वासन दिया और एक सिद्धि-गुटिका प्रदान की। इस गुटिका की शक्ति से वह योगियो सहित गढ़ में पहुँच गया और अगाध कुण्ड में घुसकर वज्र किवाडो को तोड दिया। प्रात होते ही राजा ने योगियो को घेर लिया। रत्नसेन की आज्ञा से प्रेम मार्ग में क्रोध का उचित न समझकर सभी योगी शान्त रहे। राजा गन्धर्वसेन ने उन सबको बन्दी बना लिया। यह सुनकर पद्मावती बडी दु खी हुई परन्तु तोते के यह कहने से कि रत्नसेन सिद्ध हो गया है वह मर नही सकता, उसे शान्ति मिली।

रत्नसेन को सूली की आज्ञा हुई। एक योगी पर आपत्ति देख महादेव और पार्वती भाट-भाटिन के रूप में वहाँ आये और राजा को बहुत समझाया कि रत्नसेन राजा है अत सर्वप्रकार से पद्मावती के योग्य वर है। परन्तु गन्धर्वसेन और भी क्रुद्ध हुआ। अब तो योगी भी युद्ध के लिए तैयार हुए। महादेव, विष्णु, हनुमान आदि भी योगियो की रक्षार्थ प्रवृत्त हुए परन्तु जब गन्धर्वसेन ने उन्हे पहचान लिया तो वह महादेवजी के पैरो में गिर पडा। अन्त में पद्मावती का विवाह रत्नसेन के साथ कर दिया गया।

इधर सिंहल द्वीप में रत्नसेन सुख से रहने लगा। उसे एक वर्ष हो गया। इसी

बीच में वियोग से नागमती की बड़ी दुर्दशा हो गई। उसके वियोग में पशु-पक्षी भी व्याकुल हो गये। एक दिन एक पक्षी ने उसके दुख का कारण पूछा। नागमती ने उसे सारी व्यथा कह सुनाई, जिसे सुनकर उसने उसे सहायता का वचन दिया और राजा का संदेशा लेकर सिंहल द्वीप पहुँचा। वहाँ समुद्र-तट पर एक वृक्ष पर जाकर बैठ गया संयोग से राजा रत्नसेन भी मृगया खेलता हुआ वहाँ आ पहुँचा। इसी समय पक्षी नागमती की वियोगावस्था और चित्तौर की दुर्दशा का वर्णन करना प्रारम्भ किया। रत्नसेन उसे सुनकर बड़ा दुखी हुआ और कुछ समय पश्चात् पद्मावती और मित्रों के राजा द्वारा प्रदत्त अतुल धन-राशि को लेकर वह चल दिया। अपार सम्पत्ति पाकर उसे गर्व हो आया और लोभवश उसने छद्मवेष में आये समुद्र को भी दान न दिया।

सभी लोग जहाजों में बैठकर चल दिये। कुछ समय पश्चात् एक तूफान से वे इधर-उधर बह गये। धन, मित्र सभी कुछ समुद्र की भेंट हो गया। रत्नसेन एक पटरे के सहारे तट से जा लगा। और पद्मावती बहते-बहते समुद्र की कन्या लक्ष्मी के पास पहुँची। लक्ष्मी उसकी कथा सुनकर अत्यन्त सन्तप्त हुई और उसने पिता से राजा तथा अन्य सभी को ढूँढ निकालने की प्रार्थना की। अन्त में समुद्र ने सबको मिला दिया। पुनः वे समुद्र पार कर कुशलतापूर्वक चित्तौर आगये। नागमती फिर पति को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई।

राजा रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नाम का एक पण्डित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन राजा ने पूछा, "दूज कब होगी ?" राघव के मुख से सहसा निकल गया, "कल।" पण्डितों ने कहा, "कल नहीं परसों।" दूसरे दिन राघव ने यक्षिणी की सहायता से दूज का चन्द्रमा दिखा दिया परन्तु उसके अगले दिन जब पुनः द्वितीया का चन्द्रमा दिखलाई दिया तब तो राजा को राघव पर बड़ा क्रोध आया और उसने उसे वाममार्गी समझकर देश निकाला दे दिया। पद्मावती ने उसे दान देकर तुष्ट भी करना चाहा परन्तु वह रानी का रूप को देखकर विमुग्ध हो गया और बादशाह अलाउद्दीन से अधिक धन प्राप्त करने के लिए वह पद्मावती के रूप की प्रशंसा करने के लिए दिल्ली चला गया।

अलाउद्दीन ने जब पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी तो वह उसे पाने के लिये लालायित हो गया और शीघ्र ही एक दूत पद्मिनी को दिल्ली भेज देने के लिए चित्तौर भेजा। परन्तु जब उसे विरुद्ध उत्तर मिला तो गढ़ने-घर चित्तौर पर चढ़ आया। आठ वर्ष तक वह गढ़ को न जीत सका। अन्त में उसने चाल चली और राजा से सन्धि कर महल में गया। वहाँ दर्पण में पद्मावती के प्रतिबिम्ब को देखकर मूर्छित हो गया। पुनः जब राजा उसे गढ़-द्वार तक पहुँचाने आया तो उसने उसे बन्दी बना लिया। वह राजा को लेकर दिल्ली पहुँचा और कारागार में डाल दिया।

राजा के वियोग से सभी दुखी थे। रानियों की तो बुरी दशा थी। कुंभलनेर के राजा देवपाल ने इस अवसर से लाभ उठाना चाहा और उसने पद्मावती के पास एक दूती के हाथों घृणित संदेश भेजा, जिसमें उसे सफलता न मिली। पद्मावती ने धैर्य और बुद्धि से कार्य लिया तथा गोरा और बादल को एक युक्ति बताई। उसी के अनुसार सोलह सौ पालकियों में सशस्त्र राजपूत वीरों को बिठाकर तथा वाहकों के स्थान पर भी राजपूतों को ही लेकर वह दिल्ली पहुँची। बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और निःदाव होकर उसने रानी की प्रार्थना पर पहले उसे राजा से मिलने की आज्ञा दे दी। राजा के बन्धन काट दिये गये और उसे बादल एवं कुछ वीरों के साथ चित्तौर भेज दिया गया। इधर गोरा ने वीरों के साथ अलाउद्दीन की सेना को रोका परन्तु युद्ध में सभी काम आ गये।

चित्तौड आने पर जब रत्नसेन ने देवपाल के दुष्ट-व्यवहार को सुना तो उसने कुंभलनेर पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में रत्नसेन और देवपाल दोनों ही मारे गये। पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ अपने मृत पति के साथ सती हो गईं। तदनन्तर अलाउद्दीन एक विशाल वाहिनी लेकर चित्तौड पर चढ आया। बादल ने उसका सामना किया परन्तु सारे राजपूत खेत रहे। स्त्रियाँ भी अग्नि में जलकर भस्म हो गईं। अन्त में जब अलाउद्दीन गढ में पहुँचा तो उसे सर्वत्र राख का ढेर ही मिला।

कथा का आध्यात्मिक पक्ष—जायसी ने इस सम्पूर्ण कथा को आध्यात्मिक रूप में ढाल दिया है। कथा के बीच-बीच में भी उन्होंने अनेक संकेत किये हैं। अन्त में तो उन्होंने स्पष्ट ही लिख दिया है—

> चौदह भुवन जो तन उपराहीं। त सब मानुस के घट माहीं॥
> तन चित्तउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
> गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत का निरगुन पावा?
> नागमती यह दुनिया धंधा। बाचा सोइ न एहि चित्त बंधा॥
> राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीं सुलतानू॥
> प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लहु जो बूझै पारहु॥[1]

इसमें कवि ने बतलाया है कि चौदह भुवन मनुष्य के शरीर में ही हैं अतः पिंड में ही ब्रह्माण्ड है। कथा में चित्तौड शरीर है एवं रत्नसेन मन, सिंहल हृदय, पद्मावती बुद्धि हीरामन तोता गुरु नागमती प्रपंच, राघव शैतान और अलाउद्दीन माया है।

इसको सूक्ष्मतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीर में हृदय एक चेतनाश है जो साधनावश बुद्धि अर्थात ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है।

[1] जायसी, ग्रन्थावली—पद्मावत, पृ० ३०१।

साधनामार्ग में गुरु ही पथ प्रदर्शक होता है। उसके बिना मार्ग नहीं सूझता।[1] गुरु की कृपा से ही शिष्य सिद्धि के भेद को जान पाता है।[2] संसार का प्रपंच उसे अपनी ओर खींचता है, माया मोहिनी डालती है और शैतान उसे पथभ्रष्ट करना चाहता है तथा अन्य अनेक बाधाएँ भी आकर मार्ग को और दुरूह बनाती हैं परन्तु अन्त में तप, नियम एवं सत्य के प्रभाव से वह सब पर विजय पाता हुआ चैतन्य देव को प्राप्त करता है।[3] इस प्रबन्ध में भी रत्नसेन को प्रेममार्ग का साधक चित्रित किया है। पद्मावती का रूप चैतन्य देव की प्राप्ति ही उसका ध्येय है। नागमती रूपी प्रपंच, अलाउद्दीन रूपी माया एवं राघव रूपी शैतान अनेक बाधाओं और कष्टों के कारण हैं। समुद्र आदि मार्ग की विषमताएँ हैं परन्तु सत की कृपा से वह इन सब पर विजय पाता है। और अन्त में सिंहल द्वीप रूप हृदय (शिवलोक) में पहुँचकर ऊपर चढ़ता है और पुनः चार स्थितियों के पश्चात् दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) में पहुँचता है।[4] वहीं उसे पद्मावती रूपी सिद्धि की प्राप्ति होती है।

उसमान—इनके जन्म काल का पता नहीं। ये गाजीपुर निवासी शेख हुसैन के पुत्र थे[5] तथा इनके चार भाई और थे।[6] भाइयों के नाम इस प्रकार हैं—शेख

[1] बिनु गुरु पंथ न पाइय।

—जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ६१।

[2] चेला सिद्धि सो पावै, गुरु सौं करै अछेद।
गुरू करै जो किरिपा, पावै चेला भेद॥

—वही, पद्मावत, पृष्ठ १०६।

[3] बस मह एक जाइ कोइ करम, धरम, तप, नेम।
बोहित पार होइ जब तबहि कुसल औ खेम॥
सत साथी, सत कर ससारू। सत्त खेइ लेइ लावै पारू॥

—वही, पद्मावत, पृष्ठ ६३।

[4] जीत पेम तुई भूमि अकासू। दीठि परा सिंघल कविलासू।

—वही, पद्मावत, पृष्ठ

[5] गाजीपुर उत्तम अस्थाना।

—चित्रावली, पृष्ठ

[6] कवि उसमान बसै तेहि गाऊं। सेख हुसैन तनै जग नाऊं॥
पांचो भाइ पांचो बुधि हियें। एक इक सो पांचो लीयें॥
सेख अजीज पढ़ै तिनि जाना। मागर सील अउ बर दाना॥
मानुल्लह बिधि मारग गहा। जोग साधि जो मौन होइ रहा॥
सेख फैजुल्लह पीर अपारा। सर्ग न काहु गहे हथियारा॥
सेख हसन गाएन भल चाहा। गुन विद्या कहँ गुनी सराहा॥

—वही, पृष्ठ १

अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह और शेख हसन। ये चिश्ती सम्प्रदाय के निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा मे थे।[1] इन्होंने हाजी बाबा को अपना गुरु लिखा है।[2]

इन्होने हिजरी सन् १०२२ (१६१३ ई०) में 'चित्रावली' नामक प्रेमाख्यानक काव्य अवधी में चौपाई की सात पक्तियो के पश्चात् एक दोहे के क्रम से लिखा।[3] वह समय जहाँगीर बादशाह का था। इन्होने प्रथम स्तुति खड में जहाँगीर की प्रशसा भी की है। इनका उपनाम 'मान' था।[4] जोगी ढूँढन खड में मुलतान, सिन्ध, बलूच, काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, मक्का, मदीना, बगदाद, इस्तम्बूल, मिश्र, सिंहल द्वीप, करनाटक, उडीसा, बगाल मनीपुर तथा बलद्वीप आदि स्थानो का वर्णन किया है। इसस इनके भौगोलिक ज्ञान पर अच्छा प्रकाश पडता है, यद्यपि विवरण पूर्णत शुद्ध नही है। अग्रेजो के द्वीप बलद्वीप का भी उल्लेख है।[5] इससे ज्ञात होता है कि उस समय अगेज भारत में आ गये थे।

चित्रावली का कथासार—नेपाल के राजा धरनीधर के कोई सन्तान न थी। अत. उसने शिव का आराधन कर उन्हे प्रसन्न किया। पुन शिव के प्रसाद से उसके यहाँ एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुजान रखा गया। बडा होकर एक दिन आखेट से लौटता हुआ राजकुमार वन में मार्ग भूल गया और एक देव की मढी में जा सोया। इसी बीच वह देव भी आ गया और उसने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। थोडी देर के पश्चात् वह देव अपने मित्र एक अन्य देव के साथ

---

[1] गहि भुज कीन्हे पार ज, विनु साहस विनु दाम।
कश्ती सकल जहान के, चश्ती शाह निजाम॥
—चित्रावली, पृष्ठ १०।

[2] बाबा हाजी पीर अपारा। सिद्ध देत जेहि लाग न बारा॥
मोहिं मया कै एक दिन, श्रवन लाग गहि माथ।
गुरमुख वचन सुनाय कै, कलि महं कीन्ह सनाथ॥
—वही, पृष्ठ १०।

[3] सन सहस्र बाइस जब अहे। तब हम वचन चारि एक कहे।
—वही, पृष्ठ १४।

[4] कथा मान कवि गायेउ नई। गुरु परसाद समापत भई॥
—वही, पृष्ठ २३६।

[5] बल द्वीप देखा अगरेजा। जहा जाइ नहिं कठिन करेजा॥
—वही, पृष्ठ १६०।

रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगांठ का उत्सव देखने के लिए रूपनगर गया और साथ ही सुप्त सुजान को भी लेता गया। वहाँ पहुँचकर उन देवों ने राजकुमार को चित्रावली की चित्रसारी में लिटा दिया। जागने पर उसने चित्रसारी को देखा और वहाँ चित्रावली के चित्र को टँगा हुआ देखकर उस पर आसक्त हो गया। वहीं पर रखे हुए रगो से उसने एक अपना भी चित्र बनाया और राजकुमारी के चित्र के पास ही उसे टाँगकर पुन सो गया। उत्सव को देखकर देव पुन उसे उसी अवस्था में उठाकर मढी में ले आये। जब वह जागा तो उसने उसे स्वप्न समझा परन्तु अपने हाथ और वस्त्रों को रग से चिन्हित देखकर उस घटना को सत्य जाना और विकल होने लगा। इसी समय उसके कुछ भृत्य उसे खोजते हुए वहाँ आये और अपने साथ उसे ले गये।

राजकुमार चित्रावली के वियोग में दुखी रहने लगा। एक दिन उसके मित्र सुबुद्धि ने उसे युक्ति बताई और उसने तदनुसार उस मढी में जाकर अन्नसत्र खोल दिया। इधर चित्रावली भी राजकुमार के चित्र को देखकर प्रेमासक्त होकर व्याकुल रहने लगी। एक दिन उसने अपने कुछ नपुसक भृत्य योगियो के वेष में राजकुमार की खोज के लिए भेजे। एक कुटीचर ने इस बात की सूचना राजकुमारी की माँ हीरा को दे दी। उसने उस चित्र को धुलवा डाला। इससे क्रुद्ध होकर राजकुमारी ने उस कुटीचर का सिर मुँडवाकर घर से निकाल दिया। उधर उन नपुसक भृत्यो में से एक उसी मढी पर आ पहुँचा और राजकुमार का परिचय पाकर उसे योगी के वेश में रूपनगर ले आया। वहाँ शिव-मन्दिर में सुजान और चित्रावली दानो ने एक दूसरे के दर्शन किये। इसी बीच उस कुटीचर ने शत्रुतावश राजकुमार को अधा कर दिया और उसे बहकाकर एक पर्वत की गुहा में छोड आया। वहाँ उसे एक अजगर निगल गया। उसकी विरहाग्नि से प्रतप्त होकर अजगर ने उसे उगल दिया। पुन उसे अधा जानकर एक वनमानुष ने एक अजन दिया, जिससे वह फिर देखने लगा। थोडी देर पश्चात् वन में घूमते हुए उसे एक हाथी ने पकड लिया। परन्तु शीघ्र ही एक वृहद् पक्षी उस हाथी को ले उडा, जिससे घबडाकर उसने राजकुमार को छोड दिया और वह एक समुद्र पर आकर गिरा। वहाँ से भ्रमण करता हुआ वह सागरगढ पहुँचा और राजकुमारी कवलावती की पुष्पवाटिका मे विश्राम करने लगा। कुछ समय पश्चात् राजकुमारी वहाँ आई और उसे देखकर मोहित हो गई। घर पहुँचकर उसने भोजन के लिए उसे बुलाया और आहार में अपना हार छिपाकर चोरी के अपराध में उसे बन्दी बना लिया।

इसी समय सोहिल नाम का एक राजा कवलावती के सौन्दर्य की प्रशसा सुनकर सागरगढ पर चढ आया। तब सुजान ने अपने पराक्रम से उसे परास्त कर

दिया। अत में चित्रावली की प्राप्ति-पर्यन्त सयम की प्रतिज्ञा करके उसने कवलावती से परिणय कर लिया और राजकुमारी को साथ ले गिरनार की यात्रा के लिए चला गया। चित्रावली का भेजा हुआ योगी भी सयोग से गिरनार आ पहुँचा और राजकुमार से सदेश लेकर लौट गया। पुन. राजकुमारी का एक पत्र लेकर वह योगी के वेश में सागरगढ आया और राजकुमारी को अपने साथ रूपनगर ले गया। इस बीच में राजा के दरबार में एक कथक आया और उसने सोहिल के युद्ध की गाथा गाई, जिसे सुनकर राजा को चित्रावली के विवाह की चिन्ता हुई और उसने चार चतुर चित्रकार चारो दिशाओं में राजकुमारो के चित्र लाने के लिए भेजे। किसी दूती ने रानी से राजकुमारी के दूत भेजने का समाचार कह दिया। वह दूत सुजान को नगर के बाहर बिठाकर चित्रावली के पास आ ही रहा था कि मार्ग में ही बन्दी बना लिया गया। विलम्ब होने पर राजकुमार अत्यन्त व्याकुल हुआ और पागल की भाँति चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा, जिसे सुनकर राजा ने उसके वध के लिए एक हाथी छोडा परन्तु उसने उस हाथी को ही मार डाला। इससे राजा बडा क्रुद्ध हुआ और स्वय उसके दडनार्थ उद्यत हुआ परन्तु इसी समय एक चित्रकार सागरगढ से राजकुमार सुजान का का चित्र लेकर आया और राजा को बताया कि इसी ने सोहिल को मारा था। राजा ने चित्र से पहचाना कि यह वही राजकुमार था अत वह उसे सादर घर ले गया और और पुन चित्रावली का पाणिग्रहण उसके साथ कर दिया।

सागरगढ से सुजान के चले जाने पर कवलावती विरह से विकल रहने लगी। उसने हसमिश्र को दूत बनाकर रूपनगर भेजा। वहाँ पहुँचकर मिश्र ने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा राजकुमार को चेताया। इससे राजकुमार को कवलावती की स्मृति हो आई और पुन वह चित्रावली को साथ ले सागरगढ आया। वहाँ से कवलावती को भी साथ लेकर वह स्वदेश को चला परन्तु समुद्र में तूफान आ गया और बडी कठिनाइयो से उसे पार कर स्थल-मार्ग से नेपाल पहुँचा। राजा ने सुजान को राज्य-भार दे दिया और फिर उसने दोनो रानियो के साथ सुख भोगते हुए बहुत काल तक राज्य किया।

कथा का आध्यात्मिक पक्ष—सूफी पद्धति की भाँति यह कथा भी अपना आध्यात्मिक पक्ष रखती है। इसमे कवि ने प्राय जायसी का अनुसरण किया है। योगी-प्रभाव के कारण सम्पूर्ण काव्य में अद्वैत की छाप लगी हुई है। सुजान स्वय शिव का अवतार है। राजा धरनीधर को आशीर्वाद देते हुए शिव जी ने स्वय कहा है—

देउ देत हौं आपन अंसा। अब तोरे ह्वै हौं निजु बसा॥[1]

पुन जन्मखड में पडितो ने लग्न आदि विचार कर भी यही बताया है—

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ १६।

मिथुना लगन संभु औतारा ॥[1]

शिव के अवतार से अद्वैत का ही भान होता है। उसमान ने लिखा भी है—

सब वही भीतर वह सब माही। सबै आपु दूसर कोउ नाहीं ॥
दूसर जगत नामु जिन पावा। जैसे लहरी उदधि कहावा ॥[2]

चित्रावली और कवलावती विद्या और अविद्या के रूप हैं। इसीलिए सुजान चित्रावली रूप विद्या की प्राप्ति तक कवलावती रूप अविद्या का उपभोग नहीं करता। सुबुद्धि 'सुबुद्धि' जान पड़ता है, क्योंकि सुबुद्धि विद्या की प्राप्ति में सहायक होती है। दूसरे शब्दों में हम चित्रावली को चैतन्य शक्ति भी कह सकते हैं, क्योंकि कवि ने स्वयं सरोवर खंड में चित्रावली के जल में छिप जाने पर और किसी प्रकार भी अन्विष्ट न होने पर सखियों के मुँह से कहलवाया है कि गुप्त अवस्था में तो तुम्हें जान ही क्या सकती हैं, जब कि तू प्रकट रूप में भी छिपी रहती है। ब्रह्मा भी चारों वेद पढ़कर खोज कर-कर हार गया परन्तु तेरा भेद न पा सका। महेश भी सेवा कर हार गये परन्तु पार न पा सके। और देवों की तो बात ही क्या है। हम अंधी हैं जिन्हें स्वयं कुछ भी सूझता नहीं। भला कौन सा स्थान है जहाँ तुम नहीं हो? तुम्हारी खोज वही पा सकता है जिसे तुम मार्ग दिखाती हो, अन्य केवल योगी होने और ग्रन्थ पढ़ने से कोई लाभ नहीं।[3]

परेवा खंड में भी परेवा के मुख से चित्रावली के रूप वर्णन द्वारा इसी भाव की व्यंजना करते हुए कहा गया है कि यह चित्रावली वह है जिसका सभी ध्यान करते हैं, पृथ्वी पर घर-घर में जिसकी चर्चा है तथा सारा चराचर जगत ही जिसकी चाह में लीन है। जो पुरुष जान-बूझकर भी उसे भुला देता है वह जीता हुआ भी मृत के समान है। सूर्य और चन्द्रमा भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते। वह मनुष्य धन्य है

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ २०।

[2] वही, पृष्ठ १।

[3] गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महं जो रहहि छपानी ॥
चतुरानन पढ़ि चारो बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू ॥
संकर पुनि हारे कै सेवा। ताहि न मिलसि आर को देवा ॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा ॥
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं। हम चखु जोति न देखहि काहीं ॥
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, औ पुनि पढ़े गरन्थ ॥

—चित्रावली, पृष्ठ ४७-४८।

जो उसके मार्ग पर न मन लगाता है।[1]

आगे इसी मार्ग पर सिद्धि-प्राप्ति तक चार नगर रूप चार स्थितियों का वर्णन किया गया है। प्रथम भोगपुर है, जहाँ इन्द्रिय-विषय अपनी ओर खींचते हैं। जो इनमें न रचकर काम-क्रोधादि को जीत लेता है वही आगे बढ़ता है और गोरखपुर नामक नगर में पहुँचता है। यहाँ वह योगी होकर चलता है और गुरु द्वारा अन्तर्दृष्टि पाकर आगे बढ़ता है। पुन तृतीय नेहनगर में प्रवेश पाता है। इस स्थिति में उसे समता-भाव प्राप्त हो जाता है और फिर योगी वेश भी छूट जाता है। तदनन्तर वह रूपनगर में पहुँचता है। यही अन्तिम स्थिति है, यही लक्ष्य है। यह स्थिति बड़ी दुर्गम है। यहाँ करोड़ो में कोई-कोई पहुँचता है।[2]

शेख नबी कृत ज्ञानदीप—शेख नबी जौनपुर जिले में मऊ के निवासी थे। ये जहाँगीर के शासनकाल मे सन् १६१६ ई० के लगभग विद्यमान थे। इन्होने 'ज्ञानदीप' नाम की एक कहानी लिखी, जिसमें राजा ज्ञानदीप और देवजानी की प्रेम-कथा वर्णित है।

कासिमशाह कृत हस जवाहिर—कासिमशाह दरियाबाद (बाराबकी) में अमानुल्लाह के यहाँ उत्पन्न हुए थे। और जाति के हीन थे इनका समय १७३१ ई० के लगभग माना गया है, क्योंकि इन्होने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह की प्रशसा की है। इन्होंने 'हस-जवाहिर' नामक एक प्रेमाख्यानक काव्य लिखा, जिसमें राजा हस और रानी जवाहिर की प्रेम-कहानी है। कथा का सार इस प्रकार है—

बलख नगर में सुलतान बुरहान के घर हस नाम का एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ और चीनाधिपति आलमशाह के घर जवाहिर नाम की एक सुन्दरी कन्या ने जन्म लिया। बड़े होकर इनके हृदय में प्रेम का बीजारोपण हुआ। हस जवाहिर की प्राप्ति

---

[1] वह चित्रावलि आहै सोई। तीन लोक बेदं सब कोई॥
सुरपुर सबै ध्यान ओहि धरहीं। अहिपुर सबै सेव तेहि करहीं॥
मृतुमडल जो देखा हेरी। घर-घर चलै बात तेहि केरी॥
पछी वोहि लगि फिरहिं उदासा। जल के सुत ओहि नाउ पियासा॥
परवत जपहिं मौन होइ नाऊ। आसन मारि बैठि एक ठाऊँ॥
पहुमी बहु जो सरग लहु बाढ़ी। सेवा करतहि एक पग ठाढ़ी॥
जानि बूझि जो ताहि बिसारा। सो मनु जियतहि भरा अडोरा॥
अति सुरूप चित्रावली, रवि ससि सर न करेइ।
धन सो पुरुष औ धन हिया, ओहिक पथ जिउ देइ॥
—चित्रावली, पृष्ठ ७८।

[2] चित्रावली, पृष्ठ ८०-८३।

के लिए घर से योगी होकर निकला और अनेक कष्टों के पश्चात् उसे प्राप्त कर घर लौटा।

यह कथा भी उपर्युक्त कथाओं की भाँति अध्यात्मपरक ही है।

नूर मुहम्मद—ये जौनपुर ज़िले में सबरहद नामक स्थान के रहने वाले थे। पुन ये आज़मगढ़ में अपने श्वसुर शमसुद्दीन के यहाँ रहने लगे थे। इनका समय १७४० के आसपास है। क्योंकि इन्द्रावती में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह की प्रशंसा की है। इन्होंने फारसी में अनेक पुस्तकें लिखीं। हिन्दी में 'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' ये दो काव्य लिखे। इन्द्रावती का रचना-काल सन् ११५७ हिजरी (सन् १७४४ ई० के लगभग) है।[1] अनुराग बाँसुरी का सन् ११७८ हिजरी (सन् १७६४ ई० के लगभग) है।[2] अनुराग बाँसुरी तो तत्वज्ञान की मञ्जूषिका ही है। ईश्वर-जीव के मध्य मनोवृत्तियों के सहारे प्रेम-कथा का ऐसा सुन्दर चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इनका उपनाम 'कामयाब' था।[3]

इन्द्रावती का कथासार—कालिंजर देश के राजकुमार राजकुँवर को पिता की मृत्यु के उपरान्त शासन-भार मिल गया और सपत्नीक सुख से राज्य करने लगा। एक दिन कुँवर को स्वप्न में अत्यन्त लावण्यमयी रमणी दृष्टिगोचर हुई, जिसके प्रेम-पाश में आबद्ध हुआ वह विकल रहने लगा। मनपुरनिवासी उसके मंत्री बुद्धसेन ने उसकी विकलता का कारण जान अनेक चितेरों से रमणियों के चित्र बनवाये और कुँवर को दिखाये परन्तु उनमें एक भी चित्र स्वप्न-दृष्ट युवती का न था। अन्त में कुँवर अपनी पुष्पवाटिका में तप करते हुए एक तपस्वी के पास गया और अपनी कथा सुनाई। उसने बतलाया कि आगमपुर नाम का एक नगर है, जिसका मार्ग मात्र वन और अपार समुद्र से बड़ा दुर्गम है। वहाँ ईश्वर का एक मठ है जहाँ योगी, तपी, सन्यासी और बैरागी दिन-रात अलख का नाम जपते हैं। ऐसे धर्मनगर का राजा जगपति है। उसी की कन्या इन्द्रावती (पूर्वनाम कलजोति) को तुमने स्वप्न में देखा है। उसे गुरु की कृपा से कोई मरजिया ही पा सकता है। कुँवर की प्रार्थना से तपस्वी ने उसे दिव्य दृष्टि दी, जिससे उसने पथ सहित आगमपुर को देखा।

---

[1] सन् इग्यारह सौ रहेउ, सत्तावन उचराइ।
कहे लगेउ पोथी तबै, पाय तरी कर बाह॥

—इन्द्रावती, पृष्ठ ४।

[2] रह इग्यारह सै अठहत्तर। पंच सुनाएउ बचन मनोहर॥

—अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १।

[3] 'कामयाब' कर कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा॥

—अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १।

इसके पश्चात् वह स्त्री, राज्य आदि को छोडकर योगी हो गया और आठ साथियो को लेकर आगमपुर को चल दिया। देहपुर नामक स्थान पर रात्रि बिताई। भोर होते ही वह सघन वनो के पास आया। वनो को पार करते हुए भिन्न-भिन्न वन में इन्द्रिय, बुद्धि आदि भिन्न मित्रो ने कुवर को रोकना चाहा परन्तु वह न रुका और अन्त मे देहन्तपुर में आया। वहाँ अन्य साथियो को छोड बुद्धसेन के साथ आगे चला और वन-पर्वतो को लांघता हुआ समुद्र पर पहुँचा। वहाँ से कायापति के साथ समुद्र पार गया और जिउपुर मे वास किया। फिर आगे उसने बुद्धसेन को भी छोड दिया और केवल प्रेम को साथ ले आगे बढा। आगमपुर पहुँचकर वह रात्रि को ईश-मण्डप मे रहा। वहाँ प्रात ही मन फुलवारी में गया।

उधर इन्द्रावती को भी स्वप्न मे एक योगी दिखलाई दिया था, जिसने समुद्र से मोती निकालकर उसकी माँग में सेंदुर भरा था, अत वह भी प्रेम-पाश से आबद्ध हो चुकी थी। जब उसे अपनी चेता नाम की मालिन से यह ज्ञात हुआ कि कोई योगी उसकी प्राप्ति के लिए फुलवारी में आकर साधना मे लीन है तो वह फुलवारी में गई। कुँवर उसे देख कर मूर्छित हो गया। इन्द्रावती एक पत्र लिखकर वहाँ से चली आई। उस पत्र मे लिखा था—

"जीव नाम का एक राजा है। उसने शरीरपुर में स्थान पाया और नगर की शोभा को देखकर भुला गया। उसी नगर में एक दुर्जन नाम का राजा था। एक दिन जीव राजा ने अपने मन्त्री बुद्ध से कहा कि दुर्जन माया मोह में पडा हुआ है और मेरे मार्ग में एक काँटा है। एक नगर में दो राजा नही रह सकते। बुद्ध ने उसे सावधानी से राज्य करने को कहा। राजा का मन नाम का एक पुत्र था, जो एक सुन्दरी को चाहता था परन्तु पा न सका था एक दिन उसने दुर्जन को बुलाकर सारा भेद कहा। दुर्जन ने राजा जीव से कहा कि कायापुर में दरसन (दर्शन) नाम का एक राजा है। उसकी रूप नाम की अति लावण्यमयी कन्या है। यदि उसका विवाह मन से हो जाय तो बडा सुखकर हो। राजा को यह बात बहुत रुची और उसने दृष्टि नामक दूत को कायापुर भेजा। कन्या से पूछने पर दरसन ने कहला भेजा कि कन्या नही मानती। इस पर जीव अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कायापुर के पास पहुँच बुद्ध को दूत बनाकर भेजा। वह सारा वृतान्त जानकर आया। इधर रूप ने चितवन नाम की दासी को मन का रूप आदि देखने के लिए भेजा। धीरे-धीरे रूप को दया आई और मन का आना-जाना प्रारम्भ हो गया। अन्त में दोनो का परिणय हो गया। मन के एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। जीव राजा बालकों के फेर में पड गया अत उसने राज-कार्य को दुर्जन को सौप दिया। अब जीव के सेवक दुर्बल हो गए। बुद्ध ने जीव को समझाया परन्तु वह न समझा। अन्त में बुद्ध ने साहस तपी से राजा का भेद कहा। साहस ने उपाय बताया कि प्रीतपुर नाम का एक स्थान है, वहाँ कृपा नाम का राजा

है। उसके पास जाओ, वह तुम्हारा काम बना देगा। दोनों कृपा के पास गये। कृपा ने बुद्धि की सहायता से जीव के हृदय में प्रेम का सचार करा दिया और महाराज सुख दाता के प्रसाद से जीव को पुन शरीरपुर का अधिपति बना दिया।"

मूर्च्छा के हटने पर कुँवर ने पत्र को पढा और सम्पूर्ण रहस्य से अवगत होकर प्रेमोन्माद से और भी विकल होने लगा। पुन मालिन द्वारा पत्र-व्यवहार हुआ। अन्त में कुँवर ने पवन के हाथो सन्देश भेजा। इन्द्रावती ने भी उसी के हाथों अपना सन्देश भेज दिया। उसे सुन कुँवर प्रेमपुर में प्रेमपति नामक मद्यप के पास गया और उससे एक प्रेम का प्याला पी वह राजद्वार पर स्थित स्नेह-वृक्ष की छाया में बैठ गया और राजा जगपति द्वारा समुद्र से मोती निकालने के नियम को सुनकर इन्द्रावती की अट्टालिका के नीचे आया। इन्द्रावती के दर्शन तो पाये परन्तु ऊपर न पहुँच सका। इसी समय एक रागी से प्रेम राग सुनकर वह बुद्ध समेत समुद्र की ओर चला। बीच में दुर्जन नाम के गढपति ने उसे बन्दी बना लिया। रात्रि को उसकी मोहिनी स्त्री ने दस रूपवती स्त्रियो को साथ ले कुँवर को रिझाया परन्तु उसका प्रेम सच्चा था। अन्त में मोहिनी हार मानकर चली गई।

राजा जहाँ बन्दी था वहीं एक वृक्ष पर प्राण नाम का एक सुआ बैठा था। उससे परिचय हो जाने पर कुँवर ने उसे इन्द्रावती के पास भेजा। इन्द्रावती ने उसे पिंजरे में डाल दिया। रात को दीपक के प्रति सुए की उक्ति को सुन इन्द्रावती ने उससे आने का कारण पूछा। सुए ने समस्त समाचार सुना दिया। उसे सुन इन्द्रावती ने एक पत्र लिखकर सुए के बाँध दिया। उसमें लिखा था कि मेरे पिता का मित्र कृपाराय है। यदि उसे समाचार मिले तो वह तुम्हें छुडा लेगा। पत्र को पढकर कुँवर ने बुद्धसेन को कृपाराय के पास भेजा। बुद्धसेन ने कृपाराय की बडी सेवा की जिससे प्रसन्न हो कृपाराय ने जगपति की सहायता से दुर्जन पर आक्रमण कर दिया। गर्वराय के कहने से दुर्जन ने भी उसका सामना किया। क्षमा और धर्मराय के हाथों क्रमश. दुर्जन के वीर और मदनसिंह नाम के भट पराजित हुए दोनो दलो में घोर सग्राम हुआ और कृपाराय के हाथों दुर्जन मारा गया। तब कृपाराय ने कुँवर को बन्दीगृह से निकाला और समुद्र में मोती का स्थान बता मार्ग बता दिया। जब जगपति ने यह समाचार सुना तब उसने कुँवर को वापिस बुला लिया।

इन्द्रावती की विरह-व्याकुलता को बढता हुआ देख सखियों ने नित्य प्रति प्रेम कहानियाँ कहनी प्रारम्भ की जो प्राय अध्यात्मपूर्ण होती थी। इन कहानियों से इन्द्रावती की विरहाग्नि और भडक गई। उधर कुँवर निराश हो समुद्र में डूबने के लिए चल दिया। मार्ग में गोसाईं गुरुनाथ मिले। उन्होंने उसे धैर्य बँधाया और राजा जगपति के पास लाकर उसका वास्तविक परिचय दिया। तत्पश्चात् राजा की आज्ञा

और गुरुनाथ का आशीर्वाद पाकर वह मोती निकालने समुद्र पर गया। अनेक कष्ट और परीक्षाओं के पश्चात् उसने अपनी विरहाग्नि से समुद्र को सन्तप्त कर मोती प्राप्त किया। फिर वह आगमपुर लौट आया। राजा जगपति ने शुभ दिन देख इन्द्रावती का विवाह कुँवर के साथ कर दिया।

कथा की आध्यात्मिकता—कथा प्रत्यक्षत अध्यात्मपूर्ण ही है। कवि ने कालिंजर देश और राजकुमार राजकुँवर के अतिरिक्त सभी नामो की कल्पना मन, बुद्धि, शरीर प्राण, दया, कृपा, क्षमा, प्रेम, स्नेह, काम, क्रोध, मद, दृष्टि, चितवन एव पवन आदि साधना में प्रयुक्त अग प्रत्यगो एव मनोभावो के नामों पर ही की है। इसमें कुँवर जीवात्मा और इन्द्रावती ब्रह्म की ज्योति हैं। इन्द्रावती का पूर्व नाम रत्नज्योति ही था। लिखा भी है कि वह रूप प्रकाशमान दीपक है और उस पर सारा ससार पतग बना हुआ है।[1] बुद्धसेन ज्ञान है, क्योंकि ज्ञान ही जीवात्मा का सिद्धि-प्राप्ति तक सहायता करता है। सच्चे प्रेम का प्याला पीकर ही जीवात्मा अनेक साधनाओं के पश्चात् ब्रह्म-ज्योति को प्राप्त करती है—यही इसमें दर्शाया गया है।

इसमें अवान्तर कथाएँ भी अध्यात्मपूर्ण ही हैं जैसा कि पत्र की कथा से स्पष्ट है।

अनुराग बाँसुरी की सक्षिप्त कथा—चतुर्दिक फूली हुई मन फुलवारी से युक्त मूरतिपुर नगर में जीव नाम का राजा राज्य करता था। उसका अन्त करण नाम का एक पुत्र था। उसके दो सगी थे, सकल्प और विकल्प। अन्त करण के तीन परम प्रिय मित्र भी थे—बुद्धि, चित्त और अहकार। उसकी महामोहिनी नाम की एक स्त्री थी।

एक बार श्रवण नाम का ब्राह्मण विद्यापुर से पढकर लौटा। उसके गले में एक मोहनमाला पडी थी जो उसे अपने मित्र ज्ञातस्वाद से उपहार में मिली थी और ज्ञातस्वाद ने जिसे सनेह नगर के राजा दर्शनराय की पुत्री सर्वमगला से पुरस्कार रूप में प्राप्त किया था। जब अन्त करण ने उस माला को श्रवण के कठ में देखा और उसका भेद जाना तो वह सर्वमगला का प्रेमी बन गया। पिता ने पुत्र की प्रेम वार्ता को बूझ द्वारा जानकर कठिनाइयो के कारण उसे रोकना चाहा, परन्तु वह न माना। बुद्धि, सकल्प एव विकल्प ने भी प्रयत्न किये किन्तु वह कब रुकने वाला था। अन्त में सनेह नगर को प्रस्थान कर ही दिया। इसी समय एक सनेह गुरु नाम का वैरागी सनेह नगर से आया, जिससे उसने सर्वमगला के विषय में सब कुछ जान लिया। गुरु ने उसके प्रेम को जानकर अपने उपदेशी सुआ को उसके साथ कर दिया और स्वय तीर्थ-यात्रा के लिए चला गया। माता पिता, कलत्रादि सभी को छोडकर अन्त करण

[1] है वह रूप दीप उजियारा। है पतग तापर सारा॥

—इन्द्रावती, पृ० ७९।

सुम्रा के साथ प्रेम-मार्ग पर योगी होकर रूप सनेही, राम सनेही तथा वास सनेही आदि मित्रों के साथ चल दिया। मार्ग में इन्द्रियपुर के निकट आया तो वहाँ के राजा अभेष्ट ने उसे मनभावनी आदि कुछ रंगीनियों द्वारा पथ-भ्रष्ट करना चाहा, जिन्होंने रूप, रस, गंधादि से उसे लुभाया परन्तु वह विचलित न हुआ। उसके मित्र वहीं रमण करने लगे। वह आगे बढ़ता गया और अन्त में सनेह नगर पहुँच गया। वहाँ एक देवहरा में ठहरा।

उधर सर्वमंगला ने स्वप्न में एक दिन मँडराता हुआ भँवर और दूसरे दिन एक योगी देखा जो उसकी पूजा में लीन और कृपा का भिक्षुक था। स्वप्न पर विचार करने पर निश्चित हुआ कि कोई व्यक्ति सर्वमंगला के प्रेम में डूबकर योगी बना हुआ है। एक दिन सर्वमंगला अपनी सखियों के साथ आँगन में बैठी थी कि उपदेशी सुआ अन्तःकरण के पास से उसके पास आया और उसके बुलाने पर हाथ पर आ बैठा। शनैः शनैः उसने सारा भेद कह सुनाया। अब तो सुए ने मध्यस्थ का कार्य किया और चित्र एवं सदेशों का आदान प्रदान कराना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन अन्तःकरण भवन के पास चला आया। उधर से सर्वमंगला ने भी देखा। दोनों की आँखें मिलते ही अन्तःकरण मूर्छित हो गया। इस प्रकार प्रेम व्यापार चलता रहा।

जीव राजा को जब पुत्र का कोई समाचार न मिला तो उसने महाप्रभु दर्शनराय के पास अनुग्रहार्थ पत्र भेजा। इसी समय सनेह गुरु वैरागी भी तीर्थयात्रा से लौटा और उसने राजा से अन्तःकरण का परिचय कराया। तब तो राजा ने सहर्ष सर्वमंगला का विवाह उसके साथ कर दिया। तत्पश्चात् अन्तःकरण घर लौट आया।

कथा में अध्यात्म—पठन मात्र से ही इस कथा का अध्यात्म बुद्धिगत हो जाता है। मूरतिपुर नगर शरीर है जिसमें जीव नाम का राजा है। अन्तःकरण उसका पुत्र है। दर्शनराय ईश्वर है और सर्वमंगला उसका ज्ञान है। जीव को संकल्प और विकल्प अन्तःकरण में ही हुआ करते हैं। बुद्धि, चित्त एवं अहंकार अन्तःकरण के साथी होते ही हैं। यहाँ अन्तःकरण-चतुष्टय में से मन को छोड़ दिया गया है और उसे फुलवारी का रूप दिया गया है। महामोहिनी माया है जिसे छोड़कर सर्वमंगला रूप ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए जीव चलता है। सनेह गुरु स्नेह है, जो जीव को मार्ग पर लगाता है। इन्द्रियपुर पंचेन्द्रियाँ हैं और अभेष्ट पापेच्छा है। मनभावनी विषय-प्रवृत्ति है, जो जीव को शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामक इन्द्रिय-विषयों की ओर आकृष्ट करती है। परन्तु प्रेमी जीव इनमें मन नहीं लगाता। अन्त में संयम द्वारा अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ जीव दर्शनराय रूप ईश्वर की कृपा से सर्वमंगला रूप ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करता है। इसमें सनेह गुरु रूप स्नेह (प्रेम) लक्ष्य की प्राप्ति पर्यन्त सहयोग देता है।

नूर मुहम्मद के साथ ही इन प्रेमाख्यानक काव्यों का क्रम समाप्त हो जाता है।

नके पश्चात फाजिल शाह ने 'प्रेम रतन' लिखा जिसमें नरशाह और माहे मुनीर की प्रेम-कथा है। परन्तु यह महत्वपूर्ण नहीं है। इस परम्परा में उपर्युक्त कवि और काव्यों के अतिरिक्त अन्य कवि या काव्य इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। पहले कहा जा चुका है कि कबीर, दादू आदि कुछ ऐसे सन्त हुए हैं जिन्होंने सूफीमत के अनेक सिद्धान्तों को अपनाया और उन्हें अपने वचनों में व्यक्त किया। शाह बरकतुल्ला ने (१६६०-१७२६ ई०) प्रेम प्रकाश में बतलाया है कि जीव ईश्वर का ही अंश है और जब प्रेम द्वारा निजत्व का लोप हो जाता है तो जीवात्मा परमात्मा से मिल जाती है।

प्रेमाख्यानक सूफी काव्यों में साम्य—प्रेमाख्यानक सूफी काव्यों में कई बातें समान हैं। ये काव्य मुसलमानों द्वारा लिखे गये। शाहजहाँ के समय में हुए केवल सूरदास नामक एक हिन्दू द्वारा लिखित 'नल-दमयन्ती' कथा नाम की कहानी मिली है जो साहित्य की दृष्टि से अधम कोटि की है। ये सभी कवि मुसलमान होते हुए भी अत्यन्त उदार थे। सभी ने हिन्दू कथाओं को लेकर ही प्रेम-कथायें लिखी हैं। वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का जो सुन्दर चित्रण हमें इन काव्यों में मिलता है वह अन्यत्र नहीं। यही कारण है कि इनमें खण्डन-मण्डन की प्रणाली को छुआ तक नहीं गया है और हिन्दू देवताओं को बड़े सम्मान के साथ चामत्कारिक घटनाओं में प्रदर्शित किया गया है।

ये सभी काव्य फारसी की मसनवियों के ढंग पर लिखे हुए हैं। इनमें भारतीय सर्गबद्ध काव्य शैली को नहीं अपनाया गया है। मसनवियों की शैली के अनुसार प्रथम स्तुतियाँ होती हैं जिनमें प्रायः क्रमानुसार ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफा, गुरु एवं शाहवक्त की स्तुति का प्राधान्य होता है। इनमें भी इसी सरणी का अनुसरण है। आगे मसनवियों की प्रणाली पर ही इनमें प्रसङ्गों के नाम पर सर्गों का नाम दिया गया है। परन्तु प्रकृति-वर्णन भारतीय ढंग पर ही हुआ है।

अवधी भाषा इनका माध्यम है। इन सब में कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है। मृगावती और मधुमालती में चौपाई की पाँच पंक्तियों के पश्चात् तथा पद्मावती और चित्रावली में सात पंक्तियों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है। नूर मुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी में छः पंक्तियों के पश्चात् दोहा न रखकर एक बरवै रखा है।

ये सारी कथायें अध्यात्म से ओतप्रोत हैं। लौकिक प्रेम-कथाओं में दिव्य प्रेम की झाँकी है, अतः रहस्यात्मकता की अखण्ड व्यापकता है। जीवात्मा ईश्वरीय अंश है एवं सम्पूर्ण विश्व भी उसी का प्रदर्शन है। इसीलिए जीवात्मा ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करने के लिए सदैव व्याकुल रहती है। गुरु से ईश्वर, जीव और जगत का वास्तविक रूप जानकर जब मनुष्य के हृदय में प्रेम उद्दीप्त हो जाता है तब कठिन साधना के पश्चात्

वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। बस यही इन प्रेम कथाओं का वर्ण्य विषय है। लक्ष्य की सुन्दर व्यञ्जना के साथ-साथ स्थान-स्थान पर सदाचरण का भी समावेश है। इनमें वर्णित प्रकृति के रम्य रूपों में ईश्वरीय सुषमा व्याप्त-सी दीख पड़ती है।

इन सभी काव्यों में योगी भावना कार्य कर रही है। ऐसा दीख पड़ता है कि इन साधकों पर योगियों का अपार प्रभाव था। सभी में नायक योगी होकर ही निकले हैं और योग-साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है तथा गोरखनाथ, गोपीनाथ और भर्तृहरि का नाम तो प्राय देखने में आता है।[1] यही कारण है कि अद्वैत का प्रतिपादन अच्छा हुआ है।

भारतीय सूफीमत में बाह्य सूफीमत से अपनी कुछ विशेषतायें हैं। इसमें हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के सम्मिश्रण द्वारा निर्गुण सगुण के समन्वय में जो अद्वैत का पुट दिया गया है उससे ऐसा विचित्र रंग आया है कि देखते ही बनता है। प्रेम-कथाओं द्वारा सूफी सिद्धान्तों का विवेचन बड़ा रुचिकर और ग्राह्य हो गया है। अब अग्रिम कुछ पर्वों में विस्तारतः यह बतलाया जायगा कि भारतीय सूफीमत का स्वरूप क्या है और उसके सिद्धान्तों का विवेचन किस प्रकार हुआ है।

---

[1] तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी ॥
कथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहं गोरख कहा ॥
—जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृ० ५३।

जौं भल होत राज और भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू ॥
राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। जेहि के घर सोरह सौ रानी ॥
कुच लीन्हे तरवा सहराई। भा जोगी कोउ संग न लाई ॥
—वही, पदमावत, पृ० ५५।

भसम अंग पग पावरी, सीस कलपि करि केस।
कथ पहिरि लै दंड कर देखन निसर्यो देस ॥
—चित्रावली, पृ० ६८।

पहिरि लेहु पग पाँवरी। बोलहु सिरी गोरक्ख ॥
—वही, पृ० ८५।

भएउ कुवर बैरागी भेसू। लाल बैराग भुलान योगेसू।
—अनुराग बाँसुरी, पृ० ३५।

जाको चितवन भए बेहाथा। नाथ मछन्दर गोरखनाथा ॥
—इन्द्रावती, पृ० ४३।

अष्टम पर्व
हिन्दी-काव्य में सूफी-सिद्धान्त

पिछले पर्व मे यह बतलाया गया है कि हिन्दी साहित्य में सूफीमत के सिद्धान्तो का विवेचन पूर्णत हम केवल उन काव्यो में पाते है जो मुस्लिम साधको द्वारा प्रेमाख्यान रूप में लिखे गये और यत्र-तत्र प्रशान उनमें जो अन्य सन्तो द्वारा मुक्तक रूप में लिखे गये। रहस्यवादी प्रेमाख्यानक परम्परा में जायसी एव नूर मुहम्मद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। द्वितीय प्रकार के सन्तो में कबीर, दरिया तथा शाह बरकतुल्ला आदि प्रसिद्ध है। जायसी आदि ने प्रेम-कथाएं लिखते हुए उन्हे अध्यात्मपरक बताकर बीच-बीच में अनेक रहस्यमय सकेतो द्वारा सूफीमत के विभिन्न सिद्धान्तो को क्वचित् प्रत्यक्षत और क्वचित अप्रत्यक्षत प्रतिपादित किया है। कबीर आदि ने प्राय स्पष्टता को अपनाया है। रहस्य के प्रकटीकरण के लिए प्रतीको का प्रयोग दोनो ने ही किया है।

हिन्दी साहित्य में इन कवियो के काव्यो में हमें जो कुछ भी सूफीमत मिलता है उसके पर्यालोचन से यह परिणाम निकलता है कि वह मध्य पूर्व के प्रदेशो में सिद्धान्तीभूत सूफीमत से बहुत-कुछ विभिन्नता रखता है और उसकी अपनी विशेषताएँ है। इससे पूर्व पर्वो में जो सूफीमत का दिग्दर्शन कराया गया है उसकी अपेक्षा भारतीय सूफीमत में एक सबसे बडा प्रभाव हम योगियो का देखते है। बाह्यसूफीमत में ध्यानार्थ अनेक आसनो का महत्त्व होते हुए भी हठयोग को कोई स्थान न था। परन्तु जायसी आदि ने इडा आदि नाडियो एव शून्य आदि का प्रतिपादन कर हठयोग को अपनाया ही है। स्थान-स्थान पर गोरखनाथ, गोपीचद एव भर्तृहरि का नाम लेते हुए योग साधना को श्रेष्ठ बतलाया गया है—

> जो भल होत राज औ' भोगू। गोपीचद नहिं साधत जोगू॥[1]
> राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। जेहि के घर सोरह सै रानी॥
> कुच लीन्हे तरवा सहराई। भा जोगी, कोउ सग न लाई॥[2]
> गोरख सिद्धि दीन्ह तोहि हाथू। तारी गुरु मछदरनाथू॥[3] —जायसी

जायसी के अतिरिक्त अन्य सूफियो ने भी इनकी महत्ता को स्वीकार किया है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ५५।

[2] वही, पद्मावत, पृष्ठ ५५।

[3] वही, पद्मावत, पृष्ठ ६८।

परहु बान जनि एकहु, कहुँ कोऊ जो सयन ।
पहिरि लेहु पग पावरी, बोलहु सिरी गोरवख ॥[1] —उसमान

जाकी चितवन भये बेहाथा । नाम मुछन्दर गोरखनाथा ॥[2] —नूरमुहम्मद

सूफी प्रेम-काव्यों में विशेषत द्रष्टव्य बात यह है कि सभी नायक साधक रूप में ही प्रदर्शित किये गये है और वे योगी होकर ही निकले है। उन्होंने वेश भी योगियो का ही धारण किया है। पद्मावती में राजा रत्नसेन के योगी वेश का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

तजा राज राजा भा जोगी । औ किंगरी कर गहेउ बियोगी ॥
तन बिसभर मन बाउर लटा । अरुझा प्रेम परी सिर जटा ॥
चन्द्र बदन औ चन्दन देहा । भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
मेखल, सिंघी, चक्र, धधारी । जोगबाट, रुदराछ, अधारी ॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा । सिद्धि होइ कह गोरख कहा ॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जप माला । कर उपदान, कांध बघछाला ॥
पावरि पांव, दीन्ह सिर छाता । खप्पर लीन्ह भेस करि राता ॥[3]

इस प्रकार हम देखते है कि किंगरी, (सारंगी), जटा, भस्म, मेखला, सिंगी, चक्र, धधारी (गोरखधंधा), जोगबाट, रुद्राक्ष, अधारी (झोला), कथा, मुद्रा, जपमाला, उपदान (कमडल), बघछाला, पावरि (खडाऊं), छत्र, खप्पर और गेरुआ वस्त्र ये सभी चिन्ह योगियो के ही है। उसमान ने भी चित्रावली में कुँवर सुजान के योगी होते समय इन्हीं में से अधिकाश चिन्हो का वर्णन किया है।[4] इनके अतिरिक्त नूर मुहम्मद आदि न भी प्राय इन्ही वेश-लक्षणो का विवेचन किया है। शाह बरकतुल्ला अपनी आँखो को योगी बतलाते हुए कहते है कि उनमें रक्त, कृष्ण और शुक्ल रेखाएँ ही कन्था है, अश्रु-बिन्दु ही सुमिरिनी है तथा उन्हे स्वामी के दर्शनो की याचना है।

योगियो के साथ-साथ हम सिद्ध प्रभाव भी पाते है। जायसी ने तो सिंहल द्वीप में रत्नसेन की रक्षार्थ महादेव आदि देवो के अतिरिक्त नौ नाथ और चौरासी सिद्धों के आने का भी उल्लेख किया है—

नवौ नाथ चलि आवहिं, औ' चौरासी सिद्ध ॥[5]

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ ८१।
[2] इन्द्रावती, पृष्ठ ४३।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ५३।
[4] चित्रावली, पृष्ठ ८५।
[5] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ११३।

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि इन सूफियों पर योगियों का प्रखड ...या। ये वेश को महत्त्व न देकर उसे बाह्य लक्षण मात्र मानते थे। नूरमुहम्मद ने लिखा है कि ईश्वरीय साक्षात्कार के निमित्त वेश कोई मूल्य नहीं रखता। उसके ...तो वेश भावना का त्याग करना ही पडता है—

भेष किहे यह भीख न पावउँ। तब पावऊ जब भेष नसावहु ॥[1]

पद्मावती में अलाउद्दीन द्वारा राजा रत्नसेन के बन्दी किये जाने पर पद्मावती जोगिन होकर अपने प्रिय के पास जाना चाहती है। तब उसकी सखियाँ प्रिय-मिलन के हेतु बाह्य वेश को केवल स्वाग ही बतलाती हैं और कहती हैं कि प्रिय का वियोग ही परम योग है, अजलि ही खप्पर है, दीर्घ उच्छ्वासें ही सिगी का फूँकना है और प्रेम ही गदरमाला है। विरह धधारी है, अलक ही जटा है, प्रिय के पन्थ को पुन. पुनः निहारने वाले चचल नेत्र ही चक्र हैं तथा सहज परिधान ही कथा है। भूमि ही मृग-छाला है, आकाश ही छत्र है, हृदय की अनुरक्तता ही वस्त्ररजन है, मन माला का फेरना ही मत्रजाप है एव शरीर के पचभूत ही भस्म हैं। और प्रिय कथा का सुनना ही कुण्डल है, चरणों पर छाई धलि ही खडाऊँ तथा गोरा-बादल रूप आश्रय ही अधारी है—

भीख लेहु, जोगिनि ! फिरि मागू। केत न पाइय किए सवागू ॥
यह बड जोग वियोग जो सहना। जे ँ पीउ राखै तेहु रहना ॥
घर ही मह रहु भई उदासा। अजुरी खप्पर सिंगी सासा ॥
रहै प्रेम मन अरुभा गटा। विरह धधारि अलक सिर जटा ॥
नैन चक्र हेरे पिउ पथा। कया जो कापर सोई कथा ॥
छाला भूमि, गगन सिर छाता। रग करत रह हिरदय राता ॥
मन माला फेरे तत ओही। पाँचों भूत भसम तन होहीं ॥
कुडल सोइ सुनु पिउ कथा, पवरि पाव पर रेहु।
दडक गोरा बादलहि, जाइ अधारी लेहु ॥[2]

कबीर आदि सन्त तो वेश के परम विरोधी थे ही। साधना को प्रमुखता देते हुए इन सूफियों ने योगियों से हठयोग की चर्या को साधनार्थ ग्रहण किया ही है। पूर्व पर्व में वज्रयानी सिद्धों एव नाथपथी योगियों की हठयोग सम्बन्धी साधना-पद्धति का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ कुछ उद्धरणों से हम यह सिद्ध करेंगे कि इन सूफी साधकों ने उसे कहाँ तक अपनाया।

---

[1] इन्द्रावती, पृष्ठ २५।

[2] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ २७८

योग के अनुसार पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड की कल्पना की गई है। जायसी ने 'जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहि'[1] इस वचन से इसे स्वीकार किया है। इसलिए बाह्याचार तथा बाह्य उपासना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। कबीर ने हठयोग को पूर्णत ही अपनाया है और यत्र-तत्र उसकी विवेचना भी विशदता से की है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि योग-साधना में लीन आत्मा महारस अमृत का उपभोग करती है और आनन्द मनाती है। वह ब्रह्माग्नि में काया को जलाती और ध्यान में अजपा जाप करती है। आसन मारकर त्रिकुट में सहज समाधि द्वारा इन्द्रियों को विषयों से खींच लेती है तथा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की विभूति से मनोमार्जन कर निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार करती है—

आत्मा अनंदी जोगी, पीवै महारस अमृत भोगी ॥ टेक ॥
ब्रह्म अगनि काया पर जारी । अजपा जाप उनमनीं तारी ॥
त्रिकुट कोट में आसण मांडै । सहज समाधि विषै सब छांडै ॥
त्रिवेणी बिभूति करै मन मजन । जन कबीर प्रभु अलख निरंजन ॥[2]

इन चार पंक्तियों में ही हमें योग का सार दीख पड़ता है। 'आत्मा अनंदी योगी' एवं 'प्रभु अलख निरंजन' इन दो वाक्यों के सामंजस्य से अद्वैत का ही प्रतिपादन हुआ है।

जायसी ने भी शरीर में 'जो ब्रह्माण्डे सो पिंडे, जो पिंडे सो ब्रह्माण्डे' के आधार पर व्यष्टि में समष्टि का निरूपण करते हुए ब्रह्माण्ड के सप्त खण्डों की कल्पना की है। 'पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ'[3] इसमें प्रथम खण्ड शनीचर से आगे वृहस्पति, मंगल आदित्य, शुक्र, बुद्ध, और सोम तक सप्त ग्रहों की स्थिति के आधार पर सप्त खंड माने हैं।[4] सबसे नीचे शनिश्चर और सर्वोपरि सोम है। सप्तम खण्ड सोम है, जो भृकुटि के मध्य कपाल में है। यही ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। वह बन्द रहता है। जो कोई उसे खोलता है वही बड़ा सिद्ध है—

सातव सोम कपार महं, कहा सो दसव दुवार।
जो वह पवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार ॥[5]

इसी ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का वास है। जो कोई खण्डों को क्रमश: लाँघता हुआ

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३०६।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८।
[3] जायसी ग्रथावली—अखरावट, पृष्ठ ३१५।
[4] वही, अखरावट, पृष्ठ ३१५-३१६।
[5] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३१६।

खर पर पहुँचता है वही अमृत का पान करता है—

जस सुमेरु पर अमृत मूरी । देखत नियर, चढ़त बडि दूरी ॥
नाघि हिंवचल जो तह जाई । अमृत मूरि पाइ सो खाई ॥[1]

परन्तु ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने का मार्ग बडा कठिन है । पहले बतला आये है कि गी कुण्डलिनी नाम की सर्पाकार शक्ति को जागृत कर ऊर्ध्व-प्रसरण कराता है । जो ुम्ना नाडी के मध्य मे षट्चक्रो को पार करती हुई जाती है । इसकी ऊर्ध्व स्थिति परम ज्योति का साक्षात्कार होता है । जायसी भी कहते है कि शरीअत, तरीकत, ीकत और मारिफत नाम की चार सीढियो से खण्डो पर चढा जाता है । इसमें इडा, गला और सुषुम्ना नाडी रूप त्रिवेणी का बडा महात्म्य है—

सात खड औ' चारि निसेनी । अगम चढ़ाव, पथ तिरबेनी ॥[2]

'चार निसेनी मे हठयोग के अष्टागो में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ाने जा सकते है । अष्टागो मे शरीर सयम के लिए प्राणायाम का बडा महत्त्व है । ायसी ने 'पौन बाँध सो जोगी जती'[3] कहकर प्राणायाम के साधक को ही योगी कहा । इस प्राणायाम में इडा और पिंगला नाडियो का प्रधान कार्य है। ये ही श्वसोच्छ्वास र साधना द्वारा विजय दिलाती हैं । श्वास-सयमन के पश्चात् सुषुम्ना नाडी के मार्ग शक्ति उर्ध्व-गमन करती है । इसी में योगी के योग की सफलता है ।

जब साधक की चेतना शक्ति ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचती है तो उसे अनाहत नाद ुनाई पडता है । जायसी ने सिंहलगढ को शिवलोक बतलाते हुए 'नव पौरी पर दशम ुआरा । तेहि पर बाज राज घरियारा'[4] द्वारा दशम द्वार पर बजते हुए राज घडियाल ी ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत शब्द की ही व्यजना की है । नूर मुहम्मद ने भी अनहद नाद का उल्लेख करते हुए सिद्ध पुरुष को ही उसके श्रवण योग्य बतलाया है—

नाद अनाहद अहद, सुनै अनाहद कौन ।
सिद्ध होइ अपन गन, सुनै अनाहद तौन ॥[5]

इस उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि सिद्ध और नाथपथी योगियों द्वारा गृहीत हठयोग की परम्परा को किस सीमा तक इन सूफी सन्तो ने अपनाया । परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन सतो ने हठयोग को राजयोग की सिद्धि का साधन ही माना है ।

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट पृष्ठ ३१५ ।
[2] वही, अखरावट, पृष्ठ ३२० ।
[3] वही, पद्मावत, पृष्ठ ७८ ।
[4] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ १६ ।
[5] इन्द्रावती, पृष्ठ १२१ ।

इन सूफियों ने ईश्वर, जीव एवं जगत् की व्याख्या करते हुए जीव को ईश्वरीय अंश तथा जगत् को ईश्वरीय प्रदर्शन माना है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मतानुसार अनेक प्रवाद हैं परन्तु इन्होंने शून्य से ही इसकी उत्पत्ति मानी है। बौद्धों के न कुछ प्रयोजन वाले शून्यवाद से इनका शून्यवाद भिन्न है। इनके मतानुसार शून्य से तात्पर्य ब्रह्म ही है। जायसी ने 'सुन्नहि ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई'[1] कहकर शून्य से ही सबकी उत्पत्ति और उसी में सब का लय माना है। आगे इसी शून्य को ब्रह्म कहते हुए जीव को उसका अंश बतलाते हैं—

जा जानहु जिउ बसं सो तहँवा। रहै कवंत हिय सपुट जहवा॥
दीपक जैस बरत हिय आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे॥
तेहि मह् अंस समानेउ आई। सुन्न सहज मिलि आवं जाई॥[2]

अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी पर हृदय कमल में जीव का वास है। हृदयालय में वह दीपक की भांति जगमगाता है, जिससे समस्त शरीर-सदन प्रकाशित होता रहता है। उसमें ब्रह्म का ही अंश समाया हुआ है अत निर्गुण ब्रह्म ही अव्यक्त रूप से आता-जाता है। यहाँ पर हृदय में जीव के वास से तात्पर्य किसी निश्चित स्थान में जीव की सत्ता से नहीं है वरन् शरीर-यत्र में इसके प्राधान्य की अपेक्षा से ही ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं रखता प्रत्युत् ब्रह्म ही अंश रूप से शरीर में रहा हुआ है और उसी का कायाबद्ध अंश जीव के नाम से पुकारा जाता है। जीवों की अनेकरूपता और बहुसख्यता नामरूपोपाधि भेद से ही है। शाह बरकतुल्ला[3] ने ज्ञानी लोगों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि 'हम और ईश्वर एक ही हैं, यथा बीज और वृक्ष, तन्तु और वस्त्र एव उदधि और तरग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुत एक ही है दो नहीं।

अद्वैत में ब्रह्म की ही केवल एक सत्ता का प्रतिपादन है। परन्तु विश्व की व्याख्या के लिए माया का विधान भी बड़ा महत्त्व रखता है। यहाँ तक कि 'मायी सृजते विश्वमेतत'[4] कहकर उस सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को मायावी कहा गया है। यह इस विश्व प्रपच का माया से ही सृजन कर माया से ही स्वय अन्य-सा होकर स्थित रहता है। प्रकृति ही माया है जो विक्षेप तथा आवरण-शक्ति से एक को अनेक रूप

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३२४।

[2] वही, अखरावट, पृष्ठ ३२५।

[3] शाह बरकतुल्लाज़ कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (भाग १), प्रेमप्रकाश, दो० ११८-१९।

[4] श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४, ९।

करके दिखाती है। दृश्य जगत् ब्रह्म से अविच्छिन्न कोई सत्ता नही रखता बरन् अग्नि में से निकले हुए स्फुल्लिगो की भाँति वही है। इसलिए यह सब उसी का रूप है।

इन सूफियो ने इस अद्वैत को अपनाया तो सही परन्तु माया को महत्त्व न दिया।[1] जायसी ने 'माया अलाउद्दी सुलतानू' कहकर स्पष्ट माया का उल्लेख किया है। नागमती को भी दुनिया-धन्धा ही बतलाया है, जो माया का ही प्रतिरूप है। इसी प्रकार अन्य प्रेममार्गी साधको ने भी नायिका की सपत्नियो एव मासूको द्वारा माया का आभास दिया है। परन्तु जिस अर्थ में अद्वैत में माया का प्रयोग हुआ है उस अर्थ में उन्होने नही किया है। कबीर इस विषय मे अवश्य इनसे भिन्न है। उन्होने माया का प्रतिपादन अद्वैत मतानुसार ही किया है परन्तु माया को भी 'आप ब्रह्म जीव माया' वहकर ब्रह्म का ही प्रतिरूप बतलाया है।[2] प्रेममार्गी सूफियो ने माया का अर्थ भ्रम अथवा मिथ्यात्व न लेकर जगत्-प्रपच ही लिया है, ऐसा प्रेमकथाओ मे प्रतीत होता है। अखरावट में भी जायसी ने लिखा है—

माया जरि अस आपुहि खोई। रहे न पाप, मैलि गइ धोई॥
गौं दूसर भा सुन्नहि सुन्नू। कह कर पाप, कहा कर पुन्नू॥[3]

अर्थात् माया के नष्ट होने पर अपने आप१ ऐसे खो दे जिससे पाप पुण्य न रहे, मलिनता नष्ट हो जाय। उसमान ने भी माया पवन के झकोरे से हृदय-भवन में दीप्त ज्ञान-दीप का निर्वापण लिखा है—

हिरदै भवन धरी दुइ जारा। दीपक ग्यान कीन्ह उजियारा।
पुनि जो माया पौन झकोरा। बुझा दीप मिट गयो अजोरा॥[4]

नूर मुहम्मद ने भी अनुराग बाँसुरी में लिखा है कि वैरागी नाना स्थानो में भ्रमण करता है और ईश्वरीय सृष्टि मे बहुविध ज्ञान का उपार्जन करता है तथापि मन माया से परिपूर्ण ही रहता है और आश्रय-स्थान के लिए लालायित रहता है—

तबहु या मन माया-भरा। ठाव लागि अनुरागी परा॥[5]

इस प्रकार हम देखते है कि इन सूफियो ने माया का अर्थ जगत्-प्रपच ही लिया है जो मन को लुभाकर आत्मा को अपने मूलस्रोत से पृथक् रूप देने में सहायक होता है। इससे इन्होने मायावाद को इसी रूप में अपनाया है कि दृश्य जगत् ब्रह्म का

---

1 जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ३०१।
2 कबीर वचनावली, पृष्ठ २०३।
3 जायसी ग्रन्थावली—अखरावट पृष्ट ३३४।
4 चित्रावली, पृष्ठ २०।
5 अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ २३।

प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्ति है। यह उसी से उत्पन्न हुआ है अत सत्ता में होता हुआ भी उसी का प्रतिरूप है। यह नश्वर है, ब्रह्म में ही इसका लय है परन्तु भ्रम या मिथ्या रूप नहीं है। जहाँ भी इन्होंने ससार के लिए भ्रम रूप लिखा है, वहाँ यही तात्पर्य है कि अध्यात्म की दृष्टि से वह सत्य नहीं है। चित् और अचित् दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं अत दृश्य-जगत् ब्रह्म का ही रूप होने के कारण निराधार नहीं कहलाया जा सकता। नाम और रूप नश्वर है, किन्तु इनका आधार परम सत्ता है जो कूटस्थ है। इसीलिए सूफी लौकिक प्रेम को अध्यात्म प्रेम का साधन मानते हैं। नाम और रूप तिरस्करणीय नहीं किन्तु उपयोगी पदार्थ हैं, जिनकी सहायता से आत्म-सत्ता का बोध प्राप्त होता है। लोक प्रेम के सादृश्य से आत्मरति की अभिव्यक्ति होती है और जब साधक अध्यात्म-प्रेम में सलग्न हो जाता है तब उपमय या निगरण होकर उपमान का साक्षात्कार होता है तथा आत्मरति प्राप्त होती है। इस रति का अधिष्ठान स्वय आत्मा है, जो अद्वैत-वादियो अथवा सूफियो का एक परम रहस्य है। शैतान की वचना से ही ईश्वर से पृथक् करके माया को इन्होंने शैतान रूप बताया है।

ईश्वरीय अशरूप जीवात्मा ससार प्रपच में फँसता है और अपने को प्राय ईश्वर से भिन्न समझता है परन्तु उद्गम को भूल नहीं पाता। सदैव उसे अपने पूर्व अनन्त सौन्दर्य और अनन्त ऐश्वर्य की स्मृति आती रहती है जिसमें ईश्वरीय जमाल (सौन्दर्य और माधुर्य पक्ष) तथा जलाल (प्रताप और ऐश्वर्य पक्ष) को खोकर पछताता रहता है—

छोड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव तें देउ बिछोवा ॥[1]

यह पछतावा ही उसमें प्रेम की पीर जगा देता है और सदैव उसके विरह में तड़पने का कारण होता है। जीव ईश्वर का ही अश है अत ईश्वर भी उससे एकरूपता प्राप्त करने के लिए विकल रहता है। सूफियो में अद्वैत से यह एक बड़ी विशेषता है, ईश्वर को जहाँ निराकार माना गया है वहाँ उसे अनन्त सौन्दर्य और प्रेमरूप भी माना गया है। उसने स्वय अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सृष्टि का सृजन किया है। इस प्रकार अपने सौन्दर्य का प्रेम ही सृष्टि का कारण हुआ है। प्रथम मुहम्मद अथवा 'आदर्श पुरुष' का सकल्प किया और उस सकल्प पुरुष के प्रीत्यर्थ सृष्टि का निर्माण किया। अल्लाह में मनुष्य के निमित्त यह मधुर भाव की प्रतीति भारतवर्ष की सगुण भक्ति की परम्परा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। भारतीय पद्धति में भी नारायण नर के लिए चिन्तन करता है और नर-नारायण का यह जोड़ा भक्ति मार्ग में सदैव से प्रसिद्ध है।

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३०८।

सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में साधक के साथ हमें साध्य भी विरह-विकल दीख पड़ता है। इसीलिए इन्होंने ईश्वर को प्रेम ही नाम दे दिया है। शाह बरकतुल्ला ने लिखा है कि वही प्रियतम है, वही प्रेमी है और वही प्रेम है—

कहीं माशूक कर जाना कहीं आशिक सिता माना।
कहीं खुद इश्क ठहराना सुनो लोगों सुखा बानी ॥[1]

इन सूफियों ने निराकार ईश्वर को साकार रूप दिये बिना ही उसमें जो माधुर्य रस की अभिव्यंजना की वह स्तुत्य है, क्योंकि भारतीय भक्ति मार्ग में निराकार ईश्वर साकार होने से नहीं बच सका है। प्रसंगवश सूफियों ने अपने हिन्दी काव्य में जहाँ भी इस्लामी प्रथाओं एवं मान्यताओं का उल्लेख किया है वहाँ हमें इस भ्रम में न पड़ना चाहिए कि इनका ये इसी रूप में अर्थ करते हैं जिस रूप में शरीअत के मानने वाले। इस्लामी शरीअत के मानने वाले अपने धर्म-ग्रन्थों का अर्थ अभिधामूलक करते हैं, किन्तु सूफियों को अभिधामूलक अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ मान्य नहीं। वे उनका व्यंग्यार्थ ग्रहण करते हैं। इसलिए सामान्य शब्द होते हुए भी सूफियों के मतानुसार अर्थ भेद की स्वीकृति कर लेना परमावश्यक है। इसीलिए हमने मुहम्मद साहब को आदर्श पुरुष कहा है।

इस प्रकार इन्होंने इस्लाम के ही एकेश्वरवाद के आधार पर एक ईश्वर को माना परन्तु उसमें तत्कालीन भक्ति धाराओं से कण-कण ले लेकर अपनी प्रेम-सरिता को प्रवाहित किया। योगियों और सिद्धों के प्रभाव के अतिरिक्त इन पर अद्वैत का प्रभाव था। परन्तु जिस रूप में इन्होंने इसको ग्रहण किया उसका सूक्ष्म प्रतिपादन कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने हठयोग के साथ साथ तंत्र और रसायन विद्या से इष्ट सिद्धियों का भी उल्लेख किया है जो साधक को प्राप्त होती रहती है। जायसी ने महादेवजी से रत्नसेन को सिद्धि गुटिका दिलवाई है।[2] उसमान ने भी सुजान को प्रस्थान के समय नेत्रों में लुकअंजन और मुख में गुटिका का प्रयोग करते हुए लिखा है।[3] नूरमुहम्मद भी अनुराग बाँसुरी में सवमंगला के वर्णनमात्र से कुँवर पर टोने

---

[1] शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश, पृष्ठ १३३।

[2] जब संकर सिधि दीन्ह गुटेका। परी हूल, जोगिन्ह गढ़ छेंका ॥

—जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ९४।

[3] नैनन्ह महं लुक अंजन दीन्हा। औ' मुख घालि गोटिका लीन्हा ॥

—चित्रावली, पृष्ठ ८६।

तथा मन्त्र का-सा प्रभाव बतलाते हुए उनके महत्त्व को मानते ही हैं।[1] परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन साधकों ने उन्हें साधक का अंग माना है। वे इनके चमत्कारों में विश्वास तो रखते ही हैं परन्तु इन्हें साधना के गौण परिणाम ही मानते हैं। मुख्य लक्ष्य और सिद्धि तो ईश्वर रूप इष्ट की प्राप्ति ही है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें इनके विचार-समन्वय का पता चल गया है। अब आगे ईश्वर, जीव एवं जगत् के स्वरूप को बतलाकर इन सूफियों की साधना पर प्रकाश डाला जायगा।

---

[1] मानहु पढ़ा कावरू टोना। भा बाउर वह कुवर सलोना॥
मनु नरसिंही मन्त्र जगावा। पढ़ा कुवर पर, चेत भुलावा॥
—अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १५

नवम पत्र

हिन्दी सूफी काव्य में निराकार देव की उपासना

इस्लाम मे एकेश्वरवाद की मान्यता है और सूफीमत में अद्वैतवाद की। एकेश्वरवाद मे तात्पर्य एक ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता का मानना है। वह विश्व का विश्वात्मा है, परम देव है, और जीव, प्रकृति का विधाता, पालयिता एव सहारकर्त्ता भी वही है। वह सबसे पृथक् भी सबका जनक है। उसकी इच्छा ही जगत् का मूल कारण है। अनेक देव उसकी इच्छा पर विश्व का सचालन करते और अविराम आज्ञा-पालन में लीन रहते है। प्रलयोपरान्त निर्णय के दिन का स्वामी भी वही है। विश्वोत्पत्ति की इच्छा में मुहम्मद साहब का विशेष प्राधान्य है। निर्णय के दिन भी उन्हें ही मध्यस्थ का कार्य करना पडता है।

इस प्रकार हम देखते है कि एकेश्वरवाद दृश्य-जगत की सत्ता को पूर्णत मानता हुआ अदृश्य जगत् की सत्ता को भी मानता है। यह सत्ता मायाजन्य नहीं वरन् वास्तविक है। सब कुछ ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है परन्तु ईश्वर से पृथक् है। आकाश-नैत्य एव प्रकाश से अन्धकार में आने पर नेत्रों के समक्ष तैरते हुए-से तिलमिलो की भाँति यह भ्रम नही है। जीवो का उद्‌गम भी ईश्वर ही है परन्तु पुन वे भिन्न रूप ही हैं। विश्व-सचालन में हाथ बँटाने वाले फरिश्ते (देव) भी ईश्वरीय सृष्टि होते हुए भी पृथक् सत्ता रखते है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसम ईश्वर, जीव, एव जगत् की पृथक्-पृथक् सत्ता को माना ही गया है। परन्तु अद्वैतवाद मे ऐसा नही है। हम अद्वैत को भ्रमवाद कह सकते हैं। इसके अनुसार एक ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है। शेष चराचर जगत् मायावश उसी से उत्पन्न हुआ है और उसी मे विलीन हो जाता है। अत ब्रह्म से उसका अभेद है। जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग तथा जल और जल बिन्दु में कोई अन्तर नही है उसी प्रकार ब्रह्म मे निसृत सृष्टि और मूल स्रोत में कोई अन्तर नही। यही कारण है कि नामरूपात्मक दृश्य जगत् की व्याख्या के निमित्त इसमें 'प्रतिबिम्बवाद', 'विवर्त्तवाद' आदि वादो तथा 'कनक कुण्डल न्याय' आदि न्यायो का समावेश किया गया है। ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब, अत यह विवर्त्त अथवा विकार है। वास्तव में यह सब एक सुवर्ण से निर्मित कुण्डल, ककण एव काची प्रभृत्ति आभूषणो के समान है। जिस प्रकार स्वर्ण से आभूषणो की नाम-रूप के अतिरिक्त कोई पृथक सत्ता नही उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न इसकी भी कोई सत्ता नही। नाम-रूप भी उपाधि मात्र है।

सूफी साधको ने उपासनार्थ निराकार ब्रह्म को ही अपनाया है परन्तु उनकी

उपासना प्रेम-प्रधान है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्हें साकार का आश्रय लेना पड़ा है। किन्तु साकार केवल वाचारम्भण है। तत्वतः उपास्य देव निराकार है। यही सूफीमत की भारतीय भक्ति मार्ग से विशेषता है।

अब हम हिन्दी काव्य के आधार पर सूफियों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप की विवेचना करते हैं।

ईश्वर एक है। उसके समान दूसरा नहीं है अतः वह अद्वितीय है। उसका कोई स्थान नहीं है और न कोई स्थान उससे रिक्त है। वह रूप-रेख से हीन तथा निर्मल है।

हैं नाहिं कोइ ताकर रूपा। ना ओहि सन कोइ आहि अनूपा ॥
ना ओहि ठाउ, न ओहि बिन ठाऊ। रूप रेख बिन निरमल नाऊ ॥[1]

वह सृष्टि का कर्ता है और इस विषय में अकेला ही है। वह हमारी प्रकट और गुप्त सभी बातों को जानता है अतः सर्वज्ञ है। उसी ने द्यावापृथ्वी तथा सूर्य-चन्द्र का सृजन किया है। उसके समान दूसरा नहीं है—

अहइ अकेल सो सिरजनहारा। जानत परगट गुपुत हमारा ॥
कीन्ह गगन रवि ससि महि मेरा। कोउ नाहीं जोरी तेहि केरा ॥[2]

उस ईश्वर ने सर्वप्रथम मुहम्मद रूप ज्योति का प्रकाश किया और उसी के प्रीत्यर्थ संसार का निर्माण किया। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की सृष्टि उसी ने की है तथा दृश्यमान विविध चित्र उसी ने बनाए हैं। मर्त्य, ऊर्ध्व और अधोलोक तथा उनमें नाना जीवों की उत्पत्ति का उद्गम वही है। सूर्य, चन्द्र और तारे उसी की सृष्टि हैं। मन अहोरात्र का कर्त्ता वही है। ताप, शीत और छाया उसी की इच्छा के फल हैं तथा चमकती हुई विद्युल्लता से युक्त मेघमाला भी उसी की लीला का फल है। सप्त-भूमियों से युक्त ब्रह्माण्ड तथा चौदहो भुवनों की उत्पत्ति उसी से हुई है—

कीन्हेसि प्रथम ज्योति, परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू ॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन औतारू ॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती ॥
कीन्हेसि धूप, सीउ और छाहा। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि मांहा ॥
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा ॥[3]

इन सब को उसने इच्छामात्र से किया। उसकी इच्छा में बाधा डालने वाला

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।
[2] इन्द्रावती, पृ० १।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० १।

गेई नहीं अतः वह जो चाहता है वही करता है। भौतिक शरीर में प्राण डालने वाला भी वही है—

जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह ॥[1]

नूरमुहम्मद ने "है जेहि नाद जगत यह करो"[2] से परोक्षतः यह कहा है कि ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति 'कुन' शब्द से की। परन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर साकार है। नूरमुहम्मद ने अपने को पक्का मुहम्मदी लिखा है अतः उन्होंने इस सिद्धान्त को कुरान से ही ग्रहण किया, परन्तु इस से तात्पर्य अव्यक्त शब्द से ही है। उसमान ने भी इच्छामात्र को ही सर्वोपरि कहा है।—

सो सब कीन्ह जो चाहा, कीन्ह चहै सो होय ॥[3]

इस सम्पूर्ण ससार के सृजन में उसे क्षण भी नहीं लगा। सब को पल मात्र में ही बना डाला। बिना स्तम्भ और टेकों के ही इस आकाश को तान दिया—

निमिख न लागत करत ओहि, सबै कीन्ह पल एक।
गगन अंतरिख राखा, बाज खभ बिनु टेक ॥[4]

कबीर ने भी ईश्वर को एक निर्जीव तरुवर कहा है जिस में दृश्य-जगत् के नाना पदार्थ प्रकट हुए अनन्त फलों के समान हैं—

भोमि बिना अरु बीज बिन, तरुवर एक भाई।
अनन्त फल प्रकासिया, गुरु दीया बताई ॥[5]

वह सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा है परन्तु स्वयं अजन्मा है। भाँति-भाँति के रूपों को बनाया है परन्तु स्वयं अवर्ण और अरूप है—

सो करता जेहि काहु न कीन्ह ॥[6]

× ×

कीन्हेसि रूप बरन जह ताईं। आपु अवरन अरूप गुसांईं ॥[7]

जायसी ने भी लिखा है कि वह ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता होता हुआ भी अलक्ष्य,

---

1 जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।
2 अनुराग बाँसुरी, पृ० ४६।
3 चित्रावली, पृ० २।
4 जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २।
5 कबीर ग्रन्थावली पृ० १३६।
6 चित्रावली, पृ० २।
7 वही, पृ० १।

अरूप और अवर्ण है। वह प्रकट भी है और गुप्त भी परन्तु सर्वव्यापी है। उसे उन्मार्गी नहीं जान सकता। न उनके पिता हैं न माता और न कोई पुत्र। उसका सगा-सम्बन्धी भी कोई नहीं है। उसे किसी ने नहीं बनाया है। वह सृष्टि से पूर्व भी था और अब भी है। सृष्टि के उपरान्त भी वह रहेगा। अतः वह अनादि और अनन्त है—

अलख अरूप अवरन सो कर्त्ता।
परगट गुपुत सो सरब बियापी। धरमी चीन्ह, न चीन्हैं पापी॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुब न कोई सँग नाता॥
वे सब कीन्ह जहाँ लगि कोई। वह नहिं कीन्ह काहु कर होई॥
हुत पहिले अरु अब है सोई। पुनि सो रहै रहै नहिं कोई॥[1]

नूर मुहम्मद ने भी उस कर्त्ता को एक बतलाकर कहा कि उसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया और न कोई उसके समान है—

सिर्जन हार एक है, काहू जना न सोइ।
आप न काहू सों जना, वह समान नहिं कोइ॥[2]

सम्पूर्ण विश्व का वह स्रष्टा है परन्तु किसी विशेष स्थान पर आसीन नहीं है। सभी में समान रूप से व्याप्त है—

अगिनि पवन रज पानि के, भाँति-भाँति व्योहार।
आपु रहा सब माहिं मिलि, को निगरावै पार॥[3]

वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। सब कुछ वही है, दूसरा और कोई कुछ नहीं है। यथा समुद्र में लहरें उठती हैं परन्तु वे उस से भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार यह जगत् भी उसी से उत्पन्न हुआ है अतः भिन्न नहीं—

सब घहि भीतर वह सब माँहि। सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
दूसर जगत नाम जिन पावा। जैसे लहरी उदधि कहावा॥
ज्ञान नैन जो देखै कोई। बारिध बिना आन नहीं होई॥[4]

शाह बरकतुल्ला इस अभिन्नता को व्यक्त करने के लिए ईश्वर को विभु बतलाते हुए कहते हैं कि वह हम सब में इस प्रकार व्याप्त हो रहा है जिस प्रकार वस्त्र में तन्तु—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।
[2] इन्द्रावती, पृ० १३६।
[3] चित्रावली, पृ० १।
[4] चित्रावली, पृ० १।

इल्लल्लाह विकुल्लशै, ऐसें भयो मुहीत ।
रुई तार ज्यों चीर में, त्यों जग में जग मीत ॥[1]

कबीर ने इसी बात को इस प्रकार कहा है कि ईश्वर विश्व में और विश्व ईश्वर में रमा हुआ है । अतः वह घट-घटवासी है—

खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यो समाई ।[2]

उन्होंने ईश्वर को कबीर ही बतलाकर लिखा है कि 'हम' सब में हैं और 'सब' हम में है । इस से भिन्न दूसरा कुछ नहीं । तीनों लोकों में हमारा ही प्रसार है । जन्म-मरण हमारा ही खेल है । षट्दर्शनों में हमारा ही स्वरूप वर्णित है । हमारे न रूप है और न रेख । हमीं स्वयं अपने आपको देखते हैं—

हम सब माहि सकल हम मांही । हम थें और दूसरा नाहीं ॥
तीनि लोक में हमारा पसारा । आवागमन सब खेल हमारा ॥
खट दरसन कहियत हम भेखा । हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा ॥
हमहीं आप कबीर कहावा । हमहीं अपनां आप लखावा ॥[3]

इस प्रकार ईश्वर की विभुता बतलाकर अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है । जायसी ने भी लिखा है कि मैंने जाना कि तुम मेरे में व्याप्त हो और जब मैं ध्यान-पूर्वक देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि तुम सर्वत्र विद्यमान हो—

मैं जानेउं तुम मोही मांहा । देखौं ताकि तौ हौ सब पाहां ॥[4]

दादू का कथन है कि वह ईश्वर सब में इस प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार तिलों में तेल, पुष्पों में सुगन्ध और दूध में मक्खन—

जोयें तेल तिलन्नि में, जोयें गंधि फुलन्नि ।
जोयें माखण षीर में, ईयें रब रुहन्नि ॥[5]

ऐसा होने से वह सभी पदार्थों में रमा हुआ है परन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिए कि वह पदार्थों से भिन्न एक शक्ति है । वह सब में व्याप्त हुआ भी सब का उपादान कारण है । यारी ने कहा है कि सुवर्ण से यदि कोई आभूषण बनाया जाय तो वह अपने मूल से भिन्न नहीं हो जाता है वरन् उन दोनों में एकरूपता ही है । स्वर्ण

---

1 शाह बरकतुल्लाज कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश, पृ० ६ ।
2 कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०४ ।
3 कबीर ग्रन्थावली, पृ० २००-२०१ ।
4 जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३७ ।
5 सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० ८५ ।

के मध्य भूषण और भूषण के मध्य स्वर्ण है। कहने का तात्पर्य यह है कि नामरूपोपाधि रूप ही भेद है, वास्तविक कोई भेद नहीं—

गहने के गढ़ेते कहों सोनो भी जातु हूँ।
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोनो है ॥[1]

बुल्लेशाह ने भी यही लिखा है कि सुनार ने आप गहने गढ़वाइये परन्तु इन में आकृति के अतिरिक्त मूलतः कोई भेद नहीं। इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार में दृश्यमान पदार्थों में वही व्याप्त है, उसी के ये सब प्रदर्शित बाह्य रूप हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो एक रूप के अतिरिक्त अन्य कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता—

बुल्ला चलल सुन्यार दे, जित्थे गहना घड़िये लाख।
सूरत आपो आपनी, तू इको रूप वे आख ॥[2]

उसकी व्याप्तता अन्त और बाह्य दोनों रूप से है। केवल यह नहीं कि पदार्थों के मध्य तो है पर बाह्याकाश में नहीं। वह सर्वत्र अलक्ष्य रूप में अविच्छिन्नता से रहा हुआ है। बाल का शतांश स्थान भी ऐसा नहीं जहाँ पर वह नहीं है। जिस प्रकार जल में घट और घट में जल हो तो उसके बाहर भीतर जल ही जल होता है। परन्तु जब घट का विनाश हो जाता है तो जल, जल में ही समा जाता है। इस से यह नहीं समझना चाहिए कि घट के भीतर और बाहर रहे हुए जल में भिन्नता थी और घट ध्वस्त होने पर उन जलों में एकरूपता हुई। वास्तव में उन में कोई भेद न था, केवल आधार भेद ही था जो उपाधि रूप है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ॥[3]

ईश्वर की विभुता से यह नहीं समझना चाहिए कि वह कोई साकार शक्ति है जो सर्वत्र एकरूप से तनी हुई है। बुल्ला साहिब का कथन है कि वह सब का आधार होता हुआ भी स्वयं निराधार है। उसका स्वरूप अनन्त है अतः वचनातीत है। परन्तु सभी के बिन्दु प्रदेश में वह विराजित है अतः वही गवेषणीय है—

प्रभु निराधार अधार उज्जल, बिन्दु सकल बिराजई।
अनन्त रूप सरूप तेरो, सो पै वरनि न जावई ॥[4]

इस से प्रतीत होता है वह निराकार है। यही कारण है कि उसके स्वरूप का

---

[1] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १४७।
[2] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १५२।
[3] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०३।
[4] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १७३।

चिन्तन अनेकों ने किया है पर कोई नहीं कर पाया है—

सबै चितेरे चित्र कै हारे । ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे ॥[1]

उसके जीव नहीं है फिर भी जीता है, हाथ न होते हुए भी रचना करता है, जिह्वा बिना भी सब कुछ बोलता है और शरीर के अभाव में भी सर्वत्र विद्यमान है। ...ये होने से इन्द्रियों से हीन है तथापि सुनता और देखता है। हृदय के अभाव में भी सब कुछ गुनता है। आश्चर्य तो यह है कि सर्वत्र सत्तावान् होता हुआ भी न तो ...से सगठित है और न विघटित। एकरूप से सर्वत्र अविरल व्याप रहा है। ...ी अन्तर्दृष्टि खुली हुई है वे उसे देख पाते हैं परन्तु जो ज्ञानशून्य हैं उनके लिए अत्यन्त दूर है—

जीउ नाहिं, पै जियै गुसाई । कर नाहीं, पै करै सबाई ॥
जीभ नाहिं, पै सब किछु बोला । तन नाहीं, सब बाहर डोला ॥
स्रवन नाहिं, पै सब किछु सुना । हिया नाहिं, पै सब किछु गुना ॥
नयन नाहिं पै सब किछु देखा । कौन भाँति अस जाइ विसेखा ॥
ना वह मिला न बहुरा, ऐस रहा भरपूरि ।
दीठिवत कहँ नीयरे, अध मूरुखहिं दूरि ॥[2]

ऐसा निराकार ईश्वर ही सब में रम रहा है। ऐसा तनिक भी स्थान नहीं जहाँ ...नहीं। उसी ने सम्पूर्ण विश्व का सृजन किया है परन्तु उसे कोई जान नहीं सका है—

सोई करता रमि रहा, रोम रोम सब माँहि ।
तिन सब कीन्ह सिरिष्टि यह, गाहक कोन्हो नाँहि ॥[3]

विश्व का स्रष्टा और व्यापक शक्ति होते हुए भी ईश्वर दृश्यमान् जगत् से ...नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी का प्रदर्शन है। उस से भिन्न और कुछ नहीं है—

परगट गुपुत विधाता सोई । दूसर और जगत नहि कोई ॥[4]

जायसी ने भी लिखा है कि इस संसार सागर में वही एक जल है और नाना ...प। में वही प्रकट हुआ है। प्राणियों में जीव उसी का अंश है। नानाविध पदार्थों ...से क्रीडा कर रहा है—

रहा जो एक जल गुपुत समुदा । बरसा सहस अठारह बुंदा ।
सोई अस घटै घट मेला । औ सोइ बरन होइ खेला ॥[5]

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २०६।

[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।

[3] चित्रावली, पृ० २।

[4] वही, पृ० २।

[5] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०५

ससार में बाहर-भीतर सर्वत्र वही एक है, कोई दूसरा नहीं। भला एक म्यान में दो तलवारें आ सकती हैं? कदापि नहीं—

एक से दूसर नाहिं बाहर भीतर बूझि ले।
खांडा दुइ न समाहि, मुहम्मद एक मियान महँ ॥[१]

इसलिए 'मैं' और 'तू' में कोई भेद नहीं है। 'मैं' भी 'तू' है और 'तू' भी 'मैं' है। जब सारा विश्व उसी का प्रदर्शन है, जीव भी उसी का अश है तब यह भेद हो भी कैसे सकता है? अखिल घट राशि में वही तो समाया हुआ है—

मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं। आपै अकल सकल घट माहीं ॥[२]

बुल्लेशाह ने भी अद्वैत की भावना को इस प्रकार समझाया है कि उर्दू के दो अक्षर हैं। ऐन् (ع) और गैन् (غ)। नुक्ते अर्थात् बिन्दु मात्र के योग से ऐन् गैन बन गया। परन्तु जब उस बिन्दु को दूर कर दिया जाता है तो गैन पुन ऐन् बन जाता है। इसी प्रकार विविध नाम और रूपों के कारण पदार्थों में नानात्व उपचारत आया हुआ है परन्तु जब गुरु अन्तर्दृष्टि खोलकर इस भेद-बुद्धि को दूर कर देता है तब वह भेद नष्ट हो जाता है—

टुक बूझ कवन छप आया है।
इक नुकते में जो फेर पडा, तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसद नुक्ता दूर किया, तब ऐनो ऐन कहाया है ॥[३]

पुन आगे हिन्दू और मुसलमानों को समझाते हुए वे इसी भावना को इस प्रकार रखते हैं कि हिन्दू और मुसलमान भिन्न भिन्न नहीं हैं। यदि द्वित्व का भाव मिटा दिया जाय तो ससार के सारे उपद्रव शात हो जायँ। भले और बुरे का भी कोई भेद नहीं, क्योंकि घट घट में वही व्याप्त हो रहा है—

दुई दूर करो कोई सोर नहीं, हिन्दू तुरक कोई होर नहीं।
सब साधु लखो कोइ चोर नहीं, घट घट में आप समाया है ॥[४]

इस अद्वैत के कारण ही ईश्वर और जीव का अभेद है अत वह आप ही भोगी है और आप ही योगी है। विषय-वासनाओं में लिप्त हुआ वही विविध भोगों का उपभोग करता है और नानाविध योग की साधना का साधक भी वही है। कहने का तात्पर्य यह है कि योगी और भोगी में भिन्न भिन्न आत्मा नहीं है। दोनों में एक ही व्याप्त हो रहा है—

१ जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३३५।
२ कबीर ग्रन्थावली—पृ० १५७।
३ सतबानी सग्रह (दूसरा भाग), पृ० १६०।
४ वही, पृ० १६०।

आपुहि भोगि रूप धरि, जगमो मानत भोग ।
आपुहि जोगी भेस होइ, निस दिन साधत जोग ॥[1]

नूर मुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी में कुँवर के वर्णन द्वारा परम तत्त्व का विवेचन करते हुए अद्वैत का बड़ा अच्छा प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं कि वह स्वयं ही कमल है और स्वयं ही सूर्य। दीप भी वही है और पतंग भी वही। इससे व्यंजित होता है कि वह परम रूपवान है तथा उसके दिव्य सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाला भी वही है। कमल और पृथ्वी दोनों वही हैं। इससे जनक और जन्य तथा कार्य और कारण का परस्पर अभेद प्रतीत होता है। ब्रह्माण्ड में विद्यमान समुद्र, पृथ्वी, आकाश, वन और पर्वत सब वही हैं। इस सारे विश्व-दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है—

कहत न पारौं कुँवर बखानू। आपहि रहा कमल औ भानू ॥
आप दीप औ' दीपक दोही। आप कंज, कीलालय ओही ॥
आप समुद्र, आप कन्तारू। आप इला आकाश पहारू ॥
जा दिन ता तन निरमल होई। होइ निरमलै दरपण सोई ॥
देखि परै ओहि दरपन माहीं। मूल बदन प्रतिमा परछाहीं ॥[2]

शाह बरकतुल्ला ने भी कहा है कि बीज और वृक्ष एक ही हैं। इसी प्रकार तन्तु और वस्त्र तथा समुद्र और तरंगें परस्पर भिन्न नहीं हैं—

बीज बिरछ नहिं दोय हैं, रुई चार नहिं दोय ।
दधि तरग नहिं दोय है, बूझो ज्ञानी लोय ॥[3]

इससे यही ध्वनित होता है कि विश्व उसी परमात्मा का प्रदर्शन है तथा उससे भिन्न नहीं है। तब जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। परन्तु इसलिए दादू दयाल ने अपने भीतर ही अपने को खोजने के लिए कहा है। परन्तु यह गुरु की कृपा से ही होता है। साधना-पथ पर चलते हुए जब मन को मथा जाता है तब मथित मठ्ठे में मक्खन की भाँति हम उसको पाते हैं। मन में वह निरंजन इस प्रकार समाया हुआ है जैसे काष्ठ में अग्नि—

---

[1] इन्द्रावती, पृ० ६।
[2] अनुराग बाँसुरी पृ० ८।
[3] शाह बरकतुल्लाज़ कौंट्रीब्यूशन टु हिन्दी लिट्रेचर (भाग एक), प्रेमप्रकाश, पृ० २५।

है । ऐसी अवस्था में साकारता और सगुणता का प्रतिबिम्ब-सा दीख पड़ता है। बिना इसके प्रेम-साधना सफल भी नहीं हो सकती । अत इन सूफियों का अद्वैत विशिष्टाद्वैत से अधिक मेल खाता है । अन्यथा प्रेमी और प्रियतम के मध्य प्रेम प्रासाद ही खड़ा नहीं हो सकता । मूलत एक होने हुए भी इस व्यवहार के लिए उपचारत इनमें भिन्नता की स्थापना करनी ही पड़ती है ।

सूफियों ने ईश्वर में अनन्त सौन्दर्य माना है इसीलिए वह प्रेम का पात्र है। वह स्वयं प्रेम रूप भी है । जायसी ने मानसर में स्नान करती हुई पद्मावती के रूप पर लुब्ध हुए अतएव क्षुब्ध सरोवर से यह व्यंजित किया है कि ईश्वरीय सौन्दर्य से मानस हिलोरें लेने लगता है—

'सरवर रूप विमोहा, हीये हिलोरहि लेइ ।'[1]

पद्मावती के रूप की चर्चा करते हुए सूर्य से भी अधिक उसके सौन्दर्य की व्यंजना की गई है—

सुरुज किरिन जसि निरमल, तेहिते अधिक सरीर ।[2]

यहाँ पर शरीर से तात्पर्य उसका रूप ही है । शाह बरकतुल्ला ने लिखा है कि चतुर्दिक संसार पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ईश्वरीय सौन्दर्य ही पूर्ण विकास में तरंगित हो रहा है—

'प्रेमी' हर दरसन ललित, फूल रहो फुलवार ।
'फिस्तमावात' थल अर्ज में देखो आँख पसार ।।[3]

उसमान ने चित्रावली के दरसन खण्ड में चित्रावली के सौन्दर्य से परम चैतन्य शक्ति के सौन्दर्य की व्यंजना करते हुए लिखा है कि उसके रूप से समस्त संसार में प्रकाश हो गया, यहाँ तक कि सूर्य लुप्त हो गया । उस प्रकाश पुंज से रश्मियों का जल इतनी तीव्रता और चमचमाहट से निकला कि विश्व का कोना-कोना उससे व्याप्त हो गया । सुर, असुर, नाग, नर, नारी, जलचर एवं थलचर सभी प्राणी तथा योगी लोग चौंधिया गये । उनके नेत्र उसका भार न सह सके और कोई न जान सका कि यह प्रकाश कैसा है—

चित्रावली झरोखे आई । सरग चाँद जनु दीन्ह देखाई ।
भयो अँजोर सकल संसारा । भा अलोप दिनकर मनियारा ।।

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २४ ।

[2] वही, पदमावत, पृ० २०६ ।

[3] शाह बरकतुल्लाज कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (भाग १), प्रेम प्रकाश, पृ० ८ ।

चौंधे सुर सब सुरपुर माहीं। चौंधे नाग बेरि परछाहीं ॥
चौंधे महिमंडल नर नारी। चौंधे जल थल जिव सब भारी ॥
चौंधे जोगी अहे तराहीं। फस अंजोर कोउ जाने नाहीं ॥[1]

इस सौंदर्य प्रकाश को देखकर सुजान को मूर्छा आ गई—

दरपन माहँ कुंअर देखा छाया। गयो मुरछि सुधि रही न काया ॥[2]

सौंदर्य के इस वर्णन से ईश्वर में साकारता का आरोप नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं सौन्दर्य रूप ही है। सारे विश्व में उसी का सौन्दर्य लक्षित हो रहा है। वह सौन्दय हृदय में ही साक्षात्कार का विषय है। वह प्रकाश रूप में ही निर्मल हृदय में अन्तर्दृष्टि से देखा जाता है। उपरिलिखित पंक्ति में 'दरपन' से तात्पर्य स्वच्छ हृदय ही है और 'कुंवर' से साधक। सूफियो के अनुसार साधक को जब ईश्वर का साक्षात्कार होता है तब उसे मूर्छा आ जाती है। इसी अवस्था को हाल या परमाह्लाद की अवस्था कहा गया है।

जायसी ने तो पद्मावती के रूप के वर्णनमात्र से बादशाह अलाउद्दीन को मूर्छा दिलाकर यह अभिव्यक्त किया है कि माया भी ईश्वरीय सौन्दर्य पर मुग्ध है।—

जो राघव धनि बरनि सुनाई। सुना साह, गइ मुरछा आई ॥[3]

इस प्रकार हम इस ईश्वर को अनन्त सौन्दर्यशाली पाते हैं। सूर्य, चाँद और तारों में उसी का प्रकाश है। उषा की शुभ्रता और साध्य बेला की रक्तिमा में उसी का आकर्षण है, सुमनों में उसकी मजुता और शिशुओं में उसी की मुग्धता है, तरल तरंगों में उसी का लास्य और पवन में उसी की मादकता है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ भी सौन्दर्य है, माधुर्य है एव मुग्धता और मादकता है वहाँ वही तो अलक्ष्य रूप में है। यही नहीं प्रकृति के उग्र रूप में भी उसी का शिव एव भव्य रूप विद्यमान है। पदार्थों का अपना क्या है? सब कुछ उसी का तो है। नूर मुहम्मद ने उसे रूप का महान् दीपक कहा है जिस पर समस्त ससार शलभ बना हुआ है—

है वह रूप दीप उजियारा। है पतग तापर ससारा ॥[4]

अनन्त सौन्दर्य के अतिरिक्त उस में अनन्त शक्ति भी विद्यमान है। अल्लाह की भाँति किसी विशेष पाद-पीठ पर बैठकर फरिश्तो से वह विश्व-सचालन में सहायता नहीं लेता है। और न राम और कृष्ण की भाँति ससार में अवतार ले कर

---

1 चित्रावली, पृ० १०६।
2 वही, पृ० १०६।
3 जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २१६।
4 इन्द्रावती, पृ० ७६।

अधर्म का उत्थापन और धर्म का सम्थापन करने ही आता है। वह तो अलक्ष्य रूप में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। सृष्टि का कर्ता ही वही है तब उससे बढ़कर है ही कौन ? उसने जो चाहा सो किया। उसे रोकने वाला कोई नहीं—

जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिन दीन्ह ॥[1]

वह पर्वत का ढाह सकता है, चींटी को हस्ति के तुल्य बना सकता है, वज्र को तृण और तृण को वज्र बना सकता है—

परबत ढाह देख सब लोगू। चांटहि करै हस्ति सरि जोगू।
बज्रहि तिनकहि मारि उड़ाई। तिनहि बज्र करि देइ बड़ाई ॥[2]

उसने अगम और अपार सागर का सृजन किया है, परन्तु यदि वह चाहे तो उसे तारकतुल्य बना सकता है और तारे को समुद्र बनाकर उस में मेरु जैसे महान् पर्वत को बुद्बुद् की भांति तैरा सकता है। अग्नि में प्रचण्ड ज्वालाओं का निर्माण उसी ने किया है परन्तु वह उन्हें हिम समान शीतल बना सकता है। पानी में अग्नि का सचार कराना तथा पत्थरों को तृण की भांति जलाना उसके बाएँ हाथ का खेल है। सब का सृजन, गढ़न और भजनकर्ता वही है और दूसरा कोई नहीं—

कीन्हेसि बारिधि अगम अपारा। चहइ सो करै जैस लघु तारा ॥
औ तारहि को समुंद बनावै। मेरु बबूला जैस तरावै ॥
कीन्हेसि अगिनि बीच अति ज्वाला। चहै तो करै हिमवन्त पाला ॥
औ पानी महँ अगिनि संचारै। पाहन मेलि जैस तृन जारै ॥
भजइ गढ़इ विधाना सोइ। दूसर और जगत नहिं कोई ॥[3]

जबकि ईश्वर का ही सब कुछ प्रदर्शन है तब सर्वशक्तिमत्ता तो स्वतः ही आ जाती है। जायसी ने इसीलिए कहा है कि संसार अस्थिर है, नश्वर है। यदि कोई स्थिर या नित्य है तो वही जादीश्वर। उसकी इच्छा ही प्रधान है अतः उसकी शक्ति से बाहर कुछ नहीं है। वह पदार्थों का सृजन कर भजन भी कर सकता है और फिर उन्हें उसी अवस्था में ला सकता है—

सबै नास्ति वह अहथिर, ऐसा साज जेहि केर।
एक साजै औ' भाजै, चहे सँवारै फेर ॥[4]

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।

[2] वही, पदमावत, पृ० ३।

[3] चित्रावली, पृ० २।

[4] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३।

ऐसा निराकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा निर्गुण होते हुए भी दयालु है, दाता है तथा गुणों का भण्डार है—

तूं दयाल, गुन निरगुन दाता ।[1]

उसके गुणों का पार किसी ने नहीं पाया है। उसके स्वरूप को अनेक चितेरों ने चित्रित किया है पर पार न पाए हैं। इसीलिए जायसी ने कहा है कि सप्त स्वर्गों को कागज, पृथ्वी और समुद्र को स्याही तथा समस्त वनों की असंख्य लेखनियाँ बना कर भी उसे वर्णित किया जाय तो भी उसकी गति का पार नहीं पाया जा सकता—

सात सरग औ' कागद करई । धरती समुद दुहूँ मसि भरई ॥
जावत जग सारा बन ढाखा । जावत केस रोय पखि पाखा ॥
जावत खेह रेह दुनियाई । मेघ बूंद औ' गगन तराई ॥
सब लिखनी के लिखु संसारा । लिखि न जाइ गति समुद अपारा ॥[2]

ऐसा सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा निर्गुण और निराकार भी है परन्तु सौन्दर्य रूप है। इसीलिए सूफी लोग उसके रूप के पतंग बने रहते हैं। वे उसे प्रेम रूप ही मानते हैं। सौन्दर्य का प्रेम से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस्लाम के अनुसार ईश्वर ने अपना रूप देखने के लिए ही तो विश्व में अपना प्रदर्शन किया है। वह स्वयं अपने से प्रेम करता है। यही नहीं विश्व से भी प्रेम करता है। दादू ने लिखा है कि प्रेम ईश्वर ही है तथा वह उसी का अंश और स्वरूप है—

इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग ।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग ॥[3]

प्रेमरूप होने के कारण ईश्वर में सौष्ठव की ही प्रधानता है परन्तु इन सूफियों में पारुष्य को भी माना है। इसीलिए साधक के हृदय में भय का संचार भी है। जायसी ने लिखा है कि सूर्य, चाँद और तारे तेरे डर से ही अहोरात्र दौड़ते तथा पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु पर तेरा ही कठोर अनुशासन है। कहने का यह है कि ये सब उसी के भय से क्रियाशील हैं—

चाँद सुरुज औ' नखतन्ह पांती । तेरे डर धावहिं दिन राती ।
पानी पवन अगिन औ' माटी । सबके पीठ तोरिहं सांटी ॥[4]

जीव और शरीर के मध्य वियोग भी उसी ने दिया है, यह भी एक परम भय

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावती पृ०, ७१ ।
[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत पृ०, ४ ।
[3] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० ८३ ।
[4] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० १८० ।

है। इसी से जीव ईश्वर को प्रेम करता है और सदैव के लिए इस दुख से छूटकर उससे मिल जाना चाहता है। यदि वह ऐसा न करता तो उसे कोई पहिचानने का प्रयत्न न करता—

तन जीउ महँ बिधि दान बिछोऊ। अस न करै तो चीन्ह न कोऊ॥[1]

ईश्वर के इस भयावह रूप को सूफियों ने इस्लाम से ही ग्रहण किया है। इस्लाम का अल्लाह कठोर अनुशासक है, ऐसा पहले कहा जा चुका है।

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० १८४।

दशम पर्व
सृष्टि

इन सूफियों ने ईश्वर की व्यापक अलक्ष्य सत्ता मानते हुए भी सृष्टि की उत्पत्ति को आकस्मिक नहीं माना है और न यही माना है कि सृष्टि उससे पृथक् है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि उपचारतः यह उससे भिन्न है परन्तु वास्तव में उसी का प्रदर्शन है। इन कवियों ने अपने काव्यों में ईश्वर की स्तुति करते हुए सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बहुत-कुछ कहा है परन्तु जायसी ने अखरावट में इसका विषद विवेचन किया है।

उस ईश्वर ने इस सृष्टि को बनाया, जो सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से व्याप्त हो रहा है—

> सोई कर्त्ता रमि रहा, रोम रोम सब माँहि।
> तिन सब कान्ह सिरिष्ट यह, गाहक कीन्हों नाँहि ॥[1]

शाह बरकतुल्ला ने ईश्वर को मसि का रूपक देते हुए कहा है कि हम सब छोटे-बड़े रूप में उसी से बने हुए अक्षर हैं—

> हम अच्छर करतार मसि, लहु गुद बरन बसीत।
> कोइ पेमी नेमि कोइ, राजा रंक अतीत ॥[2]

नूर मुहम्मद ने लिखा है कि उसने 'कुन' शब्द से सृष्टि का निर्माण किया अर्थात् उसने केवल यही कहा कि 'होजा' और यह सब कुछ हो गया ··

> हूँ जेहि नाद जगत यह करी।[3]

जायसी के कथनानुसार ईश्वर ने शून्य से इस विश्व की रचना की। न तो प्रथम आकाश था, न पृथ्वी थी और न सूर्य-चन्द्रमा थे। केवल शून्य ही था। उसी में सर्वप्रथम मुहम्मद अर्थात् आदर्श पुरुष का सकल्प (archtype) उदय हुआ।—

> गगन हुता न महि हुती, हुते चंद नहि सूर।
> ऐसइ अन्धकूप महं, रचा मुहम्मद नूर ॥[4]

---

[1] चित्रावली, पृ० २।
[2] शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (भाग १), प्रमप्रकाश, पृ० १।
[3] अनुराग बाँसुरी, पृ० ४६।
[4] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०३।

सर्वप्रथम वह ईश्वर ही था । उसने इस सृष्टि की रचना क्रीडामात्र में ही की। समस्त महाशून्य में उसी की एक व्यापक सत्ता थी, कोई दूसरा पदार्थ न था। आदि पुरुष के हितार्थ उसने अठारह सहस्र जीव-योनियों की सृष्टि की। हमारे यहाँ चौरासी लक्ष योनियाँ मानी हैं। जायसी ने अठारह सहस्र योनियों का सिद्धान्त इस्लाम से अपनाया। इन योनियों की रचना तो की परन्तु प्राणियों को हम जो करता हुआ देखते हैं वास्तव में वह एक छायामात्र है। प्रकट और गुप्त रूप में वही रहा हुआ है। उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है—

आदिहु ते जो आदि गोसाईं। जेइ सब खेल रचा दुनियाईं॥
एक अकेल, न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती॥
ऐ सब किछु, करता किछु नाहीं। जैसे चले मेघ परछाहीं॥
परगट गुपुत बिचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा॥[1]

स्वर्ग, पृथ्वी आदि के अभाव में बिना किसी साधन तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि के रूप के बिना भी नाम-स्थान के अभाव रूप केवल महाशून्य से उस निराकार परमेश्वर ने इसका निर्माण किया। अपने आप से ही सर्वप्रथम एक प्रकाश रूप निर्मल दीपक को बनाया, जो मुहम्मद था। इससे संसार महाशून्य प्रकाशमान हो गया—

हुता जो सुन्न म सुन्न, नाव ठाव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपुहि आपु महँ॥
सरग न, धरती न खंभ मय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बारो अस, ओहि न रंग, न भेस॥
तब भा पुनि अंकूर, सिरजा दीपक निरमला।
रचा मुहम्मद नूर, जगत रहा उजियार होइ॥[2]

मुहम्मद कोई पृथक् व्यक्ति न था। उसी प्रकाशरूप परमात्मा ने अपने ही अंश रूप उसे उत्पन्न किया। इससे मुहम्मद साहब की प्रकाशरूप में नित्यता सिद्ध होती है। यही संसार का सार था—

पुरुष एक जिन्ह जग अवतारा। सबह शरीर सार संसारा॥
आपन प्रेम फोइ हुइ राऊ। एक क धरा मुहम्मद नाऊ॥[3]

इसी मुहम्मद के प्रीत्यर्थ उसने विश्व का सृजन किया—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०३।

[2] वही, अखरावट, पृ० ३०४।

[3] चित्रावली, पृ० ५।

प्रथम जोति विधि ताकर साजी । औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी ।[1]

उसमान ने भी यही लिखा है कि यदि मुहम्मद न होते तो संसार की रचना ही न होती—

जो न करत यह ओकर चाऊ । होत न जग महं एक उपाऊ ।[2]

ईश्वर के मुहम्मद के प्रति इसी प्रेम-बीज से दो अंकुर निकले । एक श्वेत और दूसरा श्याम । जब यह अंकुर शिशु तरु हुए तो श्वेत तरु से जो पत्र निकला वह पृथ्वी कहलाई और श्याम तरु से जो पत्र निकला वह आकाश कहलाया—

तेहिक प्रीति बीज अस जामा । भए दुइ बिरिछ सेत औ, सामा ॥
होतै बिरवा भए दुइ पाता । पिता सरग औ धरती माता ॥[3]

इस प्रकार ईश्वर ने एक से द्वित्व का सम्पादन किया । यहाँ उदाहरण देते हुए जायसी ने लिखा है कि यथा लेखनी का मुखचीर कर जब दो भाग कर दिये जाते हैं तभी वह कार्य करती है उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के आरम्भ में ही जब द्वित्व सत्ता में आया तभी सृष्टि-क्रम आगे चला—

चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा । बिरिछ एक उपनी दुइ डारा ॥[4]

यह वृक्ष का रूपक हमें उपनिषदों में भी मिलता है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि जिससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं है तथा न जिससे कुछ छोटा है और न बड़ा है, वह अद्वितीय परमात्मा प्रकाश रूप में वृक्ष के समान स्थिर भाव से स्थित है तथा वही सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचि
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥[5]

द्वित्व का सम्पादन होने पर सूर्य-चाँद, दिन-रात, पुण्य-पाप, सुख-दुख और हर्ष-विषाद की सृष्टि की पुनः स्वर्ग-नरक, भले-बुरे और सत्यासत्य का निर्माण किया—

सूरज, चाँद दिवस औ राती । एकहि दूसर भएउ सँघाती ॥
मेंटेनि जाइ पुन्नि औ, पापू । दुख औ, सुख, आनन्द सतापू ॥
औ, तब भए नरक कैकूँठू । भल औ मन्द, साँच औ, झूठू ॥[6]

---

1. जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ४ ।
2. चित्रावली, पृ० ५ ।
3. जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०५ ।
4. वही, अखरावट, पृ० ३०५ ।
5. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३, ६ ।
6. जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०५ ।

उपनिषदों में भी यही लिखा है कि उस ब्रह्म से ही सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ। वह स्वतः अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियों से हीन, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अव्यय है और सर्वभूतों का कारण है। उसने इस विश्व को अपने में से इस प्रकार प्रकट किया जिस प्रकार ऊर्ण्य पदार्थों में मकड़ी अपने में से ही जाला बनाती है, पृथ्वी में से ही ओषधियाँ निकलती हैं और जिस प्रकार सजीव पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।[1]
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥[2]

आगे इसी ब्रह्म को विश्वात्मा का रूप देकर कहा गया है कि द्युलोक जिसका मस्तक है, चन्द्र और सूर्य चक्षु है, दिशाएँ श्रोत्र हैं, वेद रूप ज्ञान ही वाणी है, वायु प्राण है एवं विश्व जिसका हृदय है और जिसके पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म ही सर्व भूतों का अन्तरात्मा है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥[3]

इस प्रकार सूफियों द्वारा स्वीकृत सृष्टि की रचना बहुत-कुछ उपनिषदों में प्रतिपादित विश्वोत्पत्ति से मिलती है। सृष्टि के मूल तत्त्वों का उत्पादन कर ईश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने इब्लीस (शैतान) को बनाया जिससे सभी डरते रहें—

नूर मुहम्मद देखि तब, भा हुलास मन सोइ।
पुनि इबलीस सवारेउ, डरत रहै सब कोउ॥[4]

इसके पश्चात् जिबरईल मकाईल इसराफील और इजराईल ये चार फरिश्ते उत्पन्न किये। ये अन्य फरिश्तों के नायक हुए। ईश्वर ने पुनः आदम को बनाना चाहा। चारों फरिश्तों ने चारों भूतों से शरीर की रचना की और उसमें पंचभूतात्मक इन्द्रियों

---

[1], [2] मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १, (खंड १) ६-७।
[3] वही, मुण्डक २, (खंड १) ४।
[4] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०५।

सृजन किया तथा नव सुले द्वारों के ऊपर दशम द्वार ब्रह्मरंध्र को बनाया जो बन्द ही रखा—

पहिलेइ रचे चारि अदवायक। भए सब अदवैयन के नायक॥
भइ प्रायसु चारिहु के नाऊं। चारि वस्तु मेरवहु एक ठाऊं॥
तिन्ह चारिहु के मंदिर संवारा। पाँच भूत तेहि महँ पैसारा॥[1]

यह आदम कोई भिन्न व्यक्ति न था वरन् ईश्वर से वह उसी प्रकार अभिन्न था जिस प्रकार माता से गर्भ—

रहेउ न दुइ महँ बीच, बालक जैसे गरभ महँ।[2]

यहूदी और ईसाइयों ने आदम को ईश्वर के अनुरूप ही माना है। जायसी भी 'उहैरूप आदम अवतरा'[3] से यही सूचित करते हैं। नूर मुहम्मद ने भी मनुष्य की रचना उसी के समान मानी है—

कीन्ह रूप मानुष को, अपने रूप समान।[4]

कुरान के अनुसार आदम की उत्पत्ति के पश्चात् सबको उसकी वंदना करने के लिए आज्ञा हुई। सबने वंदना की परन्तु शैतान ने उसे स्वीकृत न किया। इसी अपराध में उसे स्वर्ग से निकाल दिया गया। उसे प्राणियों को कुमार्ग पर ले जाने का कार्य सौंपा गया। आदम के साथ हौवा का भी सृजन हुआ था। शैतान ने इनको भी गेहूँ का फल खिलाकर पथ-भ्रष्ट कर दिया जिससे इन्हे स्वर्ग छोड़ना पड़ा। संसार में आकर उन्हीं से अनेक संतानें हुईं—

धरिमिहि धरि पापी जेइ कीन्हा। लाइ संग आदम के दीन्हा॥[5]
आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ धाला कबिलास।
पुनि तहवाँ ते काढ़ा, नारद के बिसवास॥[6]
खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग में पछिताने॥[7]
तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भए अपने अपने दीन॥[8]

यहूदी और ईसाई मत में भी ऐसा ही माना गया है। ये तीनों सामी मत

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०६।
[2] वही, अखरावट, पृ० ३०६।
[3] वही अखरावट, पृ० ३०८।
[4] इन्द्रावती, पृ० १७१।
[5], [6] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०७।
[7], [8] वही, अखरावट; पृ० ३०८।

इसी कारण शैतान को ईश्वर का प्रतिपक्षी मानते हैं। परन्तु सूफी शैतान को विरोधी न मानकर ईश्वर का भक्त मानते हैं। उनका कहना है कि उसने जो कुछ किया या वह जो कुछ करता है वह ईश्वर की आज्ञा से ही। वह तो एक खरा परीक्षक है जो सभी को उन्मार्ग के परिणामों से सन्मार्ग पर लाया करता है। इसीलिए जायसी ने शैतान को नारद कहा है और नारद वैष्णव मत में परम भगवद्भक्त कहा गया है। नारद भी पुराणों में कलह प्रिय प्रसिद्ध ही हैं। इसके अतिरिक्त पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड को माना है। सृष्टि के उपरान्त आदम को 'यह जग भा दूजा'[1] से दूसरा जगत् ही कहा है। नारद को आदम के पिण्ड में ही ईश्वर ने ब्रह्म का गुप्त स्थान दिखाया और उससे कहा कि तू मेरा अद्वितीय सेवक है अतः तू इस दशम द्वार अर्थात् ब्रह्मरंध्र का रक्षक होकर रह।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नारद ईश्वर से कोई भिन्न शक्ति नहीं है। भला-बुरा सब उसी के रूप हैं—

धूप छाँह दोउ पिय के रंगा।[2]

फरिश्तों आदि का जो वर्णन किया गया है, वे भी ईश्वर से पृथक् नहीं हैं। शून्य से ही सबका सृजन हुआ था। अतः सबके रूप में वही सब कुछ करता है—

आदि किएउ आदेस, सुन्नहिं तें अस्थूल भए।
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओढ़ जउ॥[3]

सूफी वास्तव में इस संसार को ईश्वर से पृथक् कोई पदार्थ समूह नहीं मानते। सारा संसार उसी का प्रदर्शन है अतः वह उसका दर्पण है—

जग में जावत हैं सब बना, तावत करता को दरपना॥[4]

हठयोग के आधार पर इन सूफियों ने पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड की कल्पना की है—

बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासों कहों?
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ॥[5]

जिस प्रकार व्यापक ब्रह्म समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है उसी प्रकार पिण्ड में भी। सम्पूर्ण विश्व उसी का रूप अतः पिण्ड भी उसी का प्रतिरूप है। जायसी ने लिखा है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट पृ० ३०७।
[2] वही, पद्मावत, पृ० १६७।
[3] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०८।
[4] इन्द्रावती, पृ० ५६।
[5] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०८।

माथ सरग, धर धरती भएऊ । मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ ॥
माटी माँसु, रकत भा नीरू । नसें नदी, हिय समुद गँभीरू ॥
रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा । हाड़ पहार जुरे चहुँ फेरा ॥
बार बिरिछ, रोवाँ खर जामा । सूत सूत निसरे तन चामा ॥
सातों दीप, नवौ खंड, आठों दिसा जो आहिं ।
जो बरम्हंड सो पिण्ड है, हेरत अन्त न जाहिं ॥[1]

अर्थात् शरीर में सिर तो स्वर्ग है धड़ पृथ्वी है, मांस मिट्टी है, रक्त जल है, नसें नदी हैं और हृदय गम्भीर समुद्र है। रीढ़ (मेरुदण्ड) सुमेरु पर्वत है तथा उसके चारों ओर अस्थि-समूह अनेक अन्य पर्वत हैं। बाल वृक्ष हैं और रोम तृण। इनके अतिरिक्त सात द्वीप, नव खण्ड और अष्ट दिशाएँ ब्रह्माण्ड की भाँति इस पिण्ड में भी हैं।

पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु से इस शरीर का निर्माण किया और ब्रह्माण्ड की भाँति इसमें भी वही पूर्ण रूप से व्याप्त हो रहा है—

आगि, बाउ, जल, धूरि चारि मेरइ भाँड़ा गढ़ा ॥
आपु रहा भरि पूरि मुहमद आपुहि आपु महँ ॥[2]

जायसी ने और भी लिखा है कि नासिका सरात का पुल है, जो मुसलमानों के विश्वास के अनुसार स्वर्ग के मार्ग में पड़ता है और जो पापियों के लिए पतला तथा धर्मात्माओं के लिए चौड़ा हो जाता है। सिर को पहले ही स्वर्ग कह आये हैं। भौंहें उसके दो पार्श्व हैं। दाएँ और बाएँ नथुने से चलने वाले श्वास-प्रवाह ही सूर्य एवं चाँद हैं। जाग्रत अवस्था ही दिन है और सुप्तावस्था रात्रि। हर्ष प्रभात है तथा विषाद सन्ध्या। शरीर में सुख-भोग ही बैकुंठ है और दुख-रोग नरक। रोना ही वर्षा है, क्रोध ही गर्जन है, हँसी बिजली है और दया ही हिमपात है। इनके अतिरिक्त श्वासों के परिमाण से घड़ी, पहर, षड्ऋतु तथा बारहों मास इसी शरीर में हैं—

नासिक पुल सरात पथ चला । तेहि कर भौंहें हैं दुइ पला ॥
चाँद सुरुज दूनौं सुर चलहीं । सेत लिलार नखत झलमलहीं ॥
जागत दिन, निसि सोवत माँझा । हरष भोर, बिसमय होइ साँझा ॥
सुख बैकुंठ भुगुति औ भोगू । दुःख है नरक जो उपजै रोगू ॥
बरखा रुदन, गरज अति कोहू । बिजुरी हँसी हिवंचल छोहू ॥
घरी पहर बेहर हर साँसा । बीतें छओ ऋतु बारह मासा ॥[3]

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट पृ० ३०६।
[2] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०६।
[3] वही, अखरावट, पृ० ३०६।

शाह बरकतुल्ला ने भी शरीर को ईश्वर का मन्दिर बतलाते हुए कहा है कि तीनों लोक इसी में हैं। तीर्थ-स्थान भी इसी में हैं। सर्व दर्शनों का आधार भी इसी में है तथा ईश्वर भी इसी में विराजमान है—

देह देहरा पूजियो, तीन लोक तिन मांह।
तीरथ, षट्दर्शन संख्यो, मेरे दैठे नांह॥[1]

इस प्रकार पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड की कल्पना कर ईश्वर-प्राप्ति का स्थान इसी में बतलाया है। सारी सृष्टि का यह एक लघु आदर्श है। इस्लाम के अनुसार सृष्टि के पवित्रतम स्थान, देव, पुरुष और पुस्तकें इसी शरीर में मानी जा सकती हैं। यह शरीर संसार है, जिसमें पृथ्वी और स्वर्ग बनाया हुआ है। शरीर में माथे को मक्का समझो और हृदय को मदीना जिसमें पैगम्बर का नाम सर्वदा रहता है। श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और मुख ये चार सेवक हैं। चाहे इन्हें चार फरिश्ते, जिबराईल, मकाईल, इसराफील और इजराईल कहो या मुहम्मद साहब के चार यार, उमर, उसमान, अबूबकर और अली अथवा चार पीर या तौरेत, जबूर, इन्जील और कुरान ये चार आसमानी किताबें पुकारो अथवा इन्हें अली, हसन, हुसेन आदि इमाम (धर्माधिष्ठाता) जानो—

घा-घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना।
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबीक नाऊँ॥
सरवन, आँखि, नाक, मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु विचारी॥
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु॥
भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबें पढ़ऊ॥
भावै चारि इमाम जे आगे।[2]

ये लोग साधक थे अत: मुसलमान होते हुए भी इन्होंने इस्लामी विश्वासों को साधना की कसौटी पर कसा है और उन्हें अध्यात्म में ढाल दिया है। इसीलिए ये पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड की कल्पना करते हैं और शब्द के अभिधामूलक अर्थ को व्यंग्यार्थ के रूप में प्रकट करते हैं। यह कल्पना कोई नई कल्पना न थी। योग के अनुसार ही ऐसी मान्यता है। गीता में भी अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने अपने शरीर में चराचर जगत को दिखाने से पूर्व यह कहा है—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥[3]

---

[1] शाह बरकतुल्लाह कौंट्रिब्यूशन टू हिन्दी लिटरेचर (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश, पृ० १२।

[2] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३१०।

[3] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ११, श्लोक ७।

अर्थात् हे अर्जुन ! इस मेरे शरीर में एकत्र ही चराचर सम्पूर्ण जगत को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह देख ।

ऊपर जो सृष्टि का वर्णन हुआ है तथा पिण्ड में ब्रह्माण्ड की चर्चा की गई है, वह केवल दृश्य जगत् को समझने के लिए ही है । वस्तुत. यह सृष्टि ईश्वर से कोई पृथक सत्ता नहीं रखती । यह उसी का प्रकट रूप है, उसी की माया है । ईश्वरीय सत्ता ही सब जगत् का अधिष्ठान है । जब उसने अपनी शक्ति के प्रभाव को देखना चाहा तभी उसने शून्य में अपने में ही विश्व की रचना कर डाली । यहाँ शून्य का अर्थ शून्य नहीं । व्याकृत जगत् की अपेक्षा नाम रूप से रहित (अव्याकृत) सत्ता का नाम शून्य है । सूफियों का शून्य बहुदों या अन्य मतावलम्बियों का शून्य नहीं जिसका अर्थ है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति हुई । शून्य अभाव नहीं वरन् यह शून्य वह सत्ता है जिसमें सब भाव अन्तर्निहित हैं । क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती । गीता में भी लिखा है कि 'नासतो विद्यते भावो'[1], अर्थात् असत् का अस्तित्व नहीं हो सकता ।

सारा संसार एक दर्पण रूप है जिसमें वह परमार्थ सत्ता ही प्रतिबिम्बित हो रही है । या यों कहिये कि द्रष्टा और दृश्य वस्तुत एक ही निर्गुण सत्ता के प्रतिरूप हैं । वह स्वयं ही कर्ता है, स्वयं ही कार्य है और स्वयं ही कारण है अर्थात् इस 'त्रिपुटी' का आधार एक ही सत्ता है । अन्तर्जगत और वाह्य जगत् में जो कुछ भी है वह उसी का प्रतिबिम्ब है—

सबै जगत दरपन के लेखा । आपुहि दरपन आपुहि देखा ॥[2]

नूर मुहम्मद ने भी यही लिखा है कि इस विश्व-दर्पण में वही प्रतिभासित हो रहा है—

देखि परे ओहि दरपन माहीं ।[3]

उसमान भी सम्पूर्ण विश्व में प्रकट और गुप्त रूप में उसी एक सत्ता को स्वीकार करता है—

परगट गुपुत विधाता सोई । दूसर और जगत नहिं कोई ॥[4]

कबीर ने कहा है कि इस विश्व में वही एक है । अन्य जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब कृत्रिम है यथा दर्पण में प्रतिबिम्ब—

---

[1] गीता, अ० २, श्लोक १६ ।

[2] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३१६ ।

[3] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ८

[4] चित्रावली, पृष्ठ २ ।

साधो एक आपु जग माहीं।
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यो दरपन में छाहीं ॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सूफियो ने सृष्टि के सम्बन्ध में अद्वैत प्रतिबिम्बवाद अथवा 'आभासवाद' को ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट है कि इस सस की सत्ता परमार्थ सत्ता से भिन्न नही। परमार्थ से पृथक् लोकसत्ता भ्रम है। शा बरकतुल्ला ने भी इसे भ्रम कहा है। इसमें वास्तविकता वही ईश्वर है—

'प्रेमी' यह जग खेलना, भरम, ओट दिय लाल।[2]

नर मुहम्मद ने जगत् के व्यवहार पक्ष को ही स्वप्नवत् कहा है—

'कामराय' जगधधा, सपन समान।[3]

जायसी ने भी जगधधे को प्रपच बतलाया है और इससे विमुख होकर अपने ही उस ईश्वर की खोज करने के लिए कहा है—

छोडि देहु सब धधा, काढि जगत सौं हाथ।
घर माया कर छोडि कै, धरु काया कर साथ ॥[4]

सूफीमत में भारतीय परम्परा के अनुसार व्यावहारिक सत्ता निराधार नहीं पारमार्थिक सत्ता पर आश्रित है इसीलिए उनके मत में भी लोकव्यवहार शाश्वत ध (सत्य, शिव और सुन्दर) के आधार पर ही होना चाहिए, विशृङ्खल रूप में नही सूफियो ने इसीलिए लोक प्रेम को विशेष रूप से महत्त्व दिया है क्योकि इसके सहा उनको आत्मरति प्राप्त हो सकती है और यह लोक-प्रेम (इश्के मजाजी) अध्यात्म प्रे (इश्के हकीकी) का साधन बन सकता है।

अन्त में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सृष्टि का जो निरूपण सूफी ग्रन्थों पाया जाता है वह यहूदी तथा इस्लामी परम्परानुगत है सूफियो की अपनी देन नही इसे स्वीकार करने म या इस जैसे किसी अन्य व्याख्यान को स्वीकार करने में सूफियों को कोई आपत्ति नही, क्योकि सृष्टि क्रम का सम्बन्ध सूफी सिद्धात से कुछ नही। एव लोक हो या अधिक, अठारह सहस्र यानियाँ हो या चौरासी लक्ष, यह गणना कथनमा है। तात्पर्य यह है कि इस अनेक रूप ससार की उत्पत्ति का आधार एक ही सत्ता है और वह एक सत्ता ही अनेक नाम रूपो में विराजमान है। बिना इस आधार सत्ता के सृष्टि की उत्पत्ति असम्भव है। यह एक सत्ता ही ससार का उपादान तथा निमित्त कारण है अत इसके बाहर कोई और सत्ता नही।

---

[1] कबीर वचनावली, पृष्ठ २०४।
[2] शाह बरकतुल्लाज कॉण्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रचर (प्रथम भाग), प्रेम प्रकाश, ७०६।
[3] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ २८।
[4] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३१८।

एकादश पर्व
जीव

जीव के विषय में इन सूफियो ने अद्वैत को ही अपनाया। जीव और ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नही है। जीव ब्रह्म का ही अश है—

रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा॥
सोई अस घटै घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला॥[1]

श्वेताश्वतरोपनिपद् मे ब्रह्म को ही स्त्री, पुरुप, कुमार, कुमारी एव वृद्ध बतलाया गया है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दडेन वंचसि त्व जातो भवसि विश्वतो मुखः॥[2]

गीता में भी 'ममैवाशो जीवलोके जीवभूत' सनातन'[3] कहकर जीव को ब्रह्म का ही अश बतलाया है।

भिन्न-भिन्न प्राणियो मे वर्ण-वर्ण के कलेवर धारण किये वही क्रीडा कर रहा है। मूलत जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। अपने इस अभिन्न रूप को न पहचानने के कारण जीव लोक में दुख भोगता है।

नूर मुहम्मद ने लिखा है कि हम दाता, कर्त्ता, द्रष्टा, श्रोता एव वक्ता नही हैं वरन् हम में रहा हुआ वही देता है, वही करता है, वही देखता है, वही सुनता है और वही बोलता है—

आपुहि दाता करता होई। दिष्टा स्रोता बकता सोई॥[4]

उसमान ने भी 'एक जोत परगट सब ठाऊँ'[5] कहकर एकरूपता ही बतलाई है। आगे मुहम्मद साहब की प्रशसा करते हुए उन्होने यही कहा है कि ईश्वर ने उनमें अपना ही अश डाला और एक पृथक् मुहम्मद नाम रख दिया—

आप अश कीन्ह दुहु ठाऊँ। एक क धरा मुहम्मद नाऊँ॥[6]

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०५।
[2] श्वेताश्वतरोपनिपद् अ० ४, मत्र ३।
[3] गीता, अ० १५, श्लोक ७।
[4] इन्द्रावती, पृ० ५४।
[5] चित्रावली, पृ० ४।
[6] वही, पृ० ५।

इन प्रेममार्गी कवियों के अतिरिक्त कबीर ने भी इस अद्वैत का विवेचन किया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार प्रकाश और किरण सूर्य से भिन्न नहीं उसी प्रकार जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। प्रकाश किरण में और किरण सूर्य में रहती है परन्तु वस्तुतः वे भिन्न नहीं। इसी प्रकार व्यापक ब्रह्म के मध्य घट-घट में रहा जीव भी उस से पृथक् नहीं—

ज्यों रवि मद्धे किरनि देखिए किरनि मध्य परकासा॥
परमातम में जीव ब्रह्म इमि जीव मध्य तिमि स्वांसा॥[1]

वह ब्रह्म ही बीज है, वही वृक्ष है, वही अंकुर है तथा फूल-फल और छाया भी वही है। वही सूर्य है, वही किरण है और वही प्रकाश है। जीव और माया भी वही है—

आपहि बीज बृच्छ अंकूरा, आप फूल फल छाया।
आपहि सूर किरनि परकासा आप ब्रह्म जिव माया॥[2]

दादू भी जीव और ब्रह्म की अभिन्नता की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि तुम किस से बैर करते हो, दूसरा कोई नहीं है। जिससे तुम आप हो वही सब में व्याप्त हो रहा है—

किस सौं बैरी ह्वै रह्या, दूजा कोई नाँहि।
जिसके अंग थे ऊपज्या, सोई है सब माँहि॥[3]

प्रेमी कवि ने हिन्दू और मुसलमान दोनों में एक ही ईश्वर का प्रकाश माना है 'प्रेमी हिन्दू तुरक में, हर रंग रहो समाय'।[4]

विविध साधक कवियों के इन उपरोक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। जीव वास्तव में ब्रह्म ही है। नाम रूप की उपाधि सहित ब्रह्म का नाम जीव है। वह ब्रह्म ही उपाधिवश संसार में फँसा हुआ जीव रूप प्रतीत होता है और अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता है। जब यह द्वित्व मिट जाता है तब पुनः अभिन्न भाव हो जाता है। संसार में चित् और अचित् ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं अतः जीव की कोई पृथक् सत्ता नहीं। इसलिए जायसी ने कहा है कि ऐ जीव! तू अपनी पृथक् सत्ता या अहंभाव को दूर कर ब्रह्म से एक होकर रह—

एकहि तें दुइ होइ, दुइ सौं राज न चलि सकै।
बीचतें आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु॥[5]

---

[1] कबीर वचनावली, पृ० २०३।

[2] वही, पृ० २०३।

[3] संतवाणी संग्रह, पृ० ६५।

[4] शाह बरकतुल्लाह कॉन्ट्रिब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर, (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश, पृष्ठ ८।

[5] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३१४।

हम पहले कह चुके हैं कि सूफियों ने इस ब्रह्म और जीव के अभेद सिद्धान्त अद्वैत मत से ग्रहण किया। उपनिषदों में 'नास्ति द्वैत'[1], 'एकमेव सत्'[2], 'नेह नानास्ति किंचन'[3] इत्यादि वाक्यों में अद्वैत का जो विवेचन हुआ, उसका ही यह प्रभाव है। जीवात्मा उपाधिवश प्रपंच में पड जाता है अत उस में ईश्वर के सौंदर्य और अनन्त गुण सीमित हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का सौंदर्य और माधुर्य पक्ष तथा शक्ति और ऐश्वर्य पक्ष अपने अनन्त विकास में रहते—

छोडि जमात जनानहि रोवा। कौन ठाव तें बैठ बिछोवा ॥[4]

समग्र ईश्वर का अचित् पक्ष है। इस में जीवात्मा उसका चित् पक्ष है, अत उसका संसार से जातीय सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो केवल भ्रमवश वह प्रपंच में पड़ा अपने को ईश्वर से भिन्न समझ रहा है। भ्रम ही बन्धन है। इस भ्रम के निवारण होने पर ही जीवात्मा शरीर बंधन से मुक्त होकर मृत्यु को पार करता है और अमर पद प्राप्त करता है। इसीलिए शाह बरकतुल्ला यमराज से कहते हैं कि रे यम! क्या बावला हो गया है कि जो तू मुझे लेने आया है। मैंने तो पहले ही अपने प्रभु के आत्म-समर्पण कर दिया है। पुन वह जीवात्मा से कहते हैं कि प्रेम-पथ में अपना मन दे दो। अन्यथा मृत्यु इस पर अधिकार कर लेगी। रे मूर्ख! सोच, इन दोनों में से क्या हितकर और श्रेष्ठ है—

> 'जम' जनि बोरा होइ तूं, डोरत घेरत प्रान।
> हम तो तब ही दे चुके, प्राणनाथ को प्रान॥
> प्रेम पथ जो दीजिये, 'जम' लेहो यह पौन।
> बौरे मन तू न्याव कर, दुइ में नीको कौन॥[5]

अमर पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अनेक प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना से मनुष्य का हृदय पवित्र होता है और जिसका हृदय पवित्र होता है वही उसे जान सकता है। हृदय रूपी दर्पण सब के पास है परन्तु जिसका दर्पण स्वच्छ है वही परमात्म स्वरूप को देख सकता है और जिस का मलिन है वह नहीं—

---

[1] छान्दोग्योपनिषद्, ६, २, १।

[2], [3] बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ४, १६।

[4] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३०८।

[5] शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर, (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश पृ० २३।

जिस का दर्पण ऊजला, सो दर्पण देखै माँहि।
जिसकी मैली आरसी, सो मुख देखै नाहि ॥[1]—दादू

दरिया साहब ने भी कहा है कि तुम सब में हो और सब तुम में हैं परन्तु इस रहस्य को कोई सन्त ही जान सकता है—

सब महँ तुम तुम में सबै, जानि मरम कोई सत ॥[2]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब जीव ईश्वर का ही अश है तब वह पाप-कर्म क्यों करता है और दुख से क्यो पीडित है, क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और आनन्द स्वरूप है। इस शका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि सुख-दुख और पाप पुण्य व्यावहारिक सत्ता के लक्षण हैं और व्यावहारिक सत्ता काल्पनिक अथवा भ्रम मात्र है इसलिए पारमार्थिक सत्ता पर पाप तथा दुख का आरोप नहीं किया जा सकता। पारमार्थिक सत्ता अपने स्वातन्त्र्य में सर्वथा निरपेक्ष है। इसलिए व्यवहार में दुख तथा पाप का अवकाश होने पर भी परमार्थ में इन दोषो का आरोप नही किया जा सकता। अत यह मानने में कोई आपत्ति नही कि जीव परमार्थ स्वरूप में ब्रह्म का अश है। व्यवहार का लाछन परमार्थ सत्ता पर नही पड सकता क्योंकि व्यावहारिक सत्ता काल्पनिक अथवा भ्रम मात्र है जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

---

[1] सन्तबानी सग्रह, (पहला भाग) पृ० ९६।

[2] वही, (पहला भाग), पृ० १२५।

द्वादश पर्व

गुरु
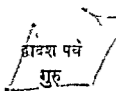
सूफीमत में गुरु की बडी महिमा है—यह कहा जा चुका है। ससार एक अन्ध-
वीहड वन है, जिस में मार्ग का पाना बडा दुष्कर है। इसमें पथ-प्रदर्शक की
... है। वही अपने ज्ञान-दीपक से गन्ता को मार्ग दिखाता है। यदि गुरु
हाथ पकड ले तो वह लक्ष्य पर पहुँच जाता है अन्यथा प्रपच रूप गहनता की भूल-
भुलैयों में ही चक्कर काटता रहता है और कभी भी गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँचता
उसके बिना पथ नहीं मिलता—

बिनु गुरु पथ न पाइय, भूलै सो जो मेट।[1]

सद्गुरु का मिलना बडा कठिन है परन्तु जिसे वह मिल जाता है वह सुखकर
मार्ग पर ही चलता है। कारण यह है कि वह फिर पथभ्रष्ट नहीं होता। उसे दीपक
मिल जाता है और वह उसके प्रकाश में सीधा ही चला जाता है। उसे विषमताएँ
भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं अत वह उन पर विजय पाता हुआ बढता है और अपने
दृढ नेता के नेतृत्व में सभी कठिनाइयों को पार करता हुआ परमानन्द का अनुभव
करता है—

जेइ पावा गुरु मीठ सो सुख मारग महँ चलै।
सुख अनंद भा दीठ, मुहमद साथी पोढ जेहि ॥[2]

गुरु के ज्ञान-दीपक बिना मार्ग निशामग्न मार्ग की भाँति अगम हो जाता है।
सर्वत्र अज्ञान का अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त रहता है अत कुछ सूझ नहीं पडता।
मार्ग पर अकेले चलना तो वैसे ही भयावह होता है, उस पर भी अन्धकार विषम-
ताओं को गुप्त रूप से लाकर उसे और बाधामय बना देता है। इस अवस्था में मार्ग
भला कैसे मिल सकता है?

रैनि अँधेरी अगम अति, अगुवा नाहीं सग।
पथ अकेला बापुरा किमि कर पावै भंग ॥[3]

स्वय मार्ग कभी देखा नहीं और प्रदर्शक को अपनाया नहीं फिर भला मार्ग का
परिचय कैसे पा सकता है। अत वह चतुर्दिक मार्ग की खोज में भटकता ही
रहता है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ९२।
[2] वही, अखरावट, पृ० ३२२।
[3] चित्रावली, पृ० ४३।

जा यहँ गुरु न पथ दिखावा, सो अन्धा चारिहुँ दिसि धावा ॥[1]

परन्तु जब सद्गुरु मिल जाता है तो उसकी सहायता से साधक का अज्ञान दूर हो जाता है और ज्ञान प्राप्त होता है । गुरु की महिमा अपार है। वह स्वयं मार्ग पा चुका है अतः उसका जीवन परमार्थ के लिए ही होता है। जो सद्भाव से उसकी शरण में आता है, उसे वह ज्ञान दीपक दिखा देता है। गुरु के उपकारों की कोई सीमा नहीं क्योंकि वह अन्तर्दृष्टि को खोलने वाला है, जिस के खुलते ही मनुष्य विवेक से परिपूर्ण हो जाता है। उसे गुप्त रहस्य हस्तामलकवत् हो जाते हैं और अलक्ष्य का साक्षात्कार हो जाता है—

सतगुरु की महिमा अनंत, अनत किया उपकार ।
लोचन अनत उघारिया, अनत दिखावन हार ॥[2]

गुरु की प्राप्ति पर यदि शिष्य तनिक भी भेद-भाव रखता है तो उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। उसे निश्छल और निःस्वार्थ होकर गुरु के चरणों में अपने को अर्पित कर देना ही होगा तभी वह लक्ष्य को पा सकता है, क्योंकि इस से वह गुरु की कृपा का पात्र हो जाता है। गुरु की कृपा ही रहस्यों का उद्घाटन कराती है और तब शिष्य सन्मार्ग का अनुगामी हो जाता है—

चेला सिद्धि सो पावै, गुरु सौं करै अछेद ।
गुरु करै जो किरिपा, पावै चेला भेद ॥[3]

दादू दयाल ने भी यही कहा है कि सद्गुरु के मिल जाने पर भक्ति और मुक्ति का भाण्डार ही मिल जाता है। बिना गुरु के भक्ति धारा सल्लक्ष्य की ओर प्रवाहित नहीं होती अतः परमात्म-दर्शन प्राप्त नहीं होता—

सतगुरु मिले तो पाइये, भक्ति मुक्ति भंडार ।
दादू सहजैं देखिये, साहिब का दीदार ॥[4]

गुरु ही इस विषय में समर्थ होता है। यारी का कथन है कि गुरु के चरणों की धूल उस अंजन का कार्य करती है जो आँखों में लगाने पर अज्ञानांधकार को मिटा देता है। इस स प्रकाश हो जाता है और निराकार परमात्मा प्रकाश रूप में दृष्टिगोचर होता है—

गुरु के चरनों की रज लैके, दोउ नैन के बिच अंजन दिया ।
तिमिर मेटि उजियार हुआ, निरकार पिया को देखि लिया ॥[5]

---

[1] चित्रावली, पृ० ६५ ।
[2] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १ ।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० १०६ ।
[4] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० ७७ ।
[5] वही (दूसरा भाग), पृ० १४५ ।

मनुष्य गुरु के बिना साधना मार्ग में निपट असमर्थ है। शरीर की बाह्य शुद्धि से कोई लाभ नहीं। ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए हृदय की निर्मलता आवश्यक है और यह काम क्रोधादि अन्तर्मल की शुद्धि के बिना असम्भव है। बुल्लेशाह के कथनानुसार बिना सद्गुरु के इस अन्तर्मल का प्रक्षालन केवल पूजा-पाठ आदि से नहीं हो सकता अत. वह निष्फल ही है—

> बाहरा पाक कीते की हुँदा, जो अन्दरो न गई पलीती।
> बिन मुरशिद कामिल बुल्ला तेरी, एवें गई इबादत कीती ॥[1]

गुरु का इतना माहात्म्य होने के कारण शिष्य को सद्गुरु की खोज करनी पड़ती है क्योंकि यदि गुरु स्वयं अन्धा है और उसे अज्ञानवश कुछ सूझ नहीं पड़ता तो शिष्य को भला क्या मार्ग दिखायेगा क्योंकि शिष्य भी तो अन्धा ही है। कबीर का कहना है कि इस प्रकार अज्ञानी गुरु अबोध शिष्य को अन्धा अन्धे की भाँति अधाधुंध ठेलता हुआ प्रपंच के अन्ध-कूप में जा गिरता है—

> जाका गुरु है आंधरा, चेला निपट निरंध।
> अधे अधा ठेलिया, दोऊ कूप परत ॥[2]

संसार में केवल सिर मुँडाने और इधर-उधर फिरने से कोई योगी या सिद्ध नहीं हो जाता। योग और सिद्धि की प्राप्ति गुरु की कृपा में ही निहित है—

> मूँड मुडाये जग फिरे, जोगी होइ न सिद्ध
> जा कहँ गुरु किरपा करहिं, सो पावै नौ निद्ध ॥[3] ——उसमान

वह गुरु मुल्ला या काजी नहीं हो सकता जो नमाज पढ़ाते हैं, मन्त्र दीक्षा देते हैं तथा सदा शरअ (इस्लाम के विधान) का डर दिखाते हैं। बुल्लेशाह का कहना है कि भला हमारे प्रेम को इस शरअ से क्या—

> मुल्ला काजी नमाज पढावन, हुकम सदा दा भय सिखलावन।
> साडे इसक नूं की सरा दे नाल ॥[4]

वह गुरु पंडित होना चाहिए। पंडित से अभिप्राय है जो ज्ञानी हैं और जिस ने तत्त्व को जान लिया है। वह कभी सत्य के विरुद्ध बात नहीं कहता और सदा पथ भ्रष्ट को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहता है—

---

[1] सन्तवानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १५३।
[2] सन्तवानी संग्रह (भाग पहला), पृ० ४।
[3] चित्रावली, पृ० ८६।
[4] सन्तवानी संग्रह (दूसरा भाग), पृ० १६०।

पडित केरि जीभ मुख सूधी। पडित बात न कहै विरुधी।
पडित सुमति देइ पथ लावा। जो कुपथि तेहि पडित न भावा॥[1]

नूरमुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी में सनेह गुरु के मुख से कहलवाया है कि केवल दाढी रखाने, माला फेरने या किसी भेष के धारण करने से तपी या वैरागी नही होता। उसका योग तो तभी पूरा होता है जब मन की माला जपता है और ध्यान में ही स्मरण करता है—

है वैराग पथ अति गाढ़ो। चलि न सकै जिन्ह के मुख दाढ़ी॥
तपी न होहि भेस के किहें। रग दुकूल माला के लिहें॥[2]
मन के माले सुमिरे नेही लोग। ध्यान औ सुमिरन सों, पूरन जोग॥[3]

जब केवल बाह्य आचारों से तपी और वैरागी नही हो सकता तब वह सद्गुरु के उत्तम पद को कैसे पा सकता है? कबीर ने तो बाह्य वेष की बडी निन्दा की है। उनकी दृष्टि में गुरु और गोविन्द (ईश्वर) में कोई अन्तर नहीं है। 'गुरु गोविन्द तो एक है'[4] इस वाक्य में उन्होने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। जायसी ने भी, 'आपुहि गुरु आपु भा चेला'[5] कहकर इसकी पुष्टि की है। वे एक पग आगे और बढ़ गये हैं। उन्होंने शिष्य, सद्गुरु और ईश्वर में कोई भेद नही माना है। यद्यपि यह वाक्य अद्वैत की दृष्टि से है तथापि इसमे गुरु का माहात्म्य तो व्यजित है ही। रत्नसेन के मुख से पद्मावती को गुरु कहलाकर भी यही बात ध्वनित की गई है—

सो पदमावति गुरु हों चेला। जोग तत जेहि कारन खेला॥[6]

उसमान ने भी ईश्वर को ही पथ प्रदर्शक कहा है—

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखावहु पथ।[7]

इस प्रकार सूफियो में गुरु को बडा उच्च स्थान दिया गया है। भूले को मार्ग पर लाने वाला, रहस्यों का उद्घाटन करने वाला तथा ईश्वर से मिलाने वाला गुरु ही है। अत: गुरु ईश्वर से कम नहीं। कबीर ने एक स्थान पर गुरु को ईश्वर से भी बढ़कर कहा है, क्योंकि गुरु ईश्वर का बोध कराने वाला है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली, पदमावत, पृ० ३६।
[2] अनुराग बाँसुरी, पृ० ३२।
[3] वही, पृ० ३३।
[4] कबीर वचनावली, पृष्ठ ३।
[5] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३३४।
[6] वही, पदमावत, पृष्ठ १०५।
[7] चित्रावली, पृष्ठ ४८।

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय ॥[1]

ऐसे सद्गुरु का आश्रय तो साधक के लिए परम आवश्यक है। इस संसार-सागर में सद्गुरु ही हमारा कर्णधार है। यदि हमें इस साधना पथ पर जाना करनी है तो उसके ज्ञान-प्रकाश से ही मार्ग के अन्धकार को हटाना पड़ेगा और तभी हम पार हो सकेंगे—

सुकृत पिरेमहिं हितु करहु, सत बोहित पतवार।
खेवट सतगुरु ज्ञान हैं, उतरि जाव भौ पार ॥[2] दरिया—

यह पहले कहा जा चुका है कि सूफी का चरम लक्ष्य तत्त्व का साक्षात्कार करना है। यह साक्षात्कार ही सूफी के लिए मुख्य प्रमाण है। गुरु अथवा ग्रन्थ ये सब साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। गुरु यदि साक्षात्कार कराने में सफल है तो गुरु मान्य है अन्यथा नहीं। तत्त्व-दर्शन जो सूफी को अपनी आत्मा में सीधा उपलब्ध होता है, उसके लिए ऐसा प्रमाण है जिसके आगे गुरु का प्रमाण भी गौण है। गुरु की उपादेयता ज्ञान-प्राप्ति तक ही सीमित है। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् सब वाह्य प्रमाण जिसमें गुरु भी सम्मिलित है, सूफी की दृष्टि में हेय है। यही कारण है कि इस्लामी शरीअत में सम्मानित पैगम्बर को निर्णय-दिवस का मध्यस्थ मानने के लिए ज्ञाननिष्ठ सूफी कभी उद्यत नहीं।

---

[1] सन्तवानी संग्रह (पहला भाग), पृष्ठ २।

[2] — —ी संग्रह (पहला भाग), पृष्ठ १२१।

त्रयोदश पर्व

प्रेम और विरह

सूफियों की साधना में प्रेम का बड़ा माहात्म्य है। भक्ति में जिस देवविषयक रति का प्रतिपादन हुआ है उसमें श्रद्धा एवं भय की प्रधानता होती है। भारतीय भक्ति-पद्धति में इन तत्त्वों के होते हुए भी प्रेम का अंश विद्यमान था। कृष्ण और गोपियों के अलौकिक प्रेम में हमें इस प्रेम के पूर्ण दर्शन होते हैं। भागवत में चित्रित इस प्रेम का उल्लेख हमने पहले कर दिया है परन्तु हिन्दी में सर्वप्रथम साधना के निमित्त प्रेम को आधार बनाते हुए हम सूफी सन्तों को ही पाते हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी जिन दो प्रकार के साधकों का उल्लेख हुआ है उनमें प्रथम वर्ग के लोगों ने भी प्रेम का महत्त्व दिया ही है। इन सूफियों के लिए यह कोई नया मार्ग न था। परम्परा से ही उन्हें यह प्राप्त हुआ था। फारस आदि देशों में यह मानव-मन में माधुर्य भर ही चुका था और यहाँ भी वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति-परम्परा में प्रेम का उद्भाव चिरकाल से ही था। परन्तु इन्होंने निराकारोपासना में प्रेम की आधार शिला पर साधना का एक ऐसा सुन्दर भवन खड़ा किया और अन्य तत्कालीन परम्पराओं से सामग्री लेकर उसमें ऐसा पुट दिया कि देखते ही बनता है।

फारसी मसनवियों के आधार पर प्रेममार्गी कवियों ने प्रेमाख्यानक काव्य लिखे जिनमें प्रेम-कहानियाँ ही हैं। नायक एक प्रेमी है जो किसी रमणी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो योगी होकर निकल पड़ता है और अनेक कष्टों के उपरान्त अपनी प्रेयसी को प्राप्त करता है। चार प्रकार के प्रेमों में से प्राय चतुर्थ प्रकार से ही प्रेम का आयोजन हम इन कथाओं में पाते हैं। भारतीय संस्कृति में विवाह का बड़ा महत्त्व है। इसे एक धार्मिक क्रिया माना गया है। अपरिचित अवस्था में ही वर-वधू के पाणिग्रहण के उपरान्त उनमें जो प्रेम का उद्भाव होता है और पुनः शनैः शनैः मधुरता को प्राप्त होता है वह उनका पवित्र दाम्पत्य प्रेम कहलाता है। दूसरे प्रकार का प्रेम वह है जो किसी रम्य स्थान पर परिचय से उत्पन्न होता है। इसमें नायिका का सौन्दर्य एवं हाव-भाव तथा समीपस्थ प्रकृति-सौन्दर्य उद्दीपन का कार्य करता है। विवाह इसका परिणाम होता है। विवाह से पूर्व अधिकांशतः नायक और नायिका दोनों ही विरह से तड़पते रहते हैं। इस बीच दूती प्रयोग एवं पत्र प्रेषण भी होता है जो विरह को और जगाकर प्रेम-परिपाक का कारण होता है। कभी-कभी क्षणिक संयोग प्राप्त हो जाता है। तृतीय प्रकार का प्रेम प्राय कामुकता-पूर्ण ही होता है। बहु पत्नियों में प्रेम का जो रूप हो

सकता है वही इस कोटि में आता है । चतुर्थ प्रकार का प्रेम प्राय गले ही पडा करता है। यह चित्र या स्वप्न में दर्शन, गुण-श्रवण अथवा तत्सम्बन्धी किसी सुन्दर वस्तु के दर्शन से हुआ करता है । पद्मावती में गुण-श्रवण, चित्रावली में चित्र-दर्शन एव अनुराग बाँसुरी में मोहनमाला देखकर ही प्रेम का उद्भाव हुआ है । इन्द्रावती में स्वप्न-दर्शन से ही राजकुँवर प्रेमपाश में बँध गया है । मधुमालती में यह प्रेम दर्शन से हुआ है । इस प्रकार हम देखते है कि बहुधा चतुर्थ प्रकार से ही प्रेम की उद्भूति इन काव्यो में हुई है ।

इन काव्यो में प्रमकथाए अवश्य लिखी है परन्तु इनसे ईश्वरीय प्रेम की ही व्यजना की गई है । स्थान-स्थान पर ईश्वरीय सौन्दर्य, शक्ति और वैभव का वर्णन कर सकेतो द्वारा यही प्रदर्शित किया गया है कि सासारिक प्रेम ईश्वरीय प्रेम की एक सीढी है । ईश्वर स्वय प्रेम रूप है अत उसी से निसृत सारी सृष्टि भी प्रेम की प्रतिमूर्ति ही है । सासारिक प्रेम हृदय में निहित मूल प्रम का अभिव्यजक हो जाता है । भला जो प्रेम के रहस्य को नही जानता वह प्रेम-साधना ही क्या करेगा ? इसलिए सूफ़ियो ने इश्के मजाजी (सासारिक प्रेम) को इश्के हक़ीकी (ईश्वरीय प्रेम) का साधक माना है ।

जायसी ने लिखा है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति मुहम्मद रूप ज्योति के प्रीत्यर्थ ही हुई ।[1] उसमान ने सृष्टि में प्रेम को ही आदि तत्व माना है । ईश्वर सौन्दर्य रूप है । वह स्वय अपने सौन्दर्य पर मुग्ध हुआ और स्वय से प्रेम करने लगा । यही प्रेम सृष्टि का कारण हुआ—

आदि प्रेम विधि ने उपराजा । प्रेमहि लागि जगत सब साजा ॥
आपन रूप देखि सुख पावा । अपने हीए प्रेम उपजावा ॥[2]

जहाँ सौन्दर्य है वही प्रेम है । सौन्दर्य और प्रेम मिलकर सुख की सृष्टि करते है । इन्होने ही विरह को जन्म दिया है । सयोग में यही सुख के कारण होते है किन्तु वियोग में दुख के । सयोग सदा नही रहता है, कभी न कभी वियोग का मुख देखना ही पडता है । और जितना अधिक प्रेम होता है वियोग में दुख की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है । जहाँ प्रेम है वहाँ विरह अवश्य है और विरह है तो तपन, तडपन एव विकलन आदि भी है । इन्ही में परम पीड़ा भी है किन्तु वह पीडा बडी मधुर होती है । यही विरह प्रेम के परिपाक का कारण होता है । इसीलिए इसे बडा मूल्य दिया गया है—

---

[1] प्रथम ज्योति विधि ताकर साजी । तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी ॥
—जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ४ ।

[2] चित्रावली, पृष्ठ १३ ।

रूप प्रेम मिलि जो सुख पाया। दुनहूँ मिलि विरहा उपजाया ॥
जहाँ प्रेम तहँ विरहा जानहु। विरह बात जनि लघु करि मानहु ॥[1]

शाह बरकतुल्ला ने भी कहा है कि जहाँ प्रेम है वहाँ वियोग है तथा वियोग के दुःखातिरेक में प्रेम बढ़ता है—

जहाँ प्रीत तहँ विरह है।[2]

जैसइ विरहा कठिन है, तैसइ आइत प्रीत।[3] ये सौन्दर्य, प्रेम और विरह जगत में सृष्टि के मूलाधार हैं—रूप प्रेम विरहा जगत, मूल सृष्टि के खम्म।[4]

इन प्रेमी साधकों को प्रेम भगवान की लीला ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी। इस सृष्टि का मूलाधार प्रेम ही है। सब प्रेम-बन्धन में ही बँधे हैं। ऐसा कौन है जो प्रेम बाण से बिंधा नहीं तथा पागल हुआ घिरनी की भाँति चक्कर नहीं काटता है। आकाश में असंख्य ग्रह और उपग्रह सब उसी की खोज में घूम रहे हैं। पृथ्वी उसी के बाण से विद्ध है। खड़े हुए वृक्ष इसी की साक्षी दे रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी एवं उद्भिज जगत भी प्रेम में लीन तथा विरह से विकल है—

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा? बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोव रोव मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े ॥[5] —जायसी

इसीलिए जायसी ने कहा है कि त्रिभुवन एवं चौदहों खंडों में सर्वत्र मुझे यही सूझ पड़ता है कि प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सुन्दर नहीं है—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि ॥
पेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि ॥[6]

प्रेम दैवी विभूति है अत इसकी साधना बड़ी कठिन है। जिसके हृदय में प्रेम समुद्र लहराता है, वह कभी मरता नहीं है। वह उसकी अगाधता में डुबकियाँ ले लेकर मोती निकाला करता है—

जाना जेहिक प्रेम महँ हीया। मरै न कबहू सो मरजीया ॥[7] —नूरमुहम्मद

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ १३।

[2],[3] शाह बरकतुल्लाज कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (भाग एक), प्रेमप्रकाश, पृष्ठ २०।

[4] चित्रावली, पृष्ठ १४।

[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ४३।

[6] वही, पदमावत पृष्ठ ३६।

[7] इन्द्रावती, पृष्ठ ६।

नूर मुहम्मद ने 'जा मन जमा प्रेम रस, भा दाउ जग को राय'[1] कहकर प्रेमी को दोनो लोकों का राजा बतलाया है। प्रेमोदय में ईश्वरीय गुण का विकास होता है अत उसे ईश्वरत्व एव बन्धन-मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। यही कारण है कि वह स्वामीपद से विभूषित होता है। जायसी भी यही कहते हैं कि प्रेम का खेल कठिन अवश्य है परन्तु जिसने इसे खेला है वह दोनो लोको से पार हो गया है। प्रेम मार्ग पर सिर दिये बिना ससार में जीवन ही निष्फल है—

भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला ॥
जो नहिं सीस प्रेमपथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काहे क आवा ॥[2]

सफियों के प्रेम में रति भाव प्रधान है। प्रियतम के प्रति पूर्ण रति के बिना विविध वेश निष्फल है। यदि रति है तो वन और सदन सब समान हैं। चाहे जहाँ रहकर उसे अपनाइये वह प्रसन्न होगा। कबीर का कहना है कि प्रेम का प्याला पीने पर रोम रोम में उसका उन्माद हो जाता है अत पुन कोई अन्य आचरण अच्छा नही लगता। यही कारण है कि उसके प्रेम में अनन्यता होती है। जब उसका प्रेम परिपूर्ण है तब प्रियतम भी वाह्याचार की अपेक्षा नही करता। वह भी तो केवल भाव का ही भूखा है—

प्रेम भाव इक चाहिये, भेष अनेक बनाय।
भावै घर में वास कर, भावै वन में जाय ॥
कबीर प्याला प्रम का, अतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय ॥[3]

दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति पर सर्व प्रकार का आवरण हट जाता है। तन कुन्दन हो जाता है, मन मँज जाता है हृदय तपकर निर्मल हो जाता है और वह सुरत-निरत हो जाता है—

दादू इसक अलाह का, जे कबहू प्रकटै आइ।
तन मन दिल अरवाह का, सब पड़दा जलि जाय ॥[4]

जो प्रेम के रग में रग जाता है उसकी भूख और नीद नष्ट हो जाती है। उसके पेट की भूख हृदय में आ जाती है। हृदय प्रियतम को समा लेना चाहता है। आँखें भी वियोग-साधना मे योग साधे बैठी रहती हैं। अत पलक तक नही मारती, भला फिर नीद कहाँ? भूख और नीद के अभाव में उसे विश्राम भी नही—

[1] इन्द्रावती, पृष्ठ ६।
[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ४०।
[3] सन्तवानी सग्रह, (पहला भाग), पृष्ठ २०।
[4] वही, (पहला भाग), पृष्ठ ८३।

जेहि के हिये पेम रँग जामा । का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥[1] —जायसी

जब प्रेम का बन्धन ही उसे प्रिय लगता है तब अन्य बन्धन भा भी कैसे सकता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि जगत-बन्धन दुखदायक है और प्रेम-बन्धन ही आनन्दप्रद है—

दूसर बन्ध न भावत, जहाँ प्रेम को बन्द ।
जगत बन्ध दुखदायक, प्रेम बन्द आनन्द ॥[2]

इस प्रेम का मारा केवल प्रियतम को चाहता है। वह भिक्षा चाहता है परन्तु अपने आराध्य की। वह अपने प्रियतम से कुछ न चाहकर उसे ही पाना चाहता है। उसकी तीव्रतम इच्छा यही रहती है कि एक बार मिलन हो जाय। इन्द्रावती में नायक के मुख से केवल इन्द्रावती की प्राप्ति की इच्छा द्वारा कवि ने यही व्यजित किया है—

इन्द्रावती को मिलन है, उत्तम भीख हमार ।
जग में दूसर भीख को, यहौं न चाहनहार ॥[3]

जायसी भी यही कहते हैं कि जब तक प्रिय नहीं मिलता, तब तक प्रेमी प्रेम-पीर से विकल रहता ही है जैसे शुक्ति स्वाति नक्षत्र की बूंद के लिए समुद्र के अथाह जल में साथ साथे पड़ी रहती है—

जब लगि पीउ मिलै नहि, साधु पेम कै पीर ।
जैसे सीप सेवाति कहँ, तपै समुद मँझ नीर ॥[4]

प्रिय की प्राप्ति तक प्रेम का मधुर उन्माद उसके लिए कल्पतरु तथा चिन्तामणि का काम करता है। प्रेम-दग्ध हुआ भी वह छाया और आतप को तुल्य ही समझता है। वह प्रिय मिलन के लिए आकाश और पाताल को एक कर देना चाहता है। पदमावती में रत्नसेन को पदमावती के निमित्त प्रेम-मार्ग पर सप्त पातालो को खोजने तथा सप्त स्वर्गों का आरोहण करने का भी अदम्य साहस करते हुए पाते हैं—

सप्त पतार खोजि कै, काढ़ौं वेद गरथ ।
सात सरग चढ़ि धावौं, पदमावति जेहि पथ ॥[5]

इस अदम्य साहस का यही कारण है कि प्रिय वियोग में प्रेम शरीर को क्षीण अवश्य करता है परन्तु शक्ति को बढ़ाता है। इस मार्ग के यात्री को सम और विषम सब समान हैं। अथाह जलराशि की अगाधता तथा गहन वनों की अगम्यता उसके

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ५८ ।

[2] इन्द्रावती, पृष्ठ ६६ ।

[3] वही, पृष्ठ ७६ ।

[4] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७४ ।

[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६३ ।

मार्ग में तनिक भी बाधा नहीं डालती। उसके लिए कुटिल भी ऋजु हो जाता है—

दधि आरण्य प्रेम मद आगे। सूधो पथ होत अनुरागे ॥[1]

उसमान ने 'प्रेम पहार स्वर्ग ते ऊँचा'[2] कहकर प्रेम का स्वर्ग से भी ऊँचा बतलाया है। जायसी भी 'जहा पम कहु कुसल खमा'[3] इस वाक्य से प्रम की कठिनता ही बतलाते हैं। नूर मुहम्मद ने तो 'कठिन प्रेम का फाद, मुकुत न होई'[4] तथा 'तरफराइ जिमि बन सरजादू। तिमि प्रेमी को है मरजादू'[5] लिखकर प्रेमपाश से मुक्ति असम्भव बतलाई है और कहा है कि प्रेमी विरह में स्थल पर पड़ी मछली की भाँति तड़पता और छटपटाता ही रहता है। परन्तु इस विकलता में भी उसे असीम आनन्द मिलता है। ईश्वर ने मनुष्य को जो हृदय दिया है वह प्रेमोन्माद में अतुल बलशाली हो जाता है। यही कारण है कि वह समस्त प्रेम पीडा को सह लेता है। सूफियों में प्रवाद है कि अल्लाह ने प्रेम की पीर को आकाश को देना चाहा परन्तु उसने इसकी दुष्करता देख लेना स्वीकृत न किया तब उसने मनुष्य को ही इसके योग्य समझकर इसे दिया।[6] जायसी ने लिखा है कि प्रम की चिनगारी से पृथ्वी और आकाश दोनों ही डरते हैं। वह विरही और उसका हृदय धन्य हैं जहाँ यह अग्नि समा जाती है—

मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ' धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ ॥[7]

इस प्रेम की कठिनता तो प्रतीत होती है परन्तु साथ ही इसकी पीर म प्रेमी का जितना रस मिलता है वह इसी से प्रतीत हाता है कि वह कुशल-क्षेम की चाहना तक नहीं करता और सर्वस्व दाव पर लगा देता है। धन विभव, जन-परिजन सभी त्याग कर जगत से विरक्त हो जाता है और केवल प्रेम-संगीत ही चाहता है—

ना चाहत हौं कुसल खेमू। जाइ सो जाइ रहै सँग पेमू ॥[8]

प्रम प्रेमी में रहता है और वह प्रियतम के प्रति होता है अत जहाँ प्रियतम है

---

[1] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ २१।

[2] चित्रावली, पृष्ठ ४०।

[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६३।

[4] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १६।

[5] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १८।

[6] चतुर प्रकास प्रेम कह चीन्हा। यातें ताको भार न लीन्हा ॥

—वही पृष्ठ १८।

[7] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ १८।

[8] इन्द्रावती, पृष्ठ १५६।

वही सुख है। प्रियतम के अभाव में प्रेमी विरही हो जाता है और अनेक कष्टों का अनुभव करता है। परन्तु वह उन्हें अभिशाप नहीं वरदान समझता है और तपने में असीम आनन्द प्राप्त करता है। इसी में उसके प्रेम की सफलता है। दादू का कथन है कि प्रेम ही वह है जिसके परिणामस्वरूप प्रेमी प्रेमी न रहकर प्रेम-पात्र बन जाता है और ऐसे प्रणयपात्र का प्रेमी ईश्वर ही होता है—

> आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
> दादू उस मासूक का, अल्लाहि आसिक होइ ॥[1]

प्रेमी है ही वह जो सर्वत्र प्रेम ही प्रेम देखता है। सब कुछ ईश्वर का ही प्रदर्शन है। ईश्वर प्रेमरूप ही है अत यह सब प्रेम-देव ही की लीला का प्रसार है। इसलिए ईश्वर का प्रेमी सदैव प्रेम-साधना में ही लीन रहता है और अपने प्रियतम की ओर ही बढ़ता रहता है। बुल्लेशाह बढ़ावा देते हुए कहते हैं कि ऐ प्रेमी! तू बढ़े जा और अपने प्रियतम ईश्वर से जा मिल—

> आसिक सोई जेहड़ा इसक कमावे। जित वल प्यारा उत वल जावे ॥
> बुल्लेशाह जा मिल तू अल्लाहे नाल ॥[2]

ईश्वर के इस प्रेमी को अपने प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ न चाहिए। संसार का कोई भी प्रलोभन उसे लुभा नहीं सकता। कनक और कामिनी उसके लिए क्रमश मृत्तिकावत् और मोम की पुतली के समान है। भला उसके प्रियतम में कौनसा वैभव नहीं और कौन कामिनी उससे अधिक सौन्दर्यशालिनी है। वही उसका स्वर्ग है। पदमावती में पार्वती जब अप्सरा के छद्म वेश में रत्नसेन की परीक्षा करने आती है तो वह उपेक्षा भाव से यही कहता है कि यद्यपि तू सुन्दरी है परन्तु मुझे अपने प्रिय के अतिरिक्त अन्य से कोई सम्बन्ध नहीं और न मुझे स्वर्ग की ही चाहना है, क्योंकि वही मेरा स्वर्ग है जिसके निमित्त मैं प्रेम-पथ पर प्राणों को हथेली पर लिये फिरता हूँ—

> भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दूसर सौं भाव न बाता ॥
> हौं कबिलास काह लै करऊँ? सोइ कबिलास लागि जेहि मरऊ ॥[3]

सूफियों में प्रतीकोपासना का बड़ा महत्त्व है। प्रेम भी एक प्रतीक ही है जिसके सहारे प्रियतम ईश्वर की साधना साधी जाती है और जिसका परिणाम प्राय प्रिय-मिलन ही होता है। सूफियों में ईश्वर और जीव की अभिन्नता है। जीव ईश्वर का ही अंश है अत वस्तुत वही प्रेमी है और वही प्रियतम। प्रेमी कवि बरकतुल्ला ने

---

[1] सन्तवानी संग्रह (पहला भाग), पृष्ठ ८३।

[2] वही (दूसरा भाग), पृष्ठ १६०।

[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६१।

कहा है कि वही ईश्वर कहीं प्रेमी और कहीं प्रियतम तथा कहीं स्वय प्रेम है—

कहीं माशूक बर जाना कहीं आशिक़ सिता माना।
कहीं खुद इश्क ठहराना सुनो लोगो सुखा बानी॥[1]

इससे यही सिद्ध होता है कि प्रेमी जीव अपने ही वृहद् रूप से प्रेम करता है। परन्तु प्रेम की उद्भावना स पूर्व अहम्मन्यता एव ममत्व के भाव से यह अपने को भिन्न मानता है। जायसी का कहना है तुम इस 'मै मे' को हटा दो तो तुम्हे ज्ञात होगा कि तुम्हारे भीतर प्रकट और गुप्त रूप से वही रमा हुआ है—

'हौं हौं' करत अडारहु खोई। परगट गुपुत रहा भरि सोई॥[2]

सूफियो की इस प्रेम-साधना में यही विशेषता है कि प्रियतम से अभिन्नता समझकर ही इस मार्ग पर चला जाता है। भिन्नता एकता की साधिका कभी नही हो सकती। बरकतुल्ला ने अपने को खोकर ही अपने को पाना लिखा है। यथा बीज मिट्टी में मिलकर ही रग लाता है उसी प्रकार सर्वत्र जब उसी को देखा जाता है और मन का सयमन कर प्रेम का रहस्य जान लिया जाता है तभी इस साधना की पूर्ति होती है अन्यथा प्रियतम का मिलन एक स्वप्न ही रहता है—

देखो मैं अद्भुत निर्गुण बानी।
आपन खोय आप को पावै, सूझै ग्यान कहानी॥
जैसे बीज खेह में मिल कै, लावत है बहु रग।
त्यौं वही अन्तर आपै देखै, दूजो नाहि प्रसग॥
प्रेम गुहार भली विधि लागी, मन राखे आधीन।
तब बूझै 'पेमी' या भेदहि, नाहि तू तेरह तीन॥[3]

इस अभिन्नता के कारण ही प्रेमी का प्रेम प्रियतम के मन में भी प्रेम की उद्बुद्धि का कारण होता है। पुन प्रियतम भी अपने प्रेमी के लिए तडपने लगता है। पद्मावती काव्य में सुन्दरी पद्मावती भी रत्नसेन के योग से प्रभावित हो स्वय भी वियोग में योग साधती है। रजनी में उसे नीद नहीं आती। शैया पर लेटना भी सह्य नहीं है मानो किसी ने उस पर कपिकच्छुओ का जाल बिछा दिया है। चन्द्र, चन्दन और चीर सभी तो जलाने लगे हैं। प्रचण्ड विरहाग्नि शरीर को दग्ध कर रही है। रात्रि कल्प के समान बडी हो गई है और एक एक पग पहाड हो गया है—

---

[1] शाह बरकतुल्लाज कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (पहला भाग), प्रेमप्रकाश पृष्ठ १३३।

[2] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३२६।

[3] शाह बरकतुल्ल कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (पहला भाग), प्रेमप्रकाश पृष्ठ ६१।

पदमावती तेहि जोग संजोगा । परी पेम बस गहे बियोगा ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा । सेज केंवाच जानु कोइ लावा ॥
दहै चंद औ चन्दन चीरू । दगध करै तन बिरह गँभीरू ॥
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी । तिल तिलभर जुग-जुग जिमि गाढ़ी ॥[1]

इसमें यह व्यंजित होता है कि प्रियतम ईश्वर भी प्रेमी साधक से मिलने के लिए विकल रहता है । आगे यह व्यथा और भी अधिक व्यक्त हुई है । जब पद्मावती कहती है कि कौन सी मोहिनी है जिसके वश तेरी व्यथा मेरे मन में भी उत्पन्न हो गई है जिससे बिना जल के मछली की भाँति मैं तड़पती हूँ और 'पिउ पिउ' रटते तो पपीही हो गई हूँ—

कौन मोहनी कहँ हुत तोही । जो तोहि बिथा सो उपनी मोही ॥
बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ । चातकि भइउँ कहत 'पिउ पिऊ' ॥[2]

पद्मावती काव्य की भाँति अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों में भी नायिका के वियोग-दुःख से यही व्यंजित होता है । इस प्रकार 'दोऊ प्रेम पीर में भूरत'[3] कहकर नूर मुहम्मद ने यही बतलाया है कि केवल प्रेमी ही नहीं वरन् प्रियतम भी दाह दुःख सहता है । जब यह प्रेम दोनों के हृदय में बढ जाता है तो दोनों एक हो जाते हैं । यही कारण है कि विरह प्रेम का पोषक ही होता है परन्तु इसे प्रेमी ही जानता है—

प्रेम बढ़ै जो दुइ मन, दोऊ एकै होय ।
बिछुरे तें बाढ़त अधिक, बूझैं प्रेमी होय ॥[4]

प्रेम की इस एकनिष्ठता और तल्लीनता में दोनों की ऐसी एकरूपता होती है कि परस्पर सुख-दुःख का भान भी होने लगता है । टीस यहाँ उठती है तो वेदना वहाँ होती है, प्रेमी के पग में काँटा चुभता है और प्रियतम को सालता है और प्रिय का छाला फूटकर प्रियतम की आँखों से गिरता है—

जैसे चुभे काँट पग तेरे । सुनि सालै सब हियरे मोरे ॥
औ' छाला जब पायन परा । फूटि पानि मम नैनहु ढरा ॥[5]

इस दिव्य प्रेम का परिणाम बड़ा मधुर होता है । [illegible] कर प्रियतम का साक्षात्कार कर लेता है वह फिर आकर [illegible]

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७२ ।
[2] वही, पदमावत, पृष्ठ १३८ ।
[3] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६७ ।
[4] इन्द्रावती, पृष्ठ १० ।
[5] चित्रावली, पृष्ठ १०१ ।

नहीं है। वह उस उत्तम पद को पा लेता है जहाँ मृत्यु नही तथा सदा सुख का ही वास है—

प्रेम पंथ जो पहुँचे पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥
नेह पाया उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीच, सदा सुख वासू॥[1]

प्रेम के इस महत्त्व को 'प्रेमी' कवि ने 'जिन पायो तिन पेम तें'[2] कहकर सर्वोपरि दर्शाया है। उसमान ने तो ज्ञान, ध्यान, जप, तप, सयम एवं नियम को मध्यम और प्रेम को उत्तम बतलाया है अतः प्रेमी ज्ञानी, ध्यानी, जपी, तपी, संयमी एवं नेमी सभी से बढ़कर है—

ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै, जप तप संजम नेम।
मान सो उत्तम जगत जन, जो प्रति पारै प्रेम॥[3]

इस प्रेम की प्रतीकोपासना मे सुरा शब्द का बड़ा महत्त्व है। सुरा भी एक प्रतीक ही है। प्रेमोन्माद के लिए इसका व्यवहार होता है। इन सूफियों ने अधिक तो नही पर जहाँ यहाँ इसका उल्लेख किया ही है। यथा सुरा-पान करने से मनुष्य उन्माद में सब कुछ भूल जाता है उसी प्रकार प्रेम-सुरा पीने पर उसकी बाह्य चेतना नष्ट हो जाती है और उसे केवल उसके ध्यान के अतिरिक्त और किसी का ध्यान नही रहता जिसने उसे पागल बना दिया है। जायसी का कथन है कि प्रेम-मदिरा का पान कर लेने पर जीने-मरने का भय दूर हो जाता है—

सुनु, धनि! प्रेम सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए॥[4]

उसमान ने तो चित्र-दर्शन से ही प्रेमोदय हो जाने पर चित्रावली के प्रेम-मद-पान का वर्णन किया है, जिसके उन्माद में वह उन्मादिनी बनी हुई है—

चित्र प्रेम चित्रावली होयँ। माती रहै प्रेम मद पीयें॥[5]

प्रेमी साहसी हो जाता है तथा शक्ति क्षीण होने पर भी अति साहसिक कार्य करता है उसका कारण ही यह है कि प्रेम-सुरा के पीने पर उसके मन में कोई डर नही रहता। इसके विना हृदय से भय जाता ही नही है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६२।

[2] शाह बरकतुल्लाह कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश पृष्ठ ६०।

[3] चित्रावली, पृष्ठ २३६।

[4] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ १४१।

[5] चित्रावली, पृष्ठ ५१।

बिना कदम्बरि के पियें, त्रास न मन सों जात।[1]

सुरा के साथ सूफियों में साकी का भी बड़ा महत्त्व है। यह प्रणय-मदिरा पिलाने वाला होता है। नूर मुहम्मद ने लिखा है कि मदिरा की स्मृति मात्र से ही 'साकी' का ध्यान आ जाता है और उसका साक्षात्कार उसी रमणी के रूप में होता है जिसके चन्द्र-वदन पर मन चकोर बना हुआ है—

जाइ ध्यान वारुनि सो, रामा ओर।
ता मन का ससि कारन, भएउ चकोर॥[2]

सूफियों का साकी प्रणय पात्र ही होता है अत उसके नेत्र भी मदिरा ही ढालते हैं। वे अपने साकी से केवल एक मदभरा प्याला चाहते हैं और उसके मूल्य में मन को दे डालते हैं—

अरे अरे कलवार प्यारे। मदिरा ढारें नैन तुम्हारे॥
एक पियाला भर मद दीजै। मोल पियारे मानस लीजै॥[3]

इस प्रकार इस प्रेम की साधना में सुरा, प्रेम-मद एव साकी स्वय प्रियतम ही होता है। प्रियतम की चाहना ही प्रेमी को विक्षिप्त सा बना देती है, यही प्रेमी की विरहावस्था कहलाती है। सूफियों में प्राय प्रेम की उद्भावना नायिका की ओर से ही होती है। पद्मावती आदि सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में भी नायिका के प्रत्यक्ष या परोक्ष दर्शन, चित्रदर्शन एव गुणश्रवण से ही नायक के हृदय में रति की अभिव्यक्ति हुई है। अत मिलन से पूर्व हम नायक को विरह के अनेक अनुभावों और सचारी भावों का अनुभव करते हुए पाते हैं। पुन नायक के दर्शन अथवा गुणश्रवण से नायिका भी विकल हो जाती है और विरहाग्नि में जलने लगती है। इस प्रकार प्रेमी और प्रियतम दोनों ही तपते हैं और अन्त में कुन्दन के समान खरे उतरने पर सयोग प्राप्त करते हैं।

इन सूफियों ने विरह का बड़ा वर्णन किया है। प्रेम-पीर के जगाने से ही प्रियतम सुलभ हो जाता है ऐसी इनकी धारणा है। इसीलिए प्रिय के वियोग में जलना, कलपना, झूरना, विसूरना तथा जपना और नि सग होना आदि व्यापारों से ये प्रेम की पीर जगाते रहते हैं। ईश्वर ही इनका सबसे बड़ा प्रियतम है। उसके वियोग में साधक का समस्त शरीर जलने लगता है। पद्मावती में योगी रत्नसेन की कथा सब विरहाग्नि से जल रही है—

---

[1] इन्द्रावती, पृष्ठ ३८।
[2] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ८०।
[3] इन्द्रावती, पृष्ठ ७८।

कंथा जरै, श्रादि जनु लाई। विरह धँधार जरत न बुझाई ॥[1]

अनुराग बाँसुरी में भी अन्तःकरण वियोग के कारण दुर्बल और पीला हो गया है—

अन्तःकरन प्रेम की बाधा। गौर बदन भा दुरबल आधा ॥[2]

अपने प्रिय के दर्शनार्थ मन विकल रहता है। शरीर का प्रत्येक अंग प्रिय के दर्शन पाना चाहता है इसलिए उसका रोम-रोम नेत्र बना हुआ है। यही कारण है कि प्रेमी को न रात्रि में नींद आती है और न दिन में चैन पड़ता है—

दरसन देखें कारनहि, रोम रोम भये नैन।
नींद न आवत निसि कहूँ, बासर परत न चैन ॥[3]

जायसी ने विरहाग्नि को सामान्य अग्नि से कहीं प्रचंड माना है। विरही सम्मुख होकर इसमें जलता है परन्तु कभी पीठ नहीं देता। संसार में असि-धारा की प्रखरता प्रसिद्ध है परन्तु विरह की ज्वाला उससे भी विषम है। फिर भी वह शरीर को भट्ठी बनाकर अपनी अस्थियों को ईंधन बना स्वयं ही जलाता रहता है—

जहाँ सो विरह आगि कहँ डीठी। सौंह जरै, फिरि देह न पीठी ॥
जग महँ कठिन खड़ग कै धारा। तेहि तें अधिक विरह कै झारा ॥[4]
विरह के दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराय दीन्ह सब काठी ॥[5]

विरह में प्रायः अश्रुधारा बहा करती है। सम्भवतः इसलिए कि विरह-शलाका कलेजे में छेद कर देती है जिससे वही आँखों की राह चू चूकर निकला करता है—

विरह सराग करेज पिरोवा। चुइ चुइ परै नैन जो रोवा ॥[6]

विरहाग्नि जब शरीर में बलती है तो शरीर दग्ध होने लगता है। यह शरीर में वल्लूत वृक्ष के काष्ठ के समान सुलगती है किन्तु धुआँ नहीं देती—

विरह अगिन उर महँ बरै, एहि तन जानै सोइ।
सुलगै काठ बिलूत ज्यों, धुआँ न परगट होइ ॥[7] —उसमान

इस विरह में उन्मादवश कभी रोना आता है, कभी हँसी और कभी अश्रुपात ही होने लगता है। हृदय इठ इठ और मिड मिड कर रह जाता है परन्तु फिर भी मृत्यु नहीं आती इसका कारण यही है कि प्रिय का ध्यान-तन्तु उसे बाँधकर रखता है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७२।
[2] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १९।
[3] इन्द्रावती, पृष्ठ, ४४।
[4, 5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६५।
[6] चित्रावली, पृष्ठ ६५।
[7] वही, पृष्ठ १६३।

उन्माद सों रोवइ हँसई । आँसू परतो मोतो झरई ।
जियन रहइ ध्यान के याहीं । ना तौ होत मरन पल माहीं ॥[1]

इस विरह की व्यापकता का जैसा वर्णन इन सूफी कवियों ने किया है वैसा अन्य किसी ने नहीं। प्रेमी के साथ प्रियतम भी विकल रहता है, वह भी तड़पता है, यह पहले कहा जा चुका है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए विकल है उसी प्रकार परमात्मा भी जीव से मिलने के लिए उत्सुक है। भारतीय परम्परा के अनुसार भी यदि गोपियाँ कृष्ण से मिलने के लिए उत्कंठित है तो कृष्ण भी गोपियों से मिलने के लिए परम उत्सुक है। प्रेमाख्यानक काव्यों में सभी नायिकाएँ विरह से विकल हैं तथा उन्हें संयोग होने पर ही सुख मिला है। नागमती, कँवलावती आदि के विरह-वर्णन से यही ज्ञात होता है कि सारा संसार ही प्रपंच समेत विरह से व्याकुल हो रहा है। नायक, नायिका एवं उपनायिकाओं का विरह एकत्व की ही सूचना देता है। एक ईश्वर के प्रेम में ही समस्त संसार विरही हुआ दुखी हो रहा है। जायसी का कहना है कि विरहाग्नि से सूर्य दिन और रात तपता है तथा कम्पित-सा दिखाई देता है। क्षण में स्वर्ग और क्षण में पाताल को जाता है परन्तु तनिक भी चैन नहीं पाता—

विरह के आगि सूर जरि काँपा । रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ॥
खिनहि सरग खिन जाइ पतारा । थिर न रहै एहि आगि अपारा ॥[2]

जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है इसलिए वह सदैव अपने मूल से मिलने के लिए तड़पता रहता है। यह विरह उसकी साधना में बड़ी सहायता देता है। यह प्रेम की पीर को जगा देता है और पीर आत्म-चैतन्य को जगाती है। जीव के सजग हो जाने पर सुरति जग जाती है जिससे 'पिउ पिउ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता—

बिरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव ।
जीव जगावै सुरति कौं, पंच पुकारैं पीव ॥[3] —दादू

विरह के पश्चात् मिलन का जो परम सुख होता है, इसको प्रेमी ही जानता है। दुःख के काले बादल हट जाते हैं और सुख का तारा उदित हो जाता है—

बिछुरंता जब भेंटे, सो जानै जेहि नेह ।
सुक्ख सुहेला उग्गवै, दुःख झरै जिमि मेह ॥[4]

---

[1] इन्द्रावती, पृष्ठ १४६ ।
[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७८ ।
[3] सन्तबानी संग्रह (भाग पहला) पृष्ठ ८२ ।
[4] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७६ ।

निष्कर्ष यह है कि सांसारिक दुखों को मिटाने का एकमात्र उपाय सूफीमत के अनुसार ईश्वरी प्रेम की भावना है। ईश्वरीय प्रेम के माधुर्य में ही जीवन की कटुता विलीन हो सकती है, यह सूफी सिद्धान्त की लौकिक उपयोगिता है। इस प्रकार लोक तथा अध्यात्म दोनों का समन्वय इस मत में प्राप्त होता है।

चतुर्दश पर्व

भारतीय सूफी-साधना

सूफियों में साधना का विशेष महत्त्व है, क्योंकि साधना का ही फल प्रिय-मिलन है। यह पहले कहा जा चुका है कि सूफीमत में ब्रह्म की एकता मान्य है अपरञ्च सत्ता ईश्वरीय सत्ता का प्रतिबिम्ब है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह संसार नश्वर है। परन्तु यह परम प्रलोभक है अतः इसने मानव-हृदय को अपने माया जाल में फँसा लिया है। हृदय-दर्पण में सांसारिक प्रपंच की छाया प्रतिबिम्बित होती है अतः यह प्रायः मलिन रहा करता है। इसीलिए जीवात्मा संसार से अपने को अभिन्न समझा करता है और ईश्वर का स्मरण कदाचित् ही करता है। कभी सुबुद्धि इसे मार्ग पर लाती भी है तो विपक्ष-प्रवृत्तियाँ पुनः कुमार्ग पर ले जाती हैं। किन्तु किसी पथ-प्रदर्शक की कृपा से जब ज्ञान के प्रकाश द्वारा हृदय निर्मल हो जाता है तब जीव को पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान होता है और हृदय (कल्ब) को अपने जीवन-स्रोत से पुनः मिलने के लिए तड़पन होने लगती है। इसी का नाम प्रेम-पीर है। सूफी इसी पीर को जगाते हैं और धीरे धीरे अनेक साधनों द्वारा अनेक स्थितियों को पार करते हुए अपने प्रियतम का साक्षात्कार करते हैं। अपने प्रियतम से मिलना ही उनकी सिद्धि है। यही इनका स्वर्ग और यही मुक्ति है।

ऐसे प्रिय मिलन के लिए सांसारिकता का त्याग अनिवार्य है। शाह बरकतुल्ला "तजो कुटुम को हेत हित, करता प्रेम की हान"[1] से यही कह रहे हैं कि सांसारिक सम्बन्ध हेय हैं, क्योंकि यह परम प्रेम की हानि करता है। यदि संसार से प्रेम है तो ईश्वर से नहीं हो सकता। मन का प्रवाह एक ही ओर जा सकता है। संसार ईश्वर का अचिन् पक्ष है। चेतन जीवात्मा को अचेतन जगत् से क्या सम्बन्ध? यह संसार तो नश्वर है। नश्वर जगत् को छोड़ शाश्वत ब्रह्म से ही नाता जोड़ना है।

संसार में सभी कुछ नश्वर है। जो भी दृश्यमान है उसका विनाश अवश्य है। संसार का अर्थ ही संसरण है अतः परिवर्तनशीलता ही इसका सच्चा स्वरूप है। उसमान ने इसे जल प्रवाह के समान कहा है, जिसमें आने वाली कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती।

यह जग रूप पानी कर धावा। जो कछु गा सो बहुरि न आवा ॥[2]

---

[1] शाह बरकतुल्लाह कॉण्ट्रिब्यूशन टु हिन्दी लिट्रेचर (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश पृ० ७४।

[2] चित्रावली, पृ० १५।

इसीलिए इस भौतिक जीवन का भी क्या भरोसा ? जायसी का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त सुख की सामग्रियाँ जगते ही मृगमरीचिका हो जाती है उसी प्रकार जीवन का सम्पूर्ण विलास एक आधे पल में ही विनष्ट हो जाता है—

एहि जीवन के आस का जस सपना पल आधु ।[1]

जब संसार नश्वर है तथा जीवन भी निस्सार है तब यह सारा प्रपंच झूठा है, निस्सार है। निस्सार होते हुए भी जगज्जाल बड़ा लुभावना है। जायसी ने नागमती के मुख से "बोलहु सुआ पियारे नाहा। मोरे रूप कोइ जग माहा"[2] कहलाकर यही ध्वनित किया है कि प्रपंच का आकर्षण ससार मे सर्वोपरि है। इसीलिए असत्य होते हुए भी मन इसमें भूला हुआ है—

एहि झूठी माया मन भूला ।[3]

इस असार संसार का रस भी इतना मृदु है यह एक आश्चर्य की बात है। जीवात्मा इसमें क्यों भूला हुआ है इसका उत्तर नूरमुहम्मद ने यही दिया है कि ससार रस का पायी आगम रस को नही पाता है अत. उसकी अन्तर्दृष्टि जागरूक नही होती तथा परमरस का पान तो वही कर सकता है जिसकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है—

जगरस बीच परा जो कोई । आगम रस नहिं पावहि सोई ॥
रस पावै जो जेहि करतारा । दया दिष्ट सों हिया उघारा ॥[4]

हृदय की दृष्टि का खुलना बड़ा कठिन है। सभी अध्यात्मवादियों की भाँति इन सूफियों ने भी मन को दुर्दम्य बतलाया है। जायसी ने "यह मन कठिन मरै नाहिं मारा"[5] लिखकर मन की वश्यता को दुष्कर ही कहा है। नूरमुहम्मद भी "मन न मरै वह पारा मरही,"[6] इस वाक्य से यही कह रहे हैं। भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए "असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलं"[7] इस वाक्य से यही कहा था कि मन बड़ी कठिनता से वशीभूत होता है। परन्तु यह निश्चित है कि अन्तर्दृष्टि के खुलने पर ही विश्वात्मा से परिचय प्राप्त होता है—

"होइ दिष्टि में सिव परकासू । सिध मेरु धरती कैलासू ॥"

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ६२।
[2] वही, पदमावत, पृ० ३४।
[3] वही, पदमावत, पृ० ३७।
[4] इन्द्रावती, पृ० १००।
[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २७।
[6] इन्द्रावती, पृ० ५२।
[7] गीता, अ० ६, श्लोक ३५।
[8] अनुराग बाँसुरी, पृ० ८।

यह अन्तर्दृष्टि तन-मन को वश करने पर ही खुलती है। उसमान ने कहा है कि 'तन सों भोग जोग मन नेती।'[1] वास्तव में शरीर भोगों का साधन है अतः मनोनिग्रह से पूर्व संयमन परम आवश्यक है। बुल्लेशाह तन और मन दोनों के दमन के लिए कहते हैं कि शरीर को भट्ठी बनाओ और उसमें ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करो तथा अस्थियों का ईंधन बनाकर उसमें योग दो तब उस पर अमृत-सुरा का निर्माण हो सकेगा—

बुल्ले इस तन को तू भाठी कर। चाल हड्डा नूं काठी कर॥
ज्ञान अगन सों तातो कर। फिर तिस पर मधुआ वाजोदा॥[2]

यहाँ पर भट्ठी से तात्पर्य शरीर-संयमन के लिए योग-साधन ही ज्ञान होना है क्यो अस्थियों के दाह से प्राप्त क्षीणता योग-साधनों से ही आती है।

साधना में शरीर-संयमन के साथ मनोनिग्रह का बड़ा महत्त्व है इसका कारण यही है कि मन ही आत्म-तत्त्व के परिचय में प्रधान कारण है। जायसी ने लिखा है कि हृदय-कमल के पुष्प के समान है और जीव उसमें सुगन्धिवत् रहा हुआ है। अतः शरीर का ध्यान छोड़ मन में ही भूले रहना चाहिए तभी परम तत्त्व की पहचान होती है—

हिया कवँल जल फूल, जिउ तेहि महँ जस बासना।
तन तजि मन मह भूल, मुहमद तब पहचानिए॥[3]

मनोनिग्रह के लिए बुल्लेशाह ने मन को मूंज के पूले के समान एकान्त में बैठकर कूटना कहा है—

बुल्ला मन मँजोला मुंजदा, किते गोशे बहि के कुट।[4]

मन के कूटने से उसके काम, क्रोध और मद आदि विकार दूर हो जाते हैं और इन विकारों के अभाव में ही सारमन ईश्वर का स्मरण हो सकता है। इसीलिए दादू दयाल अपने मन को विकारों का छोड़कर ही स्मरण की शिक्षा देते हैं—

जियरा मेरे सुमिर सार, काम क्रोध मद तजि विकारा॥[5]

जब तक विकारों का मैल न हटेगा तब तक बाह्य शुद्धि या बाह्याचार कुछ भी काम न आवेंगे अतः मन की एकाग्रता द्वारा सुरति-सदन में ही उसका मार्ग खोजना चाहिए—

---

[1] चित्रावली, पृ० १६।
[2] सन्तबानी संग्रह (दूसरा भाग), पृ० १८६।
[3] जायसी ग्रन्थावली—मसलाउद, पृ० ३२५।
[4] सन्तबानी संग्रह (पहला भाग), पृ० १५२।
[5] वही, (दूसरा भाग), पृ० ८६

भीतरमें लि घहल कै लागी, ऊपर तन का धोवैं हैं।
प्रविगति सुरति महल के भीतर, वाका पंथ न जोयें हैं ॥[1]

—दरिया साहब

उपरिलिखित सम्पूर्ण विवेचन का सार हम बुल्लासाहिब के शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं कि संसार ग्रसार है ग्रतः इसमें ग्राने पर जागरूक हो जाना चाहिए ग्रौर सर्वस्व का त्यागन कर एवं शरीर का सयमन कर मन को राम-नाम में ही पगा देना चाहिए।

जग ग्राये जग जागिये, पगिये हरि का नाम।
बुल्ला कहैं विचारि कै, छोड़ि देहु तन धाम ॥[2]

सूफियों की साधना को हम प्रेम-साधना कहें तो उचित होगा। संसार से मन हटाकर ग्रपने प्रियतम का योग साधना परम ग्रावश्यक है। जो योगी है उसे संसार की विषय वासनाग्रो से क्या ? इसीलिए जायसी ने "जोगिहि कहा भोग सों काजू"[3] कहकर योगी को धन-धाम तथा राज-काज से दूर रहने का उपदेश दिया है। योगी को तो वही चाहिए, जिसके वियोग में उसने योग साधा है। उसमान ने सच्चा योगी उसे ही कहा है जो दर्शनों का ग्रभिलाषी है—

जोगी सोइ दरस कर राता।[4]

वियोगी योगी जिस प्रेम मार्ग पर चलता है वह बडा कठिन है। शाह बरकतुल्ला 'पथ मीत को कठिन है'[5] इस वाक्य से प्रेम-पथ की कठिनता ही बतलाते हैं। इस मार्ग के यात्री को योगागो द्वारा शरीर को साधना पड़ता है। पुनः प्रियतम तक पहुँचने के लिए मार्ग में ग्रनेक स्थितियो के पार करने में विविध बाधाग्रो का सामना करना पडता है। काम, क्रोध, मद, लोभ ग्रौर मोह रूप दुर्वासनाग्रो को परास्त करने के पश्चात् ही वह उस भवन का द्वार खोलने में समर्थ होता है जहाँ ग्रनन्त प्रकाश के रूप में उसका इष्ट उस से मिलने के लिए उद्यत रहता है। सभी सूफियो ने इस मार्ग की दुर्गमता को बडे भयावह शब्दो में चित्रित किया है। जायसी ने उस मार्ग को बड़ा विषय बतलाते हुए सुई के नाके के समान लघु कहा है जिस पर यात्री को चलना

---

[1] संतवानी सग्रह (पहला भाग), पृ० १५२।
[2] वही (पहला भाग), पृष्ठ १४०।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ५५।
[4] चित्रावली, पृ० ८६।
[5] शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन ट-हिन्दी लिट्रेचर, (प्रथम भाग) प्रेम-प्रकाश, पृ० २५।

पड़ता है। उस पर भी चढ़ाव कुटिल है तथा सात खंड चढ़ने पड़ते हैं। ये खंड शरीर में मूलाधार आदि चक्र ही हैं। इन खंडों के चढ़ने में प्रत्याहार, ध्यान और समाधि इन योग के चार अंगों द्वारा अथवा शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त इन साधक की चार अवस्थाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है, तभी लक्ष्य तक पहुँच पाता है—

पै सुठि अगम पंथ बड़ बांका। तस मारग जस सुई क नाका॥
बाँक चढ़ाव, सात खंड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा॥[1]

पद्मावती में सिंहल द्वीप का कैलाश बतलाकर मार्ग में क्षार, क्षीर आदि सप्त समुद्रों की जो विषमता बतलाई है उस से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने में शरीरस्थ सप्त खंडों की विषमता ही व्यंजित होती है—

खार, खीर, दधि, जल उदधि, सुर, किलकिला अकूत।
को चढ़ि नाँघै समुद ए, है काकर अस बूत॥[2]

इन सप्त समुद्रों के पार किसी धर्मी, कर्मी, तपी तथा नेमी का ही पोत जाता है और तभी उसे शिव की प्राप्ति होती है—

दस महँ एक जाइ कोइ करम, धरम, तप, नेम।
बोहित पार होइ जब तबहि कुसल औ' खेम॥[3]—जायसी

चित्रावली में मार्ग की कठिनता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह पथ बड़ा ही दुर्गम है, इसे खेल के समान सुगम नहीं समझना चाहिए। इस पर वही चल सकता है जिसका कलेजा लोहे का है। जो निसि-बासर सुप्त पड़ा रहता है और आधे पल के लिए भी जाकर अपने को नहीं सँभालता वह भला इस साधना का क्या ले सकता है—

कहेसि कुँअर यह पंथ दुहेला। अस जनि जानु हँसी औ' खेला॥[4]
जाइ सोई जो जिउ परतेजा। मार पासुनी लोह करेजा॥[5]
निसि बासर सोवहि परा, जागेसि नहिं पल आध।
घर न सँभारसि आपना, का लेबे एहि साध॥[6]

इसमें भी साधना-मार्ग का काठिन्य ही व्यंजित है। इस मार्ग पर उसमान ने भोगपुर, गोरखपुर, नेहनगर और रूपनगर इन चार नगरों की स्थिति बतलाई है। जब यात्री रूपनगर के लिए प्रस्थान करता है तो भोगपुर में इन्द्रियविषय उसे अपनी ओर खींचते हैं परन्तु वह उनमें अनुरक्त न होता हुआ तथा काम क्रोधादि पर विजय पाता हुआ

[1] जायसी ग्रन्थावली—प्रेमखण्ड, पृ० ३१५।
[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ५६।
[3] वही पदमावत, पृ० ६३।
[4, 5, 6] चित्रावली, पृ० ७२।

आगे बढ़ता है। पुनः गोरखपुर पहुँचने ही योग को साधता है और गुरु की सहायता से अन्तर्दृष्टि द्वारा देखता हुआ नेहनगर की ओर चलता है। यहाँ प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है और अब उसे वाह्य वेष-भूषा का तनिक भी ध्यान नही रहता। इसके उपरान्त वह रूपनगर में पहुँचता है। यही उसका चरम लक्ष्य है। इन चारो नगरों मे चार स्थितियाँ ही सूचित होती हैं। आगे कवि ने 'यह सो पथ खरग की धारा। सहस माह कोउ गवनै पारा'[1] कहकर इस पथ को असिधारा बतलाया है। कबीर भी 'कबीर मारिग कठिन है'[2] इस वाक्य से मार्ग को कठिन ही बतला रहे हैं। इस मार्ग की दुर्गमता पर विजय पाना किसी-किसी का ही काम है और वह भी उसका जिसे पथ-प्रदर्शन मिल गया है। नूर मुहम्मद ने परिपाटी के अनुसार अगम पंथ में सात गहन वन और अथाह समुद्रों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि इस मार्ग में नेता के बिना निर्वाह नहीं होता—

अगम पंथ मों सात वन, और समुद्र अथाह।
होत न कैसेहु मग मों, अगुवा बिना निबाह ॥[3]

मार्ग को सुगम बनाने के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। सन्मार्ग को प्रकाशित कर वही आगे बढ़ता है। शरीर एवं मन का निग्रह सद्गुरु के मार्ग-प्रदर्शन के बिना नहीं हो सकता। वास्तविकताओं का उद्घाटयिता भी वही है। उसके बिना सत्यासत्य का विवेक नही होता, अत ज्ञान की ज्योति को जगाने वाला भी वही है। इस प्रकार शरीअत के पश्चात् तरीकत, हकीकत, और मारिफत स्थितियों की प्राप्ति में प्रायः सहायक गुरु ही होता है। जायसी ने अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए परोक्षतः यही बात कही है—

कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
तेहि के नाव चढा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई ॥
जेहि के ऐसन सेवक भला। जाइ उतारि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुडुकी ॥[4]

ज्ञान का प्रकाश जब तक हृदय मे न होगा उसे कुछ न सूझ पडेगा। जायसी ने 'तेहि का बुधि जेहि हिये न नैना।'[5] इस वचन से ज्ञान को हृदय के नेत्र ही कहा

---

[1] चित्रावली, पृ० ८४।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१।
[3] इन्द्रावती, पृ० १४।
[4] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३२१।
[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २१।

है। ज्ञान की स्थिति में ही हृदय स्वच्छ होता है और फिर उसमें ईश्वर का निर्मल रूप निहारा जा सकता है—

ग्यान अन्त घट माहँ थिराई। निरमल रूप निहारहु जाई ॥[1]

सूफियों में ज्ञान का बड़ा मूल्य है। ईश्वर, जीव और जगत् का वास्तविक स्वरूप इसी से जाना जाता है। जायसी ने 'ज्ञान सो जो परमारथ बूझा'[2] कहकर ज्ञान का लक्षण यह बतलाया है कि जिससे परमार्थ का बोध हो। साथ ही 'दिस्टि सो धरम पथ जेहि सूझा'[3] से उन्होंने दृष्टि को धर्म मार्ग की प्रकाशिका कहा है। इस प्रकार ज्ञान और दृष्टि में साम्य बतलाकर परोक्षत बुद्धि से भेद बतलाया गया है। वास्तव में बुद्धि इस मार्ग में प्रेरिका हो सकती है, पथ प्रदर्शिका नहीं। ज्ञान की स्थिति में बुद्धि को विलीन हो रहना चाहिए क्योंकि उस समय बुद्धि जो कुछ करती है वह ज्ञान के प्रकाश में ही करती है। इसीलिए ज्ञानोद्भास में प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और चिन्तनशीलता आ जाती है। नूर मुहम्मद ने ज्ञान की स्थिति का संसार से विमुख नयन रखना कहा है—

आँधे नैने सो राखे, ज्ञान भरा जो कोइ ॥[4]

चिन्तन में इष्ट का ध्यान होता है। इसके लिए निजत्व का त्याग करना अनिवार्य है। पद्मावती अपनी प्राप्ति के विषय में कहती है कि मैं सप्त स्वर्गों के शिखर पर रहने वाली रानी हूँ। मुझे वही पा सकेगा जो प्रथम निजत्व का नाश कर देगा—

हौं रानी पदमावती, सात सरग पर बास।

हाथ चढ़ौं मैं तेहिके, प्रथम करै अपनास ॥[5]

नूर मुहम्मद भी अनुराग बाँसुरी में सर्वमंगला की प्राप्ति के लिए यही कहते हैं कि जब तक कोई अपनत्व को नहीं भूला है तब तक उसका दर्शन नहीं पा सकता। जो निज को भुलाकर ध्यान लगावे, तपस्या करे, अभिमान का त्याग कर हृदय में आराधना करे तथा एकाकी रहकर प्रेम-गुरु से शिक्षा लेता हुआ अन्तःकरण को निर्मल बनाये वही प्रकाश रूप में उसे पा सकता है—

जब लगि है आपा महँ कोई। तब लगि ताको दरस न होई ॥

ध्यान लगावै करै तपस्या। तजै दर्प, चित देइ नमस्या ॥

---

[1] चित्रावली, पृ० ६४।

[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत पृ० १६६।

[3] वही, पदमावत, पृ० १६६।

[4] इन्द्रावती, पृ० १२५।

[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० २००।

ध्यान दिएं नित्त रहं अकेला। हाइ सनेह गुरु का चेला॥
अन्त.करन करै निरमला। उबै तब रवि सोरह कला॥[1]

इससे हमें ज्ञात होता है कि ध्यान के लिए एकरूपता आवश्यक है और वह निजत्व के खोने पर ही आती है। सूफियों के यहाँ ध्यान की पूर्व अवस्था में जाप एवं स्मरण का बड़ा महत्त्व है। जाप को ही वे जिक्र कहते है। जिक्र में 'ला इलाह इल्लिल्लाह' इस मंत्र का विविध प्रकार से जाप होता है। नूर मुहम्मद कहते है कि जब तक प्रेम व्याप्त नहीं होता, तभी तक अज्ञान-निद्रा व्याप्त रहती है किन्तु प्रेमवश जब जाप होना है तो यह निद्रा भाग जाती है—

जब लगि प्रेम न व्यापै, तब लगि स्वाप।
स्वाप जात जब आवत, पाढ़त जाप॥[2]

इसी जाप की लीनावस्था स्मरण कहलाती है। कबीर ने इस स्मरण को 'कह कबीर सुमिरन किये, साईं माहि समाय'[3]—इस वाक्य से ईश्वरीय मिलन का साधन कहा है। नाम-स्मरण की यथार्थ अवस्था तभी समझनी चाहिए जब तन-मन में एकलीनता हो जाती है तथा आदि, मध्य एव अवसान मे कभी भी विस्मृति नहीं होती—

नाँव लिया तब जाणिये, जे तन मन रहै समाइ।
आदि अन्त मध एक रस, कबहूँ भूलि न जाइ॥[4] —दादूदयाल

स्मरण में एकरस रहना ही श्रेयस्कर है। दरिया साहिब ने प्रेमपूर्वक चित्त की एकाग्रता के बिना स्मरण को निष्फल कहा है—

सुमिरहु सत्त नाम गति, प्रेम प्रीति चित लाय।
बिना नाम नहि बाचि हो, बिर्था जनम गवाय॥[5]

जब ईश्वर और जीव अभिन्न ही है तब जीव को ससार से पृथक् अपने आप को पहिचानना ही आवश्यक है। वह स्वत रह रहकर स्मरण करता है। यही स्मरण उसे एक दिन प्रियतम के प्रेम में इतना लीन कर देता है कि एकरूपता आ जाती है और उससे मिलन का कारण हो जाता है। इसीलिए नूरमुहम्मद 'सुमिरहु ताहि विसारहु नाहीं',[6] इस वचन से अविराम स्मरण का सदुपदेश दे रहे हैं।

यह कहा जा चुका है कि स्मरण ध्यान का ही अंग है। ध्यान में ही स्मरण

---

1 अनुराग बाँसुरी, पृ० १४।
2 अनुराग बाँसुरी, पृ० २२।
3 सन्तवानी सग्रह, (पहला भाग), पृ० ६।
4 वही, (पहला भाग), पृ० ७९।
5 सन्तवानी सग्रह, (पहला भाग) पृ० १२२।
6 इन्द्रावती, पृ० १०८।

करते हुए एकरूपता आती है। प्रियतम से इस एकरूपता में प्रेम-तन्तु ही प्रधान है। इसी प्रेम-तन्तु में बँधे हुए ध्यान करना ही सुरत कहलाता है। इसके लिए उसी प्रकार एकाग्रता की आवश्यकता है जिस प्रकार शर साधे एक अहेरी अपने अहेर पर एकटक ध्यान लगाये रहता है। उसमान ने कहा है कि जब तक ध्यान न किया जायगा तब तक दर्शनों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए हमें दूर नहीं जाना है। इस हृदय में ही उस परम रूप का प्रतिबिम्ब पड रहा है। वास्तव में उसके बिना तो जीवन ही नहीं। हम भी तो वही हैं अत गुरु-वचन रूप अजन को नेत्रों में साल लो, हृदय-दर्पण को माँज डालो और जगत्प्रपच को जलादो तभी हृदय में पड़ते हुए उस परमरूप के प्रतिबिम्ब को तुम देख सकते हो—

जौलौं ध्यान धरै नहिं कोई। तौलौं दरस न प्रापत होई।
घट में परम रूप परछाहीं। जा बिनु जग महँ जीवन नाहीं॥
गुरू बचन धयु अजन देहु। हिया मुकुर मंजन करि लेहु।
माया जारि भसम के डारो। परम रूप प्रतिबिम्ब निहारो॥[1]

और एकाग्र भाव से जो कोई किसी की खोज करता है उसे वह अवश्य मिल जाता है—

जेहि काहू खोजे कोऊ, एक मन एक चित्त लाइ।
होइ दूर जो अति तऊ, नियरहि मिले सो आइ॥[2]

इस ध्यान की सिद्धि के लिए शरीर को आसनों द्वारा संयमित किया जाता है। जायसी ने भी बज्रासन लगाकर इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियों की साधना का उल्लेख किया है—

सब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी॥[3]

यहाँ बज्रासन आदि उपलक्षण मात्र है। इनसे प्रधान आसन, नाडी, एव चक्रों का ग्रहण हो जाता है।

इस सब साधना का एक ही लक्ष्य है और यह है प्रियतम का साक्षात्कार नूर मुहम्मद ने इन्द्रावती में 'मोहि बिसराम कहाँ है, जब लग दरस न होइ'[4] कहकर यही व्यंजित किया है। प्रेमी सदा दर्शनों का ही प्यासा है। यह ध्येय मूर्तिमान् नहीं है अत उसका केवल ध्यान ही हो सकता है। इसके लिए जायसी के 'आपुहि

[1] चित्रावली, पृ० ६१।
[2] वही, पृ० ५६।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृ० ३२८।
[4] इन्द्रावती, पृ० २८।

खोए पिउ मिले[1] इस वाक्य के अनुसार निजत्व का लय परम आवश्यक है। स्वीय व्यक्तित्व का खो देना ही तो उस परम रसरूप ईश्वरीय व्यक्तित्व का पाना है—

जब मैं आपन नाम भुलावउं। तब यह नाम जगत रस पावहुँ॥[2]

प्रेमी कवि ने भी 'तिरवेनी के घाट में बैठो मन चित लाय'[3] द्वारा उक्त नाडीत्रय की साधना से ध्यान का आदेश देते हुए 'मैं तू कहना जब छुटै, यही वही सब होय'[4] से एकत्व की प्रतिपादना की है। यही अवस्था फना और बका नाम से पुकारी जाती है। आत्मलय का नाम ही फना है और ईश्वरीय व्यक्तित्व की प्राप्ति ही बका है। ये दोनो अभाव और भाव रूप एक ही अवस्था के दो रूप हैं। आत्मा जब अपना वास्तविक परिचय पाती है तब वह मौन रूप हो जाती है।' यह मौनरूपता ही अभाव है। और साथ ही वह एक ऐसा यन्त्र-सा हो जाती है जिसका निनादी वही परम रूप है जिसमें लीन होकर वह मौन रूप हो गई है। यही भावरूपता है। परन्तु इस रहस्य को कोई जानता है—

'तालू कल्ल' दोऊ कहै, ब्यौरा बूझै कोय।
इक 'बका' एक 'फना' है, पेम पुराने लोय॥[5]

इसमें 'प्रेम पुराने लोय' से अनुभवी प्रेमियों को सम्बोधित करते हुए इस रहस्य के जानने में उन्हीं के सामर्थ्य की व्यजना की गई है।

जिस ध्यान का विवेचन करते हुए ऊपर कहा गया है कि ध्यान की एकाग्रता में ईश्वर का साक्षात्कार होता है, उसकी चरम सीमा समाधि ही है। इस ध्यान से मन मँज जाता है अत उसमें जो कुछ भासित होता है वही वास्तविक है। सूफी इसी को स्वप्न कहते हैं। सासारिक पक्ष में जिसे हम स्वप्न कहते है वह तो अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही रखता। नूर मुहम्मद के अनुसार वह तो जाग्रत अवस्था में की गई चेष्टाओं का प्रतिफल है—

स्वाप आप नहिं राखत काया। है वह जाग लोक कै छाया॥[6]

इस स्वप्न की व्याख्या से प्रतिबिम्बवाद का ही आभास दिया गया है। आगे

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३२०।

[2] इन्द्रावती, २५।

[3] शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर, (प्रथम भाग), प्रेम-प्रकाश, पृ० १४।

[4] वही, पृ० २४।

[5] वही, पृ० २६।

[6] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ५३।

इन्होंने उसी को स्वप्न माना है जिसमें दृश्य जगत के सभी द्रव्यों के मूल परमेश्वर का साक्षात्कार होता है—

भलो सपन दरसन जिन्ह होई । दरसन मूल होइ जग सोई ॥[1]

सत्य स्वप्न देखने के लिए जहाँ ध्यान में मनोमार्जन का महत्त्व बतलाया गया है वहाँ साक्षात्कार के लिए ब्रह्मरंध्र को भी बड़ा मूल्य दिया गया है। साधना में मन-प्रवृत्ति के सम्पूर्ण प्रवाह को रोककर इसी में उसका पर्यवसान होता है। जायसी ने इसको दसम द्वार कहा है। ये कहते हैं कि मन रूपी चोर को दसवें द्वार में पहुँचाइये तभी कुछ प्राप्त हो सकता है—

साँई के भंडार, बहु मानिक मुकुता भरे।
मन चोरहि पैसार, मुहमद तौ किछु पाइए ॥[2]

इन्होंने पद्मावती काव्य में सिंघल गढ़ को शरीर बतलाते हुए नौ पौरियों के ऊपर गुप्त दसम द्वार से ब्रह्मरंध्र को सूचित किया है। वहाँ का मार्ग बड़ा कठिन है। मार्ग में काम-क्रोधादि पंच कोतवाल फिरते हैं। इन पर विजय पाकर ही कोई (योगियों की) पिपीलिका गति से आगे बढ़ सकता है। जो कोई समुद्र में मुक्ति के खोजने वाले मरजिया के समान हृदय रखता है वही इस द्वार को खोलकर शिवलोक में पहुँच सकता है और प्रियतम का साक्षात्कार कर सकता है—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ' तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी ॥[3]

× × ×

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूढ़ि लेइ जो सरग दुआरी, चढ़ै सो सिंघल दीप ॥[4]

वहाँ पहुँचने के लिए 'जाइ सो तहाँ सरस मन बँधी'[5] इस वाक्य से ज्ञात होता है कि प्राणायाम की परम आवश्यकता है। प्राणायाम से स्वास का संयम होता है

---

[1] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६६।
[2] जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृष्ठ ३१८।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६३।
[4] वही, पृष्ठ ६३।
[5] वही, पृष्ठ ६३।

और तभी ध्यान में एकाग्रता आती है तथा समाधि लगती है। ध्यान का पूर्वरूप जाप होता है और अन्तिम समाधि। रत्नसेन भी 'पद्मावती, पद्मावती' का ही जाप करता है और पुनः समाधि को प्राप्त होता है—

बैठ सिंघछाला होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा।
दीठि समाधि ओही सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥[1]

जब समाधि लग जाती है तो ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता हो जाती है। उस समय एकरस हुआ मन रस का पान करता है और सर्वत्र प्रकाश ही अनुभव करता है। कबीरदास कहते हैं कि ज्ञान के गुड़ और ध्यान के महुए से भव-भट्टी पर जो आसव तैयार किया है उसे सुषुम्ना नाडी को सहज शून्य में समाकर कोई विरला ही पीता है—

अवधू मेरा मन मति वारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवैं, त्रिभुवन भया उजियारा॥
गुडकरि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाठी करि भारा॥
सुषमन नारी सहजि समानीं, पीवैं पीवनहारा॥[2]

इस समाधि में ही जब दशम द्वार खुल जाता है तो प्रियतम का साक्षात्कार हो जाता है। उस अनन्त प्रकाश रूप सौन्दर्य के दर्शन से हाल आ जाता है और साधक को मूर्छा आ जाती है। जायसी ने पद्मावती के दर्शन से रत्नसेन की मूर्छा द्वारा यही व्यंजित किया है—

नयन कचोर पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सहुँ ढरे॥
जोगी दिस्टि दिस्टि सौं लीन्हा। नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा॥
जेहि मद चढा पार तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले॥[3]

इसी प्रकार नर मुहम्मद ने भी अनुराग बाँसुरी में 'दोऊ नयन दरस होइ गएऊ। कुंवर सनेही मुरछित भएऊ'[4] से यही सूचित किया है।

इस मिलन की अवस्था में ब्रह्मरंध्र में अनहद नाद सुनाई देता है और प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। इसी बात को जायसी रत्नसेन के पद्मावती से मिलने पर निम्न पंक्तियों से द्योतित करते हैं—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ७१।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ८४।
[4] अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ८३।

आजु इन्द्र अछरी सों मिला। सब कविलास होहिं सोहिला॥
धरती सरग चहूँ दिसि, पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै मंदिर, जहँ होइ मंगलाचार॥[1]

यह अनहद नाद इतना मधुर होता है कि इसमें राग-रागिनियाँ संयुक्त हुई-सी जान पड़ती है—

बाजत अनहद बाँसुरी, तिरबैनी के तीर।
राग छतीसो होइ रहे, गरजत गगन गंभीर॥[2]

यही मिलन की अवस्था सूफियों के यहाँ परम लक्ष्य की सिद्धि है, साधना का

[1] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ १२२।
[2] सन्तवानी संग्रह (पहला भाग), पृष्ठ १२०।

पंचदश पर्व

आचार

हिन्दी-साहित्य में सूफियों की देन काव्य रूप में ही है अत. उनके काव्यो के आ. पर जिस रूप में सूफीमत की प्रतिपादना हुई उसका विवेचन हो चुका है। अब अ. के साधना-मार्ग की प्रारम्भिक अवस्था में आचार पर तनिक विचार किया है क्योंकि इसके बिना तो वह अधिकारी ही नही होता। सभी साधक निश्चित प पहुँच जायें यह कोई अनिवार्य नही है परन्तु आचार का पालन तो प्रत्येक दशा उत्थान का ही कारण होता है।

ये सभी सूफी साधक थे अत अपनी प्रेम-गाथाओ एव मुक्तक काव्यो द्वारा ने साधना-पथ का ही विवेचन किया है परन्तु साथ ही साधना में योग देने वाले ी ओर भी ये सकेत करते गये है। मानव-जीवन में मूलभूत पदार्थ धर्म ही है। ी की सत्ता में वास्तविक जीवन की सत्ता है। उसमान का कहना है कि धर्म से प्राप्त होनी है अत. धर्म-मार्ग को छोडना मनुष्य का कर्त्तव्य नही है।—

धरम पथ छाड़ी जनि कोई। धरमहि सिद्धि परापित होई॥[1]

धर्म का आचरण केवल सिद्धि की प्राप्ति के लिए ही नही है वरन् ससार के क्षेत्र में इसकी आवश्यकता है। राज-धर्म भी इसके क्षेत्र से बाहर नही। नूर- ने धर्म को ही राज्य का मूल कहा है और अधर्म को उसके विनाश का कारण ाया है—

धरम मूल है राज को अधरम किहे नसाय॥[2]

यह कहा जा चुका है कि जो कुछ कर्त्तव्य है वही धर्म है। कर्त्तव्य सार्वकालिक सचाई का ही नाम है। अत जो कुछ सत्य है वही धर्म है ऐसा भी ा जा सकता है। इसीलिए जायसी ने 'जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता'[3] कहकर सत्य की ति में धर्म की स्थिति को माना है। धर्म की स्थिति में पाप हेय और पुण्य उपादेय जाता है क्योंकि पाप असत्य रूप है और पुण्य सत्य रूप। अच्छाई पुण्य है और बुराई ।। इनमें से पुण्य मार्ग ही पवित्र है अत उसे ही ग्रहण करना चाहिए। पुण्य और पाप सूफियों के यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही

[1] चित्रावली, पृष्ठ ४४।

[2] इन्द्रावती, पृष्ठ १२७।

[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ३८।

रखते, क्योंकि पाप भी ईश्वरीय इच्छा का प्रतिफल है तथापि सांसारिक एवं व्याव
दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अत समाज के प्रति
समाज में माता-पिता, गुरु एव अन्य व्यक्तियों के प्रति उसके अनेक कर्तव्य हैं जिन्ह
परमावश्यक है। ये ही कर्तव्य पुण्य रूप हैं। इन्हें उसे अपनाना ही चाहिए। उ
ने चित्रावली में लिखा है कि पाप-मार्ग को छोड़कर पुण्य-मार्ग को ग्रहण करना
जिससे ससार में कीर्ति हो और गुण-गाथा चलती रहे—

तजहु पाप पयहि जिय जानी। करहु पुन्य जो रहै कहानी॥[1]

सन्मार्ग के अनुसरण से मनुष्य भला हो जाता है अत वह सर्वत्र सफलता
मुँह देखता है। जायसी 'अन्तहि भला भले कर होई'[2] कहकर इसी बात को
रहे हैं। आगे राम और रावण के उदाहरण से वे इसे और स्पष्ट करते हैं। रा
पाप को अपनाया था अत उसे दोनों लोकों में पाप का भागी होना पड़ा तथा
प्रतिकूल राम ने सत्य को ग्रहण किया था अत वे विजयी हुए और आसुरी वृत्ति
सिद्धि से वंचित न कर सकी—

रावन पाप जो जिउ धरा, दुवौ जगत मुँह कार।
राम सत्त जो मन धरा, ताहि छरै को पार॥[3]

इस धर्म के आचरण से मनुष्य में मनुष्यता जग जाती है अत वह अपने क
का प्रतिपल ध्यान रखता है। प्रेम-काव्यों में हमें यत्र-तत्र दर्शित मातृ-पितृ
भक्ति, गुरु-श्रद्धा, स्त्री प्रेम, सखा-सौहार्द तथा देव-रति आदि कर्तव्य पद्धतियाँ इसी
का पाठ पढ़ाती हैं। सपत्नियों का जो परस्पर प्रेम प्रदर्शित किया गया है और दा
जीवन में सदाचरण का जो आदर्श रखा गया है वह अनुकरणीय है। नूर मुह
इन्द्रावती में एक स्थान पर माता-पिता की प्रसन्नता से स्वर्ग एव मुक्ति की प्राप्ति
तक लिखी है—

मात पिता को जो रहमावा। सो बैकुंठ मुकुत फल पावा॥[4]

गुरु का माहात्म्य तो पग-पग पर पाया जाता है और स्त्री प्रेम का तो
साम्राज्य ही है। विवाहोपरान्त परित्यक्ता स्त्रियों की स्मृति मात्र से नायक
हो जाते हैं और पुन आकर उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। मित्रों को भी वे अन्त तक
छोड़ते। सिद्धि-प्राप्ति में देव-रति तो अपना विशेष महत्त्व ही रखती है। इस

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ ५८।

[2] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ २५२।

[3] वही, पृष्ठ २७१।

[4] इन्द्रावती, पृष्ठ ११६।

े है कि प्रेम-काव्यों में साधना-पद्धति के साथ-साथ कर्त्तव्य-पद्धति का भी अच्छा दिया गया है।

धर्म-मार्ग हमें सिखाता है कि मनुष्य-जाति मानवता के नाते एक ही है। विविध अनुसरण से अथवा भिन्न-भिन्न मीमांसाओं में आबद्ध होने से कोई भिन्न नहीं हो । ईश्वर एक है और सभी मनुष्य उसी के अंश हैं अत. हिन्दू और मुसलमानों अन्तर नहीं—

अल्लहु गैब सकल घट भीतर, हिरदै लेहु विचारी।
हिंदू तुरक दुहू महि एकै, कहै कबीर पुकारी ॥[1] —कबीर

इस एकता और प्रेम के तो ये सूफी साक्षात् मूर्ति ही थे। इसीलिए ये उदाराशय । हृदय थे। ये गुण ही मनुष्य को ऊँचा बनाते हैं। नूर मुहम्मद के अनुसार ो उच्चता ही मनुष्य की उच्चता है और हृदय की नीचता ही नीचता है—

जेहि मन ऊँच ऊँच भा सोई। जेहि मन नीच नीच सो होई ॥[2]

यदि मनुष्य को ऊँचा बनना है और निम्न स्तर से ऊपर उठकर उच्चता की । में जा विराजना है तो जायसी इसके लिए एक प्रयोग बताते हैं और वह है सगति-सेवन। उनका कहना है कि सदा उच्च पुरुष की सेवा करनी चाहिए ।से ही व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार ऊँचे चढ़ने से ऊँचा ही दीखता है ऊँचे के पास बैठने से बुद्धि भी ऊँची हो जाती है। अत. सदैव ऊँचे की ही करनी चाहिए और उच्च कार्य के लिए प्राणों तक को दे देना चाहिए—

सदा ऊँच पै सेइअ बारा। ऊँचे सौं कीजिय बेवहारा ॥
ऊँचे चढ़ै, ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँच मति बूझा ॥
ऊँचे सँग संगति निति कीजै। ऊँचे काज जीव पुनि दीजै ॥[3]

साधक सदैव सन्त हुआ करते है अत उन्हे उच्चता ही भाती है। सत्सगति में ो है और सदा महान् पुरुषो के आदेशानुसार चलते है। इसीलिए सूफियो में ो इतनी मान्यता हुई। अन्तिम रसूल उनके साथियो की एव साथ ही अन्य की प्रतिष्ठा का भी यही कारण था।

इस्लाम धर्म के पच स्तम्भो का वर्णन पहले हो चुका है। वे साधक की चार में से प्रथम शरीअत के ही अग है। सूफी इनका आचरण श्रेयस्कर मानते ५ उनकी अपनी निजी व्याख्या है। वे ईश्वर पर जिस रूप में विश्वास करते है

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२२।
इन्द्रावत, पृष्ठ ४४।
जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ ६६।

इसका विशद विवेचन हो चुका है। नमाज के विषय में ईश्वरीय जप और चिन्तन को ही महत्त्व दिया गया है। इसी प्रकार उपवास और दान को भी ये मानते हैं परन्तु दान ने उनके यहाँ त्याग का रूप धारण कर लिया है और यात्रा प्रियतम के मिलन की यात्रा हो गई है।

ईश्वर ही इन सूफियों का प्रियतम है और ईश्वर पर विश्वास के बिना प्रेम नहीं हो सकता अतः ईश्वरीय विश्वास तो इनके अध्यात्म भवन की आधारशिला है। ईश्वरीय जाप और चिन्तन का महत्त्व तो साधक नायकों द्वारा तथा अन्य सूफि ने अपने मुनतक काव्यों में यत्र-तत्र प्रदर्शित किया ही है। अपने प्रियतम के विरह निराहारी और मिताहारी तो ये स्वयं ही हो जाते हैं। प्रियतम की प्रसन्नता के लि काम, क्रोध, मद, माया और लोभ का छोड़ना परम आवश्यक है और इनका त्य अनाहार अथवा मित एवं सात्विक आहार के बिना नहीं हो सकता अतः इस रूप उपवास और सात्विक भोजन का सूफियों में बड़ा माहात्म्य है। जायसी ने अखरावट एक स्थान पर मछली और मांस के साथ साथ दूध और घृत का त्याग भी बतलाया तथा दास्यादि, सूखे भोजन और फलाहार को कायक्षीणता तथा काम-क्रोधादि के ह्रा के लिए अत्युत्तम कहा है—

छाँड़हु घिउ औ' मछरी मासू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध, मासु, घिउ कर न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू॥
एहि विधि काम घटावहु काया। काम, क्रोध, तिसना, मद, माया॥[1]

शाह बरकतुल्ला ने भी लिखा है कि अल्प निद्रा, अल्पाहार, सबके साथ हिलन मिलन, विषय-प्रवृत्ति के त्याग एवं क्रोध के नाश से प्रियतम का सहवास मिलता है—

अलप नींद भोजन अलप, मिलन हिलन जग माँह॥
अलप क्रोध को दूर कर, तब बैठें वे नाँह॥[2]

इन सूफियों ने काम क्रोधादि की बड़ी निन्दा की है, क्योंकि ये आत्मा के प्रबल विकार हैं और साधना-मार्ग में विषम बाधा उत्पन्न करते हैं। जायसी ने 'काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचो चोर न छाँडहिं काया'[3] कहकर इन्हें चोर बतलाया है। जब तक इनका निवारण न होगा तब तक नूर मुहम्मद के अनुसार यात्रा में विवि स्थितियों का पार करना असम्भव है—

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ३२८।

[2] शाह बरकतुल्लाज कौंट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्रेचर (भाग पहला), प्रेमप्रकाश पृष्ठ ७।

[3] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, पृष्ठ ५१।

काम क्रोध, तिसना मया, जो नहिं जात नेवारि।
नरक होत बन सातों, हम कहँ पन्थ मझार ॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के लिए विकारों का नाश बडा महत्त्व रखता है और उनके नाश के लिए निराहारी, मिताहारी एव सात्विकाहारी होना अनिवार्य है।

अपने प्रियतम के विरह में काम-क्रोधादि को छोडकर काय-क्लेश के साथ ही त्याग को अपनाना सूफी का एक महान् कर्तव्य है, जो अपने प्रियतम के लिए सर्वस्व नही दे सकता वह प्रेमी ही कहाँ ? इसीलिए आचार के लिए इन सूफियो ने लोभ की बडी निन्दा की है और दान की बडी महिमा गाई है। कबीर ने कनक के साथ कामिनी को भी एक फदा बताकर इनके त्यागी का अपने को बदा कहा है—

एक कनक अरु कामनी, जग में दोइ फदा।
इनपैं जो न बधावई, ताका मैं बंदा ॥[2]

जायसी ने 'जहाँ लोभ तहँ पाप सघाती'[3] द्वारा लोभ को पाप का घनिष्ठ सहचर कहा है तथा उसमान ने 'धर्म नसाइ लोभ पुनि कीये'[4] द्वारा लोभ को धर्म-नाशक बतलाया है। इसके विपरीत त्याग कल्याणकर है अत दान एक प्रमुख कर्त्तव्यो में से है। पद्मावती में रत्नसेन द्रव्याभिमान से दान को हेय समझता है। इसीलिए उसे समुद्र में विपमताओं का सामना करना पडता है। जायसी दान की महिमा गाते हुए कहते हैं कि उसका जीवन और हृदय धन्य है जो महान् दाता है। जप और तप भी दान से ही सफल होते हैं। दान के बराबर ससार में अन्य कुछ नही हैं। दानी अपने मार्ग को निर्मल बना लेता है, क्योंकि कोई भी अपने साथ कुछ नही ले जाता, केवल दिया हुआ ही साथ जाता है—

धनि जीवन औ' ताकर हीया। ऊँच जगत महँ जाकर हीया ॥
दिया सो जप तप सब उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं ॥

× × ×

निरमल पथ कीन्ह तेह जेइ रे दिया किछु हाथ।
किछु न कोइ लेइ जाइहि दिया जाइ पँ साथ ॥[5]

---

[1] इन्द्रावती, पृष्ठ २८।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१।
[3] जायसी ग्रन्थावली—पदमावत, पृष्ठ १७१।
[4] चित्रावली, पृष्ठ १८।
[5] जायसी ग्रन्थावली—पदमावती, पृष्ठ ६१।

उसमान भी लिखते हैं कि बिना दिये कुछ हाथ नहीं आता और न इच्छा-पूर्ति ही होती है। यह कलियुग कृष्ण रात्रि के समान है तथा मार्ग बड़ा विकट है। जिसने कुछ नहीं दिया है वह इस मार्ग में भटकता ही रहता है और कभी भी लक्ष्य तक नहीं पहुँचता—

दिये बिना किछु काहु न पावा। दिया आनि सब इच्छ पुरावा॥
यहि कलि स्याम विभावरी, विकट पंथ यह साथ।
बिनु भूल बनमाह सो, जिन न दिया कछु हाथ॥[1]

उपरिलिखित विवेचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि काम, क्रोध, मद लोभादि विकारों का विनाश अनशन एवं दानादि का परिणाम है। सात्विक आहार तथा इनके विनाश से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन नियमों का पालन स्वतः ही हो जाता है। मन, वचन एवं कर्म में सत्यरूपता की श्रेष्ठता तो स्थान स्थान पर गाई गई है। असत्य माया ही है अतः सत्यपथ के यात्री को उसका त्याग अवश्यम्भावी है। इन नियमों के सद्भाव में क्षमा, शान्ति, सहकारिता, सहानुभूति, साहस, धैर्य और संतोष आदि गुण स्वतः भी उद्भावित हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सूफी लोग प्रियतम मिलन की यात्रा पर चलने वाले होते हैं और उनका प्रियतम निर्गुण ब्रह्म ही है जो अपने अन्दर ही खोजा जाता है अतः वे किसी भी मन्दिर, मसजिद एवं मक्का-मदीना या काशी प्रयाग के भक्त नहीं होते। जायसी पद्मावती काव्य में निम्न पंक्तियों में इसी भाव को व्यंजित करते हुए एक निर्गुण ब्रह्म की उपासना का ही उपदेश दे रहे हैं—

सिंघ तरेंदा जेइ गहा, पार भए तेहि साथ।
ते पै बूड़े बाउरे, भेड पूँछि जिन्ह हाथ॥[2]

ज्ञानमार्गी सन्तों ने तो खुलकर इनकी बुराइयाँ की हैं। इस प्रकार सूफियों में साधना के लिए आचार का बड़ा महत्त्व है। इसके बिना मनुष्य में मनुष्यता ही नहीं आ सकती। जब मनुष्यता ही नहीं तो प्रेम कहाँ और जब प्रेम नहीं तो प्रियतम का प्रसाद कहाँ? अतः आचार का पालन सभी दृष्टियों से कल्याणकर है।

---

[1] चित्रावली, पृष्ठ १६।
[2] जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत पृष्ठ ८७।

षोडश पर्व

सूफ़ीमत का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से ही भारत के पश्चिमी भाग में सम्पर्क स्थापित हो गया था। यद्यपि मुसलमानों के आक्रमणों का लक्ष्य धर्म-प्रचार की अपेक्षा धन और राज्य-लिप्सा ही अधिक था तथापि धर्म-प्रसार परोक्ष परिणाम तो था ही। मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में महमूद गजनवी पंजाब से आगे बढ़कर राजपूताने के मरुस्थल को पार करता हुआ गुजरात पहुँचा था और वहाँ भारत की विभूति सोमनाथ मंदिर को ध्वस्त कर अतुल धन-राशि लेकर लौटा था। इससे बड़े-बड़े भारतीय राजाओं के हृदय में आतंक की लहर दौड़ गई थी। इसने १७ बार आक्रमण किये परन्तु प्रत्येक बार वह धन लूटकर ही चला गया। अतः इसका आतंक बरसाती प्रवाह की भाँति अल्प काल के लिए ही होता था। परन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में शाहबुद्दीन मुहम्मद गौरी ने जब साम्राज्य-स्थापना की लालसा से भारतीय नरेशों पर कुठाराघात किया तब तो जनता के समक्ष अँधेरा ही छाने लगा और देखते-देखते स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त हो गया।

इन आक्रमणों ने राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से भारत पर बड़ा प्रभाव डाला। जो जनता अपने रंग-ढंग, रहन-सहन और अपनी ही परम्परा में मग्न थी, उसकी रंग-रीति बाधित हो गई, रहन-सहन में परिवर्तन आ गया और परम्परा रक्षित न रह सकी। कुछ बल से, कुछ छल से, कुछ साम से और कुछ दाम से शासन-सत्ताएँ बदलीं, धार्मिक विचार परिवर्तित हुए तथा सामाजिक प्रथाएँ शिथिल हो गईं। आतंक भय का ही भाई है और भय संक्रामक होता है अतः आतंकित हुआ एक व्यक्ति दूसरे को भी भीतिग्रस्त बना देता है। यही कारण हुआ कि शनैः शनैः भारतीय नरेश और शासन-संचालक इन आक्रान्ताओं से आतंकित हो गये और साम्राज्य-भावना शीघ्र ही लुप्त हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात दिल्ली के सिंहासन पर गुलाम वंश के नाम से एक दृढ मुस्लिम राज्य स्थापित हो गया। तदुपरान्त खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी एवं मुगल राजवंशों के अनेक राजाओं ने शासन किया। इनमें से अधिकांश अधिकारी विदेशी भावना से आपूरित थे और हिन्दुओं से विद्वेष रखते थे अतः उन्होंने समय-समय पर अनेक अत्याचार किये जिनसे भारतीयों के हृदय भग्न हो गये और उनमें उठने की सामर्थ्य न रही। व्यथित हुआ व्यक्ति जब शक्तिहीन हो जाता है तब उसे आश्रय की लालसा होती

है और वह दो ही रूप में प्राप्त होता है—एक परम पिता के रूप में और दूसरा उन व्यक्तियों के रूप में जो सहानुभूति और संवेदना से भरपूर हैं, जो दया के भंडार तथा पक्षपात से परे हैं। परम पिता पीड़ितों का त्राता और आततायियों का विधाता होता है चाहे वह किसी भी रूप में हो। सगुण हो या निर्गुण वह विश्व का संचालक सभी प्रकार से समर्थ है। यही कारण है कि दुखिया सदैव उसी को पुकारता है, उसी का सहारा तकता है और उसी की गोद में जा बैठना चाहता है। वह त्राण अवश्य करता है, मदान्धों को दंड भी देता है परन्तु दूसरों के रूप में। यही कारण है कि वह सदैव से एक रहस्य बना हुआ है। भिन्न भिन्न देश और कालों में विविध उपासना-मार्गों एवं पदार्थ-पूजाओं का भी यही कारण है। जो जिस प्रकार से भी उससे बल पाता है वह उसी प्रकार से उसे बतलाता है। परन्तु उनकी उक्तियों में अन्तर्निहित भावनाओं के सामंजस्य का एक ही सार निकलता है और वह यह है कि वह सर्वशक्तिमान् है। यह ईश्वरीय सहायता परोक्षतः ही आती है किन्तु संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो साधारण व्यक्तियों से कहीं अधिक शक्तिशाली, निष्पक्ष और उदार होते हैं। राज्यसत्ता का भय और लोभ दोनों ही उनके लिए नगण्य हैं। विश्व की विराट् सत्ता की साधना के चरम लक्ष्य के साथ-साथ मानव-हित ही उनका परम ध्येय होता है। ये ईश्वरीय शक्ति के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि ही होते हैं इसलिए इनका आश्रय भी धैर्य और शक्ति का प्रदाता होता है। इनकी आध्यात्मिक शक्ति धनी-निर्धन, शासक-शासित सभी पर समान रूप से प्रभाव डालती है। शासक नम्र और शासित निर्भय हो जाते हैं।

ऐसे व्यक्ति सृष्टि के आदि से ही होते आये हैं। जब उद्धत और मदान्ध मुसलमान आक्रान्ताओं ने यहाँ की प्रशान्त जनता को रौंदना प्रारम्भ किया तो उसको ढाढस बँधाने वाले भी साथ ही आये। ये सूफी दरवेश थे। मुहम्मद गौरी की शासन-स्थापना के साथ ही साथ हम सूफियों को प्रेम का मनोरम बीज बोते हुए देखते हैं। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी भाषा में सूफीमत की विवेचना पहले हुई और अवधी में उसका विकास हुआ। जायसी से पूर्व मृगावती और मधुमालती के अतिरिक्त और भी काव्य लिखे जा चुके थे। वे प्राप्त मिलते नहीं हैं परन्तु इससे यह तो निश्चितप्राय है कि इन सूफियों ने भारतीय वातावरण के अनुकूल केवल प्रचार ही नहीं किया था वरन् सुन्दर काव्य भी लिखे थे जिनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सूफीमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ था। इनका उद्देश्य ईश्वरीय प्रेम के अतिरिक्त जन-समाज को प्रेम-पाश में आबद्ध करना भी था।

इन लोगों ने मुख और लेखनी से जो कुछ भी व्यक्त किया, वह जनता के भावनामनार्थ सुधा-सिन्धु ही सिद्ध हुआ और भारतीय साहित्य के लिए एक अनूठी निधि

ही वन गया। इसने त्रसित मानव-हृदय को शान्ति प्रदान की ग्रत भारतीयो ने इन सन्तों में अपने परम हितैषी और शुभचिन्तक ही पाये। प्यासे को पानी देने वाला और भूखे को भोजन-प्रदाता सदैव सम्मान्य होता है। इसी प्रकार ये सन्त भी लोगो के शीघ्र ही सम्माननीय हो गये। यही कारण था कि हिन्दू और मुस्लिम जनता पर इनका वडा गहरा प्रभाव पडा। हिन्दुओ ने तो अपने परम सहायक ही पा लिये।

भारत में ऐसा विषम समय कभी न आया था। शक हूणादि अनेक विदेशी जातियाँ इससे पूर्व यहाँ आई थी और उन्होने शासन भी किया था परन्तु वे राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक दृष्टियो से शीघ्र ही भारतीयता में ही निमग्न हो गई थी इसलिए कभी भी प्रेम-प्रचार की आवश्यकता न पडी थी। मुसलमान इससे विपरीत हो सिद्ध हुए। वे भारत में आकर भी भारतीय न बन सके और सदैव यहाँ के निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर अनेक अत्याचार भी करते रहे। ये सूफी सन्त मुसलमान होते हुए भी सामान्य स्तर से बहुत ऊँचे थे। इनमें धर्मान्धता न थी अत ये उदार और विमल हृदय थे। ये परम्परा से इस्लाम के एकेश्वरवाद के स्थान पर एक व्यापक ब्रह्म को मानते आ रहे थे जिसमें भारतीय अद्वैतवाद ने अनन्यता लाकर एक मानव-समाज को ही नही विश्व को ही एक कर दिया था। इस प्रकार ये सूफी मुसलमान न होकर ईश्वर के प्रेमी हो गये थे। यही कारण था कि इनकी एक ही शिक्षा थी, एक ही सिद्धान्त था, एक ही मार्ग था और एक ही धर्म था और वह था प्रेम। भला जब हीरे लुट रहे हो, सज्ञाहीन व्यक्ति के अतिरिक्त और कौन ऐसा होगा जो झोलियाँ भर-भर के न लूटे। जब प्रेम-सुधा की ऐसी वर्षा हुई तो तृषित जनता उस पर टूट पडी और छककछककर उसे खूब पिया।

सूफीमत ज्ञान और भक्ति का मध्यम मार्ग था जिसमें निर्गुणोपासना की प्रधानता होते हुए भी सगुणोपासना का वडा मधुर समन्वय था। भारत की भक्ति-पद्धति ने उस पर और ही रग चढा दिया था तथा साथ ही सिद्ध और योगियो की छाप भी लग चुकी थी। परन्तु यह प्रभाव एकपक्षीय ही न था, सूफियो ने भी भारतीय समाज, धर्म एव साहित्य पर बडा गहरा प्रभाव डाला। साहित्य समाज और धर्म का दर्पण होता है और प्रधानत भारत में अत जब समाज और धर्म पर अमिट प्रभाव पडा तो साहित्य पर भी प्रभाव अवश्यम्भावी था। इन्होंने स्वय भी साहित्य का सृजन किया और दूसरो के लिए नवीन पद्धतियो का निर्माण किया।

हठयोग द्वारा योगियो में जिस निर्गुण ब्रह्म की स्थापना हुई थी, उसी की मान्यता कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों में हुई। योगियो ने सिद्धो के अनेक पाखडों का प्रतिविधान किया परन्तु उनमें भी अनेक पाखड आ गये। वे चमत्कारो तथा सिद्धियों के स्वामी बनना चाहते थे परन्तु वास्तव में वे उनके दास थे। ज्ञानमार्गी सत इन जजालो से पृथक् रहे परन्तु प्रेममार्गी सन्तो के प्रेमाकर्षण से वचित न रह सके।

ज्ञानमार्गी सन्तों की साधना-पद्धति में हमें जो माधुर्य भाव दृष्टिगोचर होता है वह सूफियों की ही देन है। यद्यपि संस्कृत के भागवत आदि ग्रन्थों में गोपी-कृष्ण के प्रणय में प्रणयवाद का विवेचन हमें मिलता है परन्तु सूफियों के प्रणयवाद में एक विशेषता है। भागवत में प्रणयवाद साकार कृष्ण को लेकर है, जब कि सूफियों का प्रणय निराकार में है। सूफीमत की यही परिपाटी कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों के प्रणय में अभिव्यक्त हुई। उदाहरणार्थ सूफी प्रणयवाद से प्रभावित ज्ञानमार्गी सन्तों की कुछ बाणियाँ नीचे लिखी जाती हैं—

बालम आओ, हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे ॥ टेक ॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मो को यह संदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लगि कैसो नेह रे ॥[1] —कबीर

× × ×

विरह सतावै मोहि को, जिव तड़पै मोरा।
तुम देखन को चाव है, प्रभु मिलो सवेरा ॥[2] —कबीर

× × ×

नैहरवा हम का नहिं भावै ॥ टेक ॥
साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहँ कोई जाय न आवै।
चाँद सुरज जहँ पवन न पानी, को संदेश पहुँचावै ॥
दरद यह साँई को सुनावै ॥[3] —कबीर

× ×

घूँघट का पट खोल रे, तो को पीव मिलेंगे ॥[4] —कबीर

× ×

तन तलफै हिय कछु न सोहाय।
तोहि बिन पिय मोसे रहल न जाय ॥[5] —धर्मदास

× ×

मोरा पिया बसै कौने देस हो ॥ टेक ॥
अपने पिया को ढूँढ़न हम निकसी,
कोई न कहत सनेस हो ॥

[1] सन्तबानी संग्रह (भाग दूसरा), पृष्ठ १०।
[2] वही, पृष्ठ १०।
[3] वही, पृष्ठ १२।
[4] वही, पृष्ठ १२।
[5] वही, पृष्ठ ३६।

पिय कारन हम भई हैं बावरी,
धर्‌यो जोगिनियाँ कै भेस हो ॥[1] —धमदास

× × ×

अब मेरे प्रीतम प्रान पियारे।
प्रेम भक्ति निज नाम दीजिए, दयाल अनुग्रह धारे ॥
सुमिरौं चरन तिहारे प्रीतम, रिदे तिहारी आशा।
सत जना पै करौं बेनती, मन दरसन की प्यासा ॥[2] —नानक

× × ×

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर ॥ टेक ॥
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चारि पहर चारौं जुग बीते रैनि गँवाई भोर ॥
अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कतहूँ रहे चित चोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर ॥
दादू ऐसे आतुर विरहणि, जैसे चन्द चकोर ॥[3] —दादूदयाल

× × ×

तेरा मैं दीदार दीवाना।
घडी-घडी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहिमाना ॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की पीया प्रेम पियाला।
ठाड हो तो उँगिरि-गिरि परता, तेरे रँग मतवाला ॥[4] —मलूकदास

× × ×

हूं दिल में दिलदार सही, अँखियाँ उलटी करि ताहि चितैये ॥[5]
—सुन्दरदास

× × ×

अजहूँ मिलो मेरे प्राण पियारे।
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि,
करहु छिमा अपराध हमारे ॥[6] —धरनीदास

---

[1] सन्तवानी संग्रह, (भाग २), पृष्ठ ४४।
[2] वही, पृष्ठ ४६।
[3] वही, पृष्ठ ६३।
[4] वही, पृष्ठ १०३।
[5] वही, पृष्ठ ११८।
[6] वही, पृष्ठ १२६।

इससे ज्ञात होता है कि ये ज्ञानमार्गी सन्त भी प्रणयवाद से कितने प्रभावित हुए थे। इस प्रभाव से दूलनदास, पलटूदास आदि सन्त भी न बचे थे। इनके अतिरिक्त यारी, दरिया, बुल्लेशाह और बरकतुल्ला आदि तो सूफी ही थे। इन सब सन्तों के प्रणयवाद में जो रहस्यात्मकता गर्भित है वह सूफियों की ही उपज है।

इस प्रणयवाद का प्रभाव साधना तक ही सीमित न था वरन् यह मानव समाज के लिए भी वरदान रूप में था। जो मनुष्य मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकता भला वह ईश्वर से क्या कर सकता है? प्रथम आये हुए सूफियों ने हिन्दू और मुसलमानो के मध्य विद्वेष को मिटाने के लिए जो प्रेम का बीज बोया था वह शीघ्र ही अकुरित हुआ और ज्ञानमार्गी सन्तो ने उसे पल्लवित किया।

अनेक समाज सुधारको और धर्म प्रचारको ने धार्मिक रूढियो का तथा वाह्याडम्बरो का घोर शब्दो में विरोध किया किन्तु सूफियों के यहाँ इस विरोध का प्राय अभाव है। इसका यह अर्थ नही कि वे वाह्याडम्बरो तथा धार्मिक रूढियो के पक्षपाती रहे है। सूफियो का मत तो यह है कि अनेकता एकता ही का रूपान्तर है। मानो सत्य का एक सोपान है जिसमें ऊपर से नीचे तक अनेक श्रेणियाँ (मंजिल) है। कोई किसी श्रेणी पर खडा है तो कोई किसी पर। ये सब श्रेणियाँ एक ही सत्यरूप सोपान में जडी हुई है और परम सत्य की पोषक है, घातक नही। इन सबका समन्वय इसी प्रकार है कि मानसिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुकूल विचरता हुआ मनुष्य नीचे की श्रेणी से ऊपर की ओर बढता चला जाय। नीचे की श्रेणी ऊपर की श्रेणी पर ले जाने के लिए परम आवश्यक है इसलिए उसका मूलोच्छेद नही किया जा सकता। यदि मूर्ति-पूजन से प्रेम की पुष्टि होती है तो मूर्ति-पूजन भी अपने स्थान पर सूफी को ग्राह्य है क्योकि मूर्त का प्रेम अमूर्त के प्रेम की ओर ले जाने वाला है। इसलिए सूफी जो प्रेममार्गी है, अन्य ज्ञानमार्गियो की भाँति फटकार से काम नही लेता। उसको तो प्रत्येक रूप में, चाहे वह विकल हो या सकल, प्रेम ही की छटा दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते है कि ईश्वरीय प्रेम के साथ विश्व प्रेम की भागीरथी को प्रवाहित करने में भारतीय सूफियो का बडा हाथ रहा है। इन्होने साहित्य द्वारा तो यह कार्य किया ही, साथ ही प्रचार और मौखिक उपदेश से भी मनुष्य को मनुष्य के पास लाने में बडा प्रयत्न किया।

यद्यपि तेरहवी और चौदहवी शताब्दी का हिन्दी में सूफी साहित्य नहीं मिलता परन्तु यह निश्चितप्राय है कि उस समय भी कुछ न कुछ साहित्य का निर्माण हुआ ही होगा। पन्द्रहवी शताब्दी से तो यह साहित्य हमें मिलता ही है, जो हिन्दी साहित्य की निधि का अमूल्य अंश है। इस साहित्य ने हिन्दी साहित्य पर दो रूपों में प्रभाव डाला, एक तो काव्य के रूप में और दूसरा अध्यात्म के रूप में। पहले कहा जा चुका है कि

अमूल्य सूफी साहित्य अवधी में ही है और काव्य रूप में ही है, जो (चौपाई छन्द की) कुछ अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे या बरवै छन्द के क्रम से लिखा गया है। मलिक मुहम्मद जायसी प्रेममार्गी कवियों में प्रतिनिधि माने जाते हैं और राम-भक्तों में तुलसीदास। तुलसीदास तो हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में से हैं। जायसी ने अपने पदमावती काव्य को अवधी में सात अर्द्धालियों के उपरान्त एक दोहे के क्रम से लिखा है। तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस को, जिसकी समता का दूसरा ग्रन्थ नहीं, अवधी में ही चौपाई और दोहे के क्रम से ही लिखा। यद्यपि उन्होंने एक अर्द्धाली का अधिक प्रयोग किया है परन्तु इससे पद्धति में कोई अन्तर नहीं आता। कुछ विद्वानों का कथन है कि तुलसीदास ने इस शैली को जायसी से नहीं अपनाया क्योंकि प्रेममार्गी कवियों से पूर्व भी सिद्ध एवं वीरगाथा काल के कुछ कवियों ने इस शैली को यत्र-तत्र अल्पाश में प्रयुक्त किया था। परन्तु हमें यह मान्य नहीं, क्योंकि चौपाई का प्रयोग मात्र ही इसका प्रमाण नहीं हो सकता। वह प्रयोग कई शताब्दियों पूर्व हुआ था और वह भी काव्य या काल की दृष्टि से अविच्छिन्न रूप में नहीं। प्रेम काव्यों की तो इस शैली में एक अविच्छिन्न धारा थी और तुलसीदास भक्ति काल में ही जायसी के पश्चात् हुए थे। अतः यह शैली उन्होंने जायसी से अपनायी थी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

दूसरा प्रभाव अध्यात्म रूप से है। हिन्दी साहित्य में हम निर्गुण धारा के पश्चात् भक्तिक्षेत्र में सगुण धारा को पाते हैं। सगुण धारा की भी दो शाखायें हुईं, राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा। सूफियों ने जिस प्रेम का राग अलापा, सगुणोपासकों ने भी उसमें अपना स्वर मिलाया। हिन्दू-मुसलमानों के बीच एकता का जो कार्य सूफियों ने किया तुलसी ने भी उसी काय को बहुसख्यक हिन्दू जाति में उनकी परम्परा के अनुकूल अपनी रचनाओं द्वारा सुचारु रूप से सम्पन्न किया। परन्तु कृष्ण-भक्ति शाखा पर सूफियों के रहस्यात्मक प्रेम की विशेष छाप पड़ती हुई दिखाई देती है। शब्द की जिस व्यजना शक्ति से सूफी कवि काम लेते हैं, वही व्यजना-शक्ति कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में सक्रिय दिखाई पड़ती है। यह बात राम-भक्ति शाखा के कवियों में नहीं है। राम-भक्ति में तो लोक-पक्ष पर विशेष बल दिया गया है जब कि कृष्ण भक्ति में रहस्यात्मकता पर। यहाँ कृष्ण वाच्यार्थतया माखनचोर ग्वाल-बाल नहीं हैं और न गोपियाँ अहीरनी हैं वरन् कृष्ण से ब्रह्म और गोपियों से जीवात्मा की व्यजना की गई है,[1] तथा माखनचोर से चितचोर अथवा परम प्रेमी की व्यजना झलक

---

[1] धन्य ब्रज ललनानि करतें ब्रह्म माखन खात।
—सक्षिप्त सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, पद ११८२, पृष्ठ १८७।

रही है। प्रेम की यह रहस्यात्मकता यदि भागवतादि मूल ग्रन्थों में मानी जाय तो ठीक है, तथापि जन-समुदाय में यह रहस्यात्मक अभिप्राय लुप्तप्राय हो था। इसलिए यह अनुमान अनुचित न होगा कि सूफियों का रहस्यवाद भागवतों के रहस्यात्मक अर्थ के प्रतिपादन करने में सहायक हुआ है।

कृष्ण-भक्तों की परम्परा में मीरा के पदों में सूफी प्रेम की व्यंजना विशेष रूप से उपलब्ध है। मीरा की भक्ति मधुर भाव की है। उनकी वाणी में वेदना कूट-कूट कर भरी हुई है। पदों से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने को गिरिधरलाल के हाथों बेच दिया है। खाते-पीते, उठते-बैठते और सोते-जागते किसी प्रकार भी चैन नहीं है। अपने प्यारे साँवरिया की सूरत में ही लीन रहती है। उन्हें उनके अतिरिक्त और कोई नहीं चाहिए। कभी रोती है तो कभी हा-हा खाती है। वे तो केवल साक्षात्कार और मिलन की भूखी है। गिरिधरलाल उनके पिया है और वे उनकी पत्नी है। किन्तु यह पिया कौन है ? लौकिक व्यक्ति की भाँति कोई देश-काल से सीमित व्रज निवासी कृष्ण नहीं वरन् यह परम अध्यात्म सत्ता है। इसके प्रेम स्वरूप का उन पर ऐसा रंग चढ़ा हुआ था कि वह मन्दिरों में कृष्ण की मूर्ति के सामने नाचती और गाती थी। कभी-कभी उन्हें उन्माद भी आ जाता था। मन्दिरों में कृष्ण की मूर्ति के समक्ष नाचने से हमें मीरा की उपासना को केवल साकारोपासना नहीं समझना चाहिए क्योंकि उनके अनक रहस्यात्मक पदों से, जैसा कि हम ऊपर कह आये है, निराकारोपासना भी व्यंजित है।

मीरा के पदों में सूफियों के समान ही हम प्रेम की पीर पाते है। "कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊँ री"[1] कहकर वे हरि बिना जीना असम्भव बतलाती है। वे कृष्ण के रूप पर इतनी मुग्ध हो गई है कि उनके नेत्र दर्शनों को तरसते है। विकल होकर वे कहती है कि हे प्यारे मोहन ! कभी आकर हृदय की तपन बुझा जाओ। मैं घायल हुई तड़पती फिरती हूँ परन्तु मेरी पीड़ा को कोई नहीं जानता। जल के बिना क्या बेचारी मछली जी सकती है ? मैं भी तुम्हारे बिना न जी सकूँगी अतः आकर दर्शन दे जाओ

> कभी हमारी गली आवरे, जिया की तपन बुझाव रे।
> प्यारे मोहना प्यारे।
> तेरे सावले वदन पर, कई कोट काम वारे,
> तेरे खूबी के दरस कै, नैन तरसत हमारे।
> घायल फिरूँ तड़पती, पीड जानै नहि कोई,

---

[1] मीरा-पदावली, पृ० १५, पद २४।

जिस लागी पीड़ प्रेम की, जिन लाई जानें सोई।
कृपा कीजै दरस दीजै, मीरा नन्द के दुलारे।[1]

वे मिलन की इतनी भूखी हैं कि सूनी शय्या विष जैसी जान पड़ती है, सिसकते-सिसकते प्राण गले तक आ गये हैं और नेत्रों में नींद नहीं आती... ..

सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सिसक सिसक जिय जावे।
नयन निद्रा नहिं आवे ॥[2]

वे इसी प्रकार विरह-विकल हुई कभी-कभी प्रलाप करने लगती थीं। एक बार उन्होंने एक सहचरी को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे आली ! मेरे हृदय में विरह-वेदना जग गई है। अब तड़पते हुए कल नहीं पड़ती, क्योंकि विरह-बाण हृदय को [illegible] रहा है। अहर्निश में प्रिय के पथ को ही निहारती रहती हूँ और पलभर भी [illegible] लगते। मेरी सारी सुध-बुध, जाती रही है और रात-दिन 'पीव-पीव' ही [illegible] हूँ। विरह-सर्प ने मेरे कलेजे को डस लिया है और विष की लहर [illegible] है, हे स्वामी ! मेरी पीड़ा को मिटाकर मुझ से आ मिलो। मैं अत्यन्त [illegible] और अब बस तुम्हारे से मिलन की लालसा लगी हुई है—

राम मिलण के काज सखी, मेरे आरति उर आ[illegible]
तलफत-तलफत कल न परत है, विरह बाण उर ला[illegible]
निस दिन पथ निहारूँ पीव को, पलक न पल भरि [illegible]
पीव-पीव मैं रटूँ रात दिन, दूजी सुधिबुधि [illegible]
विरह भवंग मेरो डसो है कलेजो, लहरि हलाहल [illegible]
मेरी आरति मेटि गुसांई आइ मिलो मोहि [illegible]
मीरा व्याकुल अति उकलाणि, पिया की उमग[illegible]

इन पदों में प्रेम-पीर की जो अभिव्यक्ति हुई है [illegible] अनुसार ही समझनी चाहिए क्योंकि मीरा की साकारोपा[illegible] पासना की झलक पाते हैं और निराकारोपासना में प्रेम[illegible]

मीरा ने अनेक पदों में योग-साधना द्वारा [illegible] किया है। गृह-त्याग के समय एक पद में उन्होंने [illegible] कोई नहीं है, वह तो मगन होकर निकल पड़ी है। [illegible] मर्यादा को भी उसने त्याग दिया है तथा [illegible] दे दी है क्योंकि वह ज्ञान-मार्ग पर पग [illegible] अटारिया है, जिस में प्रेम के कपाट लगे हुए हैं [illegible]

---

[1] मीरा पदावली, पृ० १७, १८, पद २८।

[2] वही, पृ० २१, पद ३३।

[3] वही, पृष्ठ ६५, पद १६५।

है। यह शय्या सुषुम्ना नाड़ी की है जिस पर मीरा भी प्रसाधन किये सुरति में लीन हुई विराजमान है। राणा ! तुम अपने घर जाओ, हमारी तुम्हरी न निभेगी—

> तेरा कोई नहीं रोकनहार मगन होय मीरा चली।
> लाज सरम कुल की मरजादा सिर से दूरि करी॥
> मान अपमान दोऊ घर पटके निकसी हूँ ज्ञान गली॥
> ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछे॥
> पचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल फली॥
> बाजूबन्द, कडूला सोहै, सेंदुर माँग भरी॥
> सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा, शोभा अधिक खरी॥
> सेज सुखमणा मीरा सोहै, सुभ है आज घरी॥
> तुम जावो राणा घर अपणो, मेरी तेरी नाहि सरी॥[1]

इसी प्रकार वे एक पद में अपने प्रियतम को नैनों में ही बसाने को कहती हैं वह वहीं तो रहता है परन्तु दृष्टि में नहीं आता। अत वे त्रिकुटी के मध्य शून्य महल (ब्रह्मरंध्र) में ही ध्यान लगाकर उसे पाना और रमण करना चाहती हैं—

> नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ री।
> इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न पाऊँ री॥
> त्रिकुटी महल मे बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥
> सुन्न महल में सुरति जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री॥
> मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बल जाऊँ री॥[2]

वे अपने प्रिय के साथ होली खेलना चाहती हैं परन्तु यह होली लौकिक प्रेम की नहीं वरन् आध्यात्मिक अथवा रहस्यात्मक होली है। यही होली तो वास्तविक होली है।[3] जीवन में आई होली तो भला कितने दिन की है? इस होली में संगीत

---

[1] मीरा पदावली, पृ० २६, २७, पद ६४।

[2] वही, पृ० ४५, पद ७७।

[3] ज्ञातव्य देखिये सूफी बरकतुल्ला ने भी आध्यात्मिक होली का इस प्रकार विवेचन किया है—

> मुसलमानी होरी हम देखी, खेलत लालन के सग प्यारी।
> पाँच पचीस छाड़ के दौरी, ध्यान रंगन में बोरी सारी।१।
> ध्यान राग बाजो अनहद को, ब्रह्म जोत दीप उजियारी।
> घरे सिद्दिक कुम में झारो, आवागमन मार पिचकारी।२।
> लाल गुलाल अबीर इरमे रुचि, देखत नाचत ज्यों मतवारी।
> ऐसे मेल प 'प्रेमी' सरबस तन मन धन कीजे बलिहारी।३।

—शाह बरकतुल्लाज कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिटरेचर, (प्रथम भाग), प्रेमप्रकाश, पृ० ७०।

क्षणिक ही होता है परन्तु उस होली में तो मधुर राग-रागनियो के साथ अनहद नाद की भरार होनी रहती है जिससे अग अग आनन्द में मग्न रहता है। शील और सन्तोष की उसमें केसर और रोली होती है तथा प्रेम की पिचकारी है—

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की भनकार रे।
बिन सुर राग छतीसू गावै, रोम रोम रँग सार रे।
सील सतोष की केसर रोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे।[1]

इन पदो में मीरा की साधना कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तो की भाँति दृष्टि-गोचर तो हो रही है परन्तु यह विशेषता है कि कबीर की साधना-पद्धति में ज्ञान की नीरसता भी है जब कि मीरा की उपासना में केवल प्रेम का माधुर्य। मीरा ने जहाँ भी निराकार की ओर सकेत किया है वहाँ हम उनकी उपासना को प्रेमोपासना ही कह सकते हैं और निराकार ब्रह्म में प्रेमोपासना सूफियो की ही पद्धति है। यदि कहा जाय कि यह कबीर आदि का ही प्रभाव है तो उचित नहीं, क्योंकि कबीर आदि में भी ज्ञान के साथ जो प्रेमोपासना आई है वह सूफियों से ही। अत मीरा पर प्रत्यक्षत या परोक्षत सूफियो का प्रभाव स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि हिन्दी-साहित्य के पूर्व-मध्य काल में सूफियो का व्यापक प्रभाव था जिसने साधना एव व्यवहार दोनों ही पक्षों में प्रेम की मधुर धारा प्रवाहित की थी तथा प्रेम की रहस्यात्मक उपासना द्वारा ज्ञान-मार्गी सन्तो के अतिरिक्त अनेक भागवतो को प्रभावित किया था।

हिन्दी-साहित्य का उत्तर मध्य काल, जिसे हम रीति काल या शृगार काल भी कहते हैं इस परम्परा के अनुकूल न था। इसके पूर्व ही मुगल शासक अकबर ने हिन्दुओ को उच्च पदो पर नियुक्त कर दिया था, अत हिन्दू-मुस्लिम विरोध समाप्त-सा हो रहा था। वीरवर राणा प्रताप की मृत्यु के पश्चात तो यह विरोध प्राय जाता ही रहा। शासको के दरबार में सुरा का दौरदौरा हुआ और करवाल के स्थान पर कामिनी आ विराजी। लौहफलक भालो की अणियाँ अनियारे लोचनो के समक्ष कुठित हो गईं और भोग विलास की प्रवृत्ति न युवती का रूप धारण कर लिया, अत साहित्य भी मदमाती युवतीमय ही हो गया। भूषण आदि कवियो की रचनाओं में जो ओज हमें मिलता है वह औरगजेब जैसे कठोर शासको के दुर्व्यवहार से उद्बुद्ध विरोध के कारण ही। इस काल में अधिकाशत रसराज शृगार का ही साम्राज्य रहा, अत वीर के

[1] मीरा पदावली, पृ० ५५, पद ६५।

अतिरिक्त निर्वेद भी विदा हो गया। हाँ राधा-कृष्ण सम्बन्धी साहित्य का पर्याप्त निर्माण हुआ परन्तु उसमें प्रेमोपासना नहीं सुख भावना ही है। भला ऐसी प्रवृत्ति में भक्ति कहाँ! यही कारण है कि इस काल में ज्ञानमार्गी एवं सूफी पीरों की शिष्य परम्परा के अतिरिक्त प्रेमोपासना प्रायः समाप्त ही हो गई।

इस काल के पश्चात् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हम आधुनिक काल में आते हैं। इसमें छायावाद एवं रहस्यवाद के प्रवेश के साथ ही साथ हम पुनः सूफी भावना को जागता हुआ देखते हैं। इस काल में सूफियों की भाँति सर्वप्रथम यूरोप में ईसाई सन्तों ने प्रकृति के नाना रूपों में जिस विश्वात्मा की छाया को देखा और चित्रित किया उसका सांकेतिक शब्दों में प्रतीकों द्वारा वहीं के कवियों ने चित्रालोक कराया। उनकी पद्धति प्रतीकवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका सर्वप्रथम अनुकरण बंगाल में हुआ जहाँ इसे छायावाद की संज्ञा दी गई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने चित्रमयी भाषा में इस नूतन वाद के आधार पर विश्व के अणु-अणु में उस जगदीश्वर की बिखरी छटा के जो मनोरम चित्र खींचे उनसे संसार मुग्ध हो गया। हिन्दी लोक भी आकृष्ट हुआ और शीघ्र ही सर्व-समावेशिनी शक्ति के साथ उस पर टूट पड़ा। शताब्दियों पश्चात् पुनः वही प्रियतम आलम्बन बना। कौन जाने वह क्या है परन्तु सर्वत्र उसी की छटा दीखने लगी। उषा में उसी का हास, सान्ध्य-वेला में उसी का लालित्य, चाँदनी में उसी का रूप, लहरों में उसी की मिहरन और वायु में उसी का संचार जान पड़ा। सूर्य और चाँद उसी की आँखें हैं, तारे उसकी मुस्कान के कण हैं, सुमन उसी के रोमांकुर हैं तथा विश्व के प्रकाश में वही तो खिल पड़ा है। उसकी भव्य विभूति और रम्य छटा के दर्शन अणु-अणु और पत्ती-पत्ती में होने लगे। कवि-लोक मुग्ध हो गया और भावावेग में छायामयी वाणी का ही प्रयोग करने लगा जिसका अवसान रहस्यपूर्ण ही होना था। पुनः वही चित्र भाषा निखरकर सामने आई, प्रतीकों का बोलबाला हुआ और अन्योक्तियाँ पर बाँधकर उड़ने लगीं।

'वह विश्वात्मा दीखता नहीं परन्तु उसका सौंदर्य सर्वत्र दीख पड़ता है' इसने प्रेम को उद्दीप्त कर दिया। प्रेम ने हृदय पर आसन जमा दिया। अब तो विरह का अनुभव होने लगा और प्रेम की पीर जग पड़ी। इसने एक मरोड़ पैदा करदी जिससे कवि-हृदय की वीणा का तार-तार झंकृत हो गया है। पर मिलता नहीं है, इसने विवशता को जन्म दिया और सर्वत्र उन्मनता-सी छा गई। एक विचित्र भूमि में ही चित्र सामने आये। कोई दिनकर की नवोढ़ा उषा पर ही मुग्ध हो रहा है तो कोई कालागुरुगन्ध लिये गजेन्द्रगामिनी रजनी के साथ साथ ही गाजन की भाँति चल पड़ा है, कोई पवन में पथ पूछ रहा है तो कोई तरल तरंगों में उसी का मुख देख रहा है। कोई पक्षियों के साथ पंख पसारकर उड़ रहा है तो कोई मधुमास के साथ पुष्पों की आँखों

से ही उसे निहार रहा है । ऐसा जान पड़ने लगा कि प्रियतम पास ही तो है, यदि आलिंगन नहीं होता तो क्या, अन्त:अभिसार तो हो रहा है । इस प्रकार वह अव्यक्त सत्ता पुनः चिरप्रतीक्षा, चिरचिन्तन, चिरमिलन, और चिरमादकता का विषय बनी। पीछे कहा जा चुका है कि प्रेमोपासना में जहाँ प्रेम स्वयं प्रतीक होता है वहाँ सुरा, सुराही और साकी भी प्रतीक होते हैं। प्रियतम के आते ही ये भी आ विराजे।

इस प्रकार इन प्रतीकों के आधार पर उस अनन्त सौन्दर्यशाली प्रियतम का चित्रांकन होने लगा और रहस्यमयी भाषा में उसी के रूप की अभिव्यंजना का प्रचार हो गया। अब कवि कवि के रूप में देवदूत हो गया और कल्पना परियों की भाँति पर लगाकर उड़ने लगी । यद्यपि कुछ स्वच्छन्द कवियों ने इसकी आड़ में असम्बद्ध, अर्थ-हीन और अश्लील भाषा में भावाभास और रसाभास के दर्शन कराकर उच्छृंखलता का ही परिचय दिया परन्तु जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा आदि ने इस धारा को उन्मार्ग में प्रवाहित होने से बचा लिया।

सम्पूर्ण विश्व में एक सर्वोच्च सत्ता व्याप्त हो रही है। विश्व उसी के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। कवि चिदचित् रूप से सृष्टि में सर्वत्र उस छटा को देख पाता है तो आनन्द-विभोर हुआ उसे व्यक्त करना चाहता है । परन्तु वह सामान्य भाषा में उसे कर नहीं पाता अतः लक्षणा के आधार पर प्रतीकों द्वारा उसे व्यक्त करता है। इसके लिए उसे साम्याधार पर रूपक एवं अन्योक्ति आदि का भी आश्रय लेना पड़ता है इसीलिए उसकी भाषा चित्रमयी हो जाती है । उसकी वस्तु एवं भाव-व्यंजना में उसी असीम का रूपांकन होता है। उसकी लेखनी में अमूर्त्त भी मूर्तिमान हो जाता है। शनैः शनैः कवि के हृदय में उस असीम से इतना प्रेम हो जाता है कि वह स्वयं उससे नाता जोड़ना चाहता है और निरन्तर उसकी ओर बढ़ने लगता है। यहाँ कवि-हृदय रहस्यमय बन जाता है। इस प्रकार छायावाद का पर्यवसान रहस्यवाद में ही होता है अतः हम छायावाद की चरमावस्था को ही रहस्यवाद कहें तो अनुचित न होगा।

इस छायावाद और रहस्यवाद में स्पष्ट ही हम सूफी-भावना को देखते हैं। संसार में ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध में चार धारणाएँ पाई जाती हैं। प्रथम, ईश्वर एक है, उसी ने सम्पूर्ण विश्व को बनाया है अत: वही इसका पालक और संहारक भी है। इस धारणा के अनुसार विश्व की सत्ता है। द्वितीय, ईश्वर है परन्तु विश्व का कर्ता नहीं, इसमें कर्म की प्रधानता है। तृतीय, एक व्यापक ब्रह्म है, मायावश उसी से विश्व निसृत हुआ है अतः दृश्य जगत एक ब्रह्म ही है। इसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। चतुर्थ धारणा के अनुसार एक व्यापक ब्रह्म है। विश्व उसी से उत्पन्न हुआ है परन्तु भ्रम नहीं सारहीन है। इसकी मान्यता है कि विश्व उसी के सौन्दर्य का प्रदर्शन है

जो स्वय प्रेम और सौन्दर्य रूप है अत विश्वात्मा प्रेम का विषय है। प्रथम धारणा में भय की प्रधानता है अत दास्य भाव से ही भक्ति हो सकती है। इसमे ईश्वर प्रियतम नही हो सकता। दूसरी धारणा में तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता। तीसरी धारणा में ज्ञान की नीरसता है इसमें अभेद वृत्ति के कारण जगत के मिथ्यात्ववश व्यापक ब्रह्म में सौन्दर्य समन्विता का अभाव है। अत वह प्रेम-गम्य नहीं ज्ञानगम्य है। इन तीन धारणाओ के अनुसार न तो ईश्वर प्रेम का विषय है और न वह सौन्दर्य रूप से विश्व में व्याप्त हो रहा है अत उसका चित्रांकन नहीं हो सकता। चित्रांकन के अभाव में ये तीनो ही छायावाद के अनुकूल नही हैं। आधुनिक काल में जो रहस्यवाद है वा वेदान्तियो का सा नही वरन् ज्ञानमार्गी सन्तो जैसा है और सूफी प्रभाव से ज्ञानमार्गी सन्तो में प्रेमोपासना थी ही अत ये धारणायें रहस्यवाद के उपयुक्त नही। अब केवल चतुर्थ धारणा ही रह जाती है जो छायावाद और आधुनिक रहस्यवाद के अनुकूल पडती है, क्योंकि उसी के अनुसार विश्व ईश्वरीय सौन्दर्य का मूर्तरूप है अत चित्रांकन हो सकता है तथा ईश्वर प्रेम रूप है अत उससे मिलन की चाहना हो सकती है। यह धारणा सूफियों के ही अनुसार है। सूफी लोग व्यापक ब्रह्म की बिखरी छटा ही तो देखते हैं और छायावादी भी सर्वत्र उसी की झलक पाते हैं। झलक के अनन्तर मिलन की चाहना से विरहवश जो प्रेम की पीर जगती है वह सूफियो के अतिरिक्त और है कहाँ? अत मानना पडेगा कि इस काल में छायावाद एव रहस्यवाद पर सूफीमत का व्यापक प्रभाव है।

प्रसाद ने चित्रांकन के अतिरिक्त वेदना का भी स्थान दिया है। उनके हृदय में भी हम उस टीस को पाते हैं जो वियोग में हुआ करती है परन्तु पंत और निराला न तो प्राय अमूर्त के सद्भाव में कल्पना के सहारे भाव-लोक को साकार बनाकर चित्रांकन ही किया है। इनके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा एव हरिवंशराय बच्चन ने भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति को अपनाया है परन्तु महादेवी वर्मा की कविताओं में हम जो वेदना पाते हैं वह किसी भी आधुनिक कवि में नहीं मिलती। वे वेदना की साकार मूर्ति ही है। उन्होंने जो चित्र खींचे हैं वे स्वय वेदना से ओत प्रोत है। इस दृष्टि से वर्तमान काल में ये छायावादी एव रहस्यवादी कवियों का यथार्थ में प्रतिनिधित्व ही करती हैं। उनकी रचनाओं में विद्यमान निराकार के प्रति प्रेम पीडा, विरह-विकलता और मिलन की कामना हमें स्पष्ट बतला रही है कि वे सूफी-पद्धति से किसी न किसी प्रकार अत्यधिक प्रभावित हैं। इस काल में मधु भरे मधुकलशा के साथ मधुशालाओं में जो मधुपायी और मधुपायिनी दीख पडे, वह सब उमर खैयाम, हाफिज शीराजी तथा अन्य ईरानी सूफियो का ही अनुकरण है।

इस पर्यालोचना से हम इस परिणाम पर आते हैं कि आधुनिक हिन्दी जगत् पर

सूफी-प्रभाव बड़ी व्यापकता से पड़ा। इस युग में जिस साहित्य का निर्माण हुआ और उसके जिस प्रबल अंग छायावाद एवं रहस्यवाद पर सूफीमत का प्रभाव है उसमें अनेक कवियों ने योग दिया है परन्तु हम महादेवी वर्मा को ही छायावादी एवं रहस्य-वादी कवियों का प्रतिनिधि मानते हैं अतः उनकी रचनाओं के आधार पर ही हम इस प्रभाव की महत्ता को सिद्ध करते हैं।

इन्होंने यामा के प्राक्कथन के 'अपनी बात' नामक द्वितीय अंश में आधुनिक रहस्यवाद की भावोद्भावना के विषय में वेदान्त, योग, सूफीमत एवं कबीर के रहस्य-वाद की पृथक्-पृथक् विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि—

भी प्रमाण है। यद्यपि उनके अनुसार इसमें कबीर के शारीरिक दाम्पत्य-भाव को जिसे महादेवी जी ने "वैष्णव युग के उज्ज्वलतम काव्य तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।" (वी) कहकर वैष्णव प्रणयवाद के समान बतलाया है, विशेष महत्ता है परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि वैष्णव प्रणयवाद साकार से सम्बन्ध रखता था और ईश्वर के सगुण रूप से प्रणय सुगम भी है, फिर कबीर के निर्गुणवाद में प्रणयवाद कहाँ से आया। योगियों के योग मार्ग में प्रणय को स्थान न था और कबीर पर उनकी भावना का अत्यधिक प्रभाव था। कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतिमूर्ति अवश्य थे परन्तु वे साकार को लेकर न चले। समय के अनुसार वे निराकार के पक्षपाती रहे और निराकार में प्रणयवाद सूफियों ही से आया था। परम्परा से प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः आज भी रहस्यवाद पर उन्हीं के प्रणयवाद का प्रभाव है। कबीर ज्ञानमार्गी थे अतः विश्व को ईश्वरीय सौंदर्य का प्रदर्शन नहीं मानते थे और न हम उनके प्रणयवाद में चिरवेदना ही देखते हैं। सूफी ही विश्व में उसकी छटा को देखते और उस पर मुग्ध होकर मिलनार्थ विरह में तड़पते रहते हैं। कबीर का दाम्पत्य भाव वैष्णवों के समान हो सकता है परन्तु पद्धति सूफी ही है। अब हम महादेवी जी की ही रचनाओं से स्वयं उन पर सूफी प्रभाव बतलाते हुए आधुनिक छायावाद एवं रहस्यवाद पर सूफीमत का प्रभाव जतलाते हैं।

आज का छायावादी एवं रहस्यवादी कवि सर्वत्र उसी व्यापक ब्रह्म की छटा को छिटकी हुई देखता है। सूफी भी यही कहते हैं कि सब में उसी का जलवा है। महादेवी जी के अनुसार भी एक असीम ब्रह्म सर्वत्र प्रकाशरूप से व्याप्त हो रहा है और सभी क्षुद्र तारका के समान हैं। यदि वह व्यापक प्रकाश है तो हम एक प्रकाश-बिन्दु ही हैं। और इसी प्रकार वह निराकार साकार बना हुआ है—

तुम असीम विस्तार ज्योति के, मैं तारक सुकुमार,
तेरी रेखा रूपहीनता, है जिसमें साकार।

उसी की आभा का कण कान्तिमानता को कान्ति दे रहा है। रात्रि में तमसावृत्त निस्सीम गगन में टिमटिमाते तारक-दीपकों की ज्योति और निशानाथ की रजत-समाज ज्योत्स्ना तथा प्रभाकर की स्वर्णिम प्रभा राशि उसी की आभा का तो परिचय दे रहे हैं—

तेरी आभा का कण नभ को, देता अगणित दीपक-दान,
दिन को कनक राशि पहनाता, विधु को चाँदी-सा परिधान।[2]

---

[1] यामा, रश्मि, पृ० ६८।

[2] वही वही, पृ० १०८।

सारा ससार उसी प्रकाश पुज की रश्मियाँ है अत हम एक ही है। यदि भिन्न भी है तो उसी प्रकार जैसे वारिद से विद्युत् जिनकी भिन्नता में भी एकरूपता ही है—

मै तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश,
मै तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित् विलास।[1]

विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने रूप में उसी के स्वरूप को प्रदर्शित कर रहा है। कलियो की मौन चितवन ऊषा के आरक्त कपोलो की लालिमा, नक्षत्रो की चमक एव मेघो में भरी करुणा तथा तरल तरगा की अपार अनुभूति में उसी का आभास मिल रहा है परन्तु वह मिलता हृदय में ही है अन्यत्र भटकना व्यर्थ है, एक छलना मात्र है—

यह कैसी छलना निर्मम, कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?
तुम मन में हो छिपे मुझे, भटकाता है सारा ससार ॥[2]

इस प्रकार हम देखते है कि महादेवी जी उस असीम को किसी एक स्थान पर सीमित हुआ नहीं मानी और न ससार को मिथ्या ही मानती है वरन् सूफियो की भाँति उसे विश्व में प्रकाशरूप से प्रदर्शित हुआ ही मानती है। उन्हें इस विश्वात्मा का निश्चय तो है परन्तु वह क्या है, कौन है इसका पता नहीं, इसीलिए वे विकल है—

शून्य काल में पुलिनो पर, आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में, वह रहस्यमय कौन ?[3]

वह रहस्यमय कौन है ? कौन है वह जो रात्रि के नीरव प्रहर में जब चन्द्र-रश्मियाँ कुमुद की वेदना को हरती हैं और पवन के स्पर्श से चकित अनजान-सी तारिकायें चौंक पडती है तब दूर, दूर, कहीं उस पार सगीत-सा उन्हे बुलाया करता है ?—

कुमुद दल से वेदना के दाग को, पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ;
चौंक उठतीं अनिल के निश्वास छू, तारिकायें चकित-सी अनजान सी,
तब बुला जाता मुझे उस पार जो, दूर के सगीत-सा वह कौन है ?[4]

यदि कोई हो, अनदय रूप से सकेत भी करे और मौन वाणी में बुलाये भी पर मिल न सके तो मिलन की चाहना उत्पन्न हो जाती है और फिर यही चाहना चिर-वेदना का कारण बन जाती है। सूफी इसीलिए तो तडपते रहते है और उसके विरह

---

[1] यामा, रश्मि पृ० ६६।
[2] यामा, नीहार, पृष्ठ ६२।
[3] यामा, रश्मि, पृष्ठ ७६।
[4] वही, वही, पृष्ठ ७७।

में प्रेम की पीर जगाते रहते हैं। एक न एक दिन प्रेमी की तड़प प्रियतम को तड़पा ही देगी, इसी आशा से प्रेमी प्रेममार्ग पर सर्वस्व का त्याग कर जलने और विकल होने में ही जीवन का साफल्य समझता है। महादेवी भी इसी चिरवेदना में मग्न हैं। वे सखी से कहती हैं, हे अलि ! मैं उन्हें कैसे पाऊँ ? वे स्मृति बनकर दिन-रात मेरे मन में खटका करते हैं जिससे मैं उनकी इस निष्ठुरता को न भूल सकूँ—

अलि कैसे उनको पाऊँ ?
वे स्मृति बनकर मानस में
खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी इस निष्ठुरता को
जिससे मैं भूल न पाऊँ ![1]

मैं प्रिय के प्रेम में मतवाली हो गई हूँ परन्तु वह बड़ा मनमौजी है। मेरे नेत्रों में उमड़ते आँसुओं को देखकर भी उसने मुझे अबतक जाना नहीं है। मैंने भी उसे कभी देखा नहीं है। केवल स्वर भर ही पा सकी हूँ। अब तो इस उन्माद में उसकी स्मृति भी विस्मृति ही बनकर आती है और उसके शान्त सदन में काया भी प्रतिच्छाया हो जाती है। हे सखि ! उसने मेरे साथ यह खेल क्यों खेला है ?—

मुझे न जाना अलि ! उसने
जाना इन आँखों का पानी,
मैंने देखा उसे नहीं
पद ध्वनि है केवल पहचानी,
मेरे मानस में उसकी स्मृति
भी तो विस्मृत बन आती,
उसके नीरव मंदिर में
काया भी छाया हो जाती,
क्यों यह निर्मम खेल सजनि !
उसने मुझसे खेला है ![2]

प्रिय जाने या न जाने, चाहे या न चाहे परन्तु प्रेमी को तो मिटना ही है। हे सखि ! मैंने उसकी स्मृति में जलने को ही जीवन का सर्वस्व माना है। संसार मुझे मतवाली समझे या पागल कहे, पतंग भी तो दीप-शिखा पर जलता है। वास्तव में वह शहीद है। उसके भुनते हुए तन का कण-कण पूजा की वस्तु है—

---

[1] यामा, रश्मि, पृष्ठ १०४।
[2] वही, नीरजा, पृष्ठ १४८।

क्यों जग कहता मतवाली !
क्यों न शलभ पर लुट-लुट जाऊँ,
झुलसे पंखों को चुनवाऊँ,
उन पर दीप-शिखा अँकवाऊँ,
अलि मैंने जलने में ही
जीवन की निधि पाली ![1]

इस प्रकार वे जलने में ही जीवन का कोष पाती हैं। वे चाहती हैं कि वे दीपक की भाँति युग-युगों तक जलती रहें और अपने आराध्य की चिर-अनुरागिनी बनी रहें—

दीप सी युग-युग जलूँ पर यह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसके बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे !
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं ![2]

यही नहीं वे पागल संसार को भी अपने साथ जलने का ही उपहार माँगने की सम्मति देती हैं—

ओ पागल संसार !
माँग न तू हे शीतल तममय !
जलने का उपहार ![3]

जलना विरह की पीड़ा ही तो है। सूफियों की भाँति इस पीड़ा की चिर चाहना हम महादेवी में अत्यधिक मात्रा में देखते हैं। प्रियतम इन जर्जरित प्राणों में चाहे कितनी ही करुणा भर दे और इस छोटी-सी सीमा में अपनी निस्सीमता को मिटा दे पर प्राणों का यह क्रीड़न समाप्त नहीं होगा क्योंकि उन्होंने पीड़ा में ही उसे ढूँढ़ा है और उसमें भी वे पीड़ा ही ढूँढ़ना चाहती हैं—

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो !

[1] यामा, नीरजा, पृष्ठ १५२।
[2] वही, सान्ध्य-गीत, पृष्ठ २१६।
[3] वही, नीरजा, पृष्ठ १२६।

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढा
तुम में ढूंढूंगी पीड़ा ![1]

इस पीड़ा की मधुरिमावश वे अपने लघु जीवन में महान् प्रियतम से तृप्ति का एक कण भी नहीं चाहती। चाहती हैं केवल प्यासी आँखें, जो नित्य आँसुओं का सागर भरती रहें। वे अपने प्रियतम को मानस में बसाना चाहती हैं पर दुःख के आवरण में, जिससे उसे ढूंढने के बहाने कण-कण से परिचित हो जायें—

मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर
तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से ![2]

हम सब और वह एक दिन एकाकार ही थे परन्तु बिछुड़कर पृथक् हो गये। जीवन तभी से उन्माद बना हुआ है, प्राणों के छाले जीवन की निधियाँ बने हुए हैं और मन वेदना-आसव के प्याले पर प्याले माँग रहा है—

जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले,
माँग रहा है विपुल वेदना
के मन प्याले पर प्याले ![3]

जीवन द्रवित होकर विरहाग्नि में वाष्प हो बदली बन गया है। अब तो जीवन की चेष्टाओं में भी जड़ता आ गई है क्रन्दन में भी इतना आकर्षण हो गया है कि विश्व आहत होकर भी मुग्ध हो गया है तथा नेत्रों में दीपक जल रहे हैं और पलकों में तरंगिणी तरंगें ले रही है—

---

1 यामा, नीहार, पृष्ठ ३०।
2 वही, रश्मि, पृष्ठ ७४।
3 वही, नीहार, पृष्ठ ३।

मैं नीर भरी दुख की बदली !
स्पंदन में चिर निस्पंद बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली ![1]

प्रिय से वियुक्त होने पर इन दुखभरी अवस्थाओं से प्रभावित हो महादेवीजी, 'विरह का जलजात जीवन'[2] कहकर जीवन को विरह का कमल बतला रही हैं और यह वरदान चाहती हैं कि हे प्रिय ! जो दुःख को आत्मीय समझता हो, जो वेदना को शीतल और सुगन्धित चन्दन के समान अपने प्राणों से लिपटाये रहता हो तथा जो विषम तूफानों को भी उमंग से आलिंगित करता हो और जो जीवन की पराजयों को जय सा स्वागत देता हो उसके वक्षस्थल की माला के मुक्ताफल मेरे आँसू ही बनें—

प्रिय ! जिसने दुख पाला हो !
जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चन्दन सी,
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय आलिंगन सी
जिसको जीवन की हारें
हों जय के अभिनन्दन सी,
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो ![3]

इन वेदना-भरे गीतों से स्पष्ट द्योतित हो रहा है कि महादेवीजी के मन-मानस में कितना बड़ा तूफान है जिससे वे विक्षुब्ध तो हैं परन्तु प्रिय का स्मारक समझकर वरदान ही मानती हैं। अपना काम तो जलना ही है और वह निरन्तर हो रहा है। प्रिय फिर भी द्रवित नहीं हुआ है अतः उन्होंने निठुर अरूप की अर्चना आरम्भ कर दी है। यह अर्चना बाह्यरूप से नहीं है। उनका लघुतम जीवन ही जिसमें प्रिय का सुन्दर मन्दिर और श्वासें ही अभिनन्दन हैं। अश्रु ही जिसमें अर्घ्य, रोम ही अक्षत, और वेदना ही चन्दन है तथा स्नेह-भरा मन ही दीपक, लोचन-तारक ही विकसित कमल और स्पन्दन ही जलती धूप है, एवं पलकों का ही जिसमें नर्तन और 'प्रिय-प्रिय' जपते हुए अधरों का ही ताल है—

---

[1] यामा, सांध्यगीत, पृष्ठ २११।
[2] वही, नीरजा, पृष्ठ १३०।
[3] वही, पृष्ठ १५८।

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है भिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे ![1]

इसमें हमें निराकार की मानसिक अर्चना का स्पष्ट संकेत मिल रहा है जिसमें जाप की प्रधानता है। हम महादेवीजी की रचनाओं में विरह में सूफियों के जाप और उन्माद तक की अवस्थाओं के चित्र पाते हैं अत उन्हीं का दिग्दर्शन कराया गया है। उनके जीवन में चिर वेदना से जो तड़पन उत्पन्न हुई है वह सूफियों जैसी ही है, ऐसा हम देख चुके हैं। चिरवेदना ही उन्हें प्रिय है अत वे मिलन की भूखी नहीं हैं। हाँ, मिलन को चाहती अवश्य हैं परन्तु मिलने पर भी हर्ष से पूर्व वे प्रिय के पदों को आँसुओं से ही धोना चाहती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार ![2]

इस उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि सूफीमत का हिन्दी साहित्य पर भक्ति काल के प्रारम्भ से लेकर आज तक देश-कालानुसार न्यूनाधिक किसी न किसी रूप में प्रवाह रहा ही है। इसके अतिरिक्त सूफियों ने जो भी साहित्य रचा, वह स्वयं हिन्दी-साहित्य-कोष का एक अमूल्य अंग है। जायसी का पदमावती काव्य तो एक अमर कृति ही है। अन्य प्रेमाख्यानक काव्य एवं मुक्तक काव्य सदैव हिन्दी-साहित्य के अलंकार रहेंगे और हिन्दू-मुस्लिम-एकता की शिक्षा के साथ विश्व-प्रेम की स्मृति दिलाते रहेंगे।

---

[1] यामा, नीरजा, पृष्ठ १७७।
[2] वही, नीहार, पृ० ६३।

प्रेमाख्यानक काव्यों में व्यजना के आधार पर जो वस्तु का विवेचन हुआ है वह सूफियों की एक अनूठी देन है। इतने बड़े महाकाव्य का रहस्यरूप में निर्वहण असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। प्रबन्ध काव्यों का प्रामाणिक रूप में प्रवाह भी इन सूफी काव्यों से बहता है। इनसे पूर्व रासो ग्रन्थ अवश्य थे परन्तु वे भाषा एव भाव की दृष्टि से ऐसे उज्ज्वल नहीं बन सके हैं। स्वय पृथ्वीराज रासो के अनेक अशों की प्रामाणिकता में सदेह है। इन प्रेमाख्यानक काव्यों में रहस्यमयी व्यजना के अतिरिक्त जो प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, विरह-वर्णन, नखशिख-वर्णन, शकुन-वर्णन, युद्ध-वर्णन एव भोजन वर्णन आदि वर्णन हैं वे स्वय तो पूर्ण हैं ही साथ ही भावी कवियों को सदैव ही तत्तद् विषय में पथ प्रदर्शक रहे हैं। इनसे कौटुम्बिक, व्यावहारिक, सामाजिक एव राजनैतिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। मानव-मनोविज्ञान का विश्लेषण भी इनमें सुचारु रूप से हुआ है। हिन्दी-साहित्य के अवधी अग की तो ये पूर्ति ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सूफी मुक्तक काव्य भी अपने विषय में उच्च स्थान रखते हैं। इस सूफी काव्य-धारा का प्रवाह जो भक्तिकाल में धरातल पर बहता हुआ रीतिकाल के अन्तिम भाग में सरस्वती नदी के प्रवाह की भाँति भूगर्भ में विलीन हो गया था, हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में पुन प्रस्फुटित हुआ और उसने आधुनिक रहस्यवाद को जन्म दिया जो हिन्दी साहित्य की परम विभूति है। सूफी काव्य के इस श्रेय की ओर से जो हिन्दी, साहित्य को प्राप्त हुआ है, हम अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकते। इस प्रकार सूफीमत हिन्दी-साहित्य के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ है।

अब हम अग्रिम पर्व में तनिक उर्दू पर भी सूफीमत का प्रभाव दिखाना चाहेंगे, क्योंकि प्रारम्भ में उर्दू की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी वरन इसका मूलरूप हिन्दी था।

सप्तदश पर्व
सूफीमत का उर्दू साहित्य पर प्रभाव

जिसे 'उर्दू' भाषा कहा जाता है वास्तव में उसकी जननी हिन्दी ही है। यदि फारसी के क्लिष्ट शब्दो को निकालकर हम उसे हिन्दी ही कहें तो अनुचित नही। धर्मान्ध एव फारसी के विद्वान् मुसलमानो को छोडकर अन्य मुस्लिम जनता द्वारा भी जो भाषा बोली जाती रही है एव कुछ दिन से जिसे हिदुस्तानी भी कहा जाता रहा है वस्तुत वह हिन्दी ही है। फारसी भी दूर सम्बन्ध से सस्कृत की ही पुत्री है अत मे तो उर्दू को हिन्दी ही मानता हूँ। इसके परिणामस्वरूप यह भी मेरी धारणा है कि साधारण मुस्लिम जनता से इस प्रकार हिन्दी का ही पराक्षत प्रचार हुआ है। साथ ही प्रारम्भ में सूफीमत के प्रभाव से उर्दू साहित्य में जो शरीग्रत का विरोध एव सरलता दीख पडती है उसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप म आजकल चला आ रहा है और उससे यह ज्ञात होता है कि मानव-हृदय हिन्दू-मुस्लिम रूप में ही नही, ससार के किसी भी रूप में विभक्त नही है। विश्व एक प्रभु का बिखरा हुआ रूप है और हम सब उसी के अग है अत हम में कोई अन्तर नही। इसीलिए हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, जैन और पारसी आदि नामों से भेद कर विभिन्न सस्कृतियों एव भारत और पाकिस्तान जैसी क्षेत्र-सीमाओं की स्थापना बुद्धिमत्ता के कार्य नही कहे जा सकते। धर्मान्धता, सकुचितता, भेद-भाव तथा विभाजन आदि विरोधपूर्ण भावनाओ स पूर्ण मनुष्य मानवीय प्रकृति से हीन ही कहे जाने चाहिए। वास्तव में उन्होने पैगम्बरों, अवतारों एव सच्चे धर्मगुरुओं की शिक्षाओं को समझा ही नही। मुसलमानो ने जिस शरीअत की दुहाई देकर सस्कृति की विभिन्नता पर देश का विभाजन कराया हम उसे उर्दू में कहाँ पाते है? आज के कतिपय धर्मान्ध मुसलमानो को छोडकर शेष उर्दू साहित्यकारों की वाणी में हम विश्व प्रेम की ही झलक देखते है अत इस पर्व में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि उर्दू का मूल हिन्दी ही है तथा उसका वास्तविक रूप हिन्दी से पृथक् नही किया जा सकता एव उसके साहित्य में सूफीमत के प्रभाव से शरीअत क विरुद्ध समता और एकरूपता के आधार पर विश्व-प्रेम की जो शिक्षा दी गई है वही सत्य है और उसी का ग्रहण मानव-जीवन की सफलता का लक्षण है।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति—भाषाओं की सज्ञा देश या जाति के नाम पर हुआ करती है परन्तु इसके विरुद्ध जिन भाषाओ की संज्ञा दो जातियों के सम्पर्क और सहवास से हुआ करती है, वह कुछ भिन्न ही होती है। उर्दू की भी यही अवस्था है।

भारत में मुसलमानों के आ जाने पर हिन्दुओं से जब उनका सम्पर्क हुआ तो 'खड़ी बोली' के पूर्व रूप के सम्पर्क से उर्दू का अंकुर जमा और मुसलमानों के सैनिक पडावों, बाजारों एवं आवासों में इसी सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषाओं के सम्मिश्रण से वह पल्लवित हुआ। मुसलमानों के आगमन से लेकर शताब्दियो पर्यन्त हिन्दू और मुसलमानों में संघर्ष रहने एवं फारसी के कठिन होने के कारण हिन्दुओं ने उसे बहुत पीछे सीखा परन्तु मुसलमानो ने इससे बहुत पूर्व हिन्दी का बोलना सीख लिया था। इस हिन्दी का वास्तविक व्यावहारिक रूप वह था जो दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोला जाता था। आज भी उसका यथार्थत. प्राचीन रूप एक मुसलमान द्वारा ही प्रयुक्त होता है।

इसका प्रारम्भिक रूप ग्यारहवी शताब्दी से व्यवहार में आने लगा था। इसी में जब फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा तो यह उर्दू कहलाई। हिन्दी का यही व्यावहारिक रूप लगभग पांच शताब्दियो तक प्रयोग में आता रहा परन्तु इसने साहित्यिक रूप तभी धारण किया जब दक्षिण में पहुँचा और गोलकुंडा एवं बीजापुर के नरेशो से संरक्षण पाया।

पठान बादशाहो ने दिल्ली को राजधानी बनाकर यही की भाषा को अपनाया था। यही नही उनके अधिकाश सिक्को पर हिन्दी लिपि में ही नाम दिये जाते थे। धीरे-धीरे सम्पर्क की व्यापकता के साथ-साथ इस सम्मिलित व्यावहारिक भाषा का क्षेत्र भी बढ़ता गया। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि चन्द, कबीर, सूर एव तुलसी आदि सभी हिन्दू कवियों ने अनेक फारसी शब्दो को तत्सम या तद्भव रूप में ग्रहण किया था तथा इसी प्रकार खुसरो, जायसी एवं रसखान आदि ने हिन्दी को ही अपनी रचनाओं आदि का माध्यम बनाया था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय उर्दू का व्यावहारिक रूप सर्वग्राह्य था।

धीरे-धीरे फारसी के शब्दो की भरमार होती गई और उसी के कुछ नियम भी बर्ते जाने लगे तब वही व्यावहारिक भाषा उर्दू कहलाई। यदि फारसी के शब्दों को निकाल दिया जाय तो उर्दू और हिन्दी में कोई अन्तर नही रह जाता। फारसी के शब्दो का बाहुल्य भी इसके साहित्यिक क्षेत्र में उतरने पर ही हुआ और तभी से यह एक भिन्न भाषा बन गई। खुसरो आदि ने जिस व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है वह उर्दू नहीं कही जा सकती, क्योंकि छन्द और व्याकरणशास्त्र के अनुसार वह हिन्दी ही है। लगभग पांच शताब्दियों तक व्यवहार में आने पर-जब सत्रहवी शताब्दी के मध्य से गोलकुडा के बादशाह मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने फारसी छन्दशास्त्र के अनुसार हिन्दी में काव्य-निर्माण किया तभी से उर्दू का साहित्यिक काल प्रारम्भ होता है।

उर्दू का क्षेत्र—हिन्दी की भाँति बंगाली, गुजराती, राजस्थानी एवं पजाबी आदि भाषाओं में भी अनेक फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ परन्तु वे उर्दू नही कही जा सकती।

उर्दू किसी विशेष स्थान की भाषा नहीं है प्रत्युत जहाँ हिन्दी बोली जाती है तथा जहाँ मुसलमान रहते हैं वहीं और उतने ही स्थान की यह भाषा कही जा सकती है अतः इसका कोई अविच्छिन्न व्यापक क्षेत्र भी नहीं। हिन्दी का व्यवहार उत्तर में हिमालय से नीचे विन्ध्याचल से ऊपर सिन्ध नदी से बिहार तक होता रहा है। अतः उर्दू को भी हम इसी प्रदेश की भाषा कह सकते हैं और वह भी हिन्दी के समान व्यापक रूप से नहीं।

इसके विविध नाम—हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक जिस व्यावहारिक भाषा का नाम उर्दू पड़ा उसके हमें विविध नाम दीख पड़ते हैं, यथा रेख्ता, हिन्दवी, दक्खिनी और हिन्दुस्तानी। तुर्की भाषा में पड़ावा के बाजार को उर्दू कहते हैं। सैनिक पड़ावों में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से ही इस भाषा की उत्पत्ति हुई अतः इसका नाम उर्दू पड़ा। उर्दू शब्द तुर्की होने के कारण प्राचीन अवश्य है परन्तु इसका भाषा के अर्थ में प्रयोग अठारहवीं शताब्दी से ही हुआ। मीर हसन और मीर तकी 'मीर' ने इसका नाम रेख्ता या हिन्दवी लिखा है। रेख्ता का अर्थ मिली-जुली है और यह व्यावहारिक भाषा मिली-जुली तो थी ही। हिन्दवी शब्द हिन्दी का ही रूपान्तर है, जिसका अर्थ हिन्द के रहने वालों की भाषा है। अलाउद्दीन की सेना के साथ दक्षिण में प्रवेश पाने पर कालान्तर में वहीं साहित्यिक रूप धारण करने के कारण इसी का नाम दक्खिनी हुआ। हिन्दुस्तानी या हिन्दोस्तानी शब्द का प्रयोग प्राचीन नहीं है परन्तु वह हुआ इसी व्यावहारिक भाषा के लिए ही था।

इसका साहित्यिक प्रयोग—उर्दू का साहित्यिक प्रारम्भ दक्षिण में गोलकुण्डा एवं बीजापुर के नरेशों के संरक्षण में हुआ था। वे स्वयं अच्छे कवि थे। शनैः शनैः फारसी के ही छन्द, नियम तथा विचारों ने इस पर अपना सिक्का जमा लिया और व्यावहारिक भाषा साहित्यिक क्षेत्र में उतर पड़ी। प्रारम्भ में फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ अवश्य परन्तु यह भाषा का रूप हिन्दी के ही अधिक समीप है। उर्दू का कठोरतम रूप तो अंग्रेज़ों की राजनैतिक चाल का ही परिणाम था जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से ही प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए और जिसकी पराकाष्ठा बीसवीं शताब्दी में ही हुई। दक्षिण के शाही राजवंशों के आश्रय में उर्दू की उन्नति तो हुई परन्तु जब औरंगजेब ने इन राज्यों को नष्ट कर दिया तो साहित्य-क्षेत्र भी नष्ट हो गये। तत्पश्चात् वली ने दिल्ली आकर उर्दू का प्रचार किया। यह समय मुहम्मद शाह का था जिसमें फारसी अदालती भाषा होते हुए भी हिन्दी के व्यावहारिक रूप का अच्छा मान था। नादिरशाह एवं अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से जब दिल्ली पद-दलित हो गई तो उर्दू के मीर एवं सौदा जैसे महाकवि लखनऊ के नवाबी दरबार में चले गये। यहीं से उर्दू की उन्नति का समय प्रारम्भ होता है परन्तु सन् १८५६ ई० में

तुम्हारे लोग कहते हैं कमर है।
कहाँ है, किस तरह की है, किधर है ?

—आबरू

आज तो 'नाजी' सजन से कर तू अपना अर्ज हाल।
मरने जीने का न कर वस्वास होनी हो सो हो॥

—नाजी

दिल मेरा लेके दुबधा में पड़े हो जो इस भाँत।
क्या सजन इसका कोई जग में खरीदार नहीं॥

—यकरंग

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ के उर्दू साहित्य में तथा आगे भी हिन्दीपन व्याप्त हो रहा है। मुहम्मद कुली कुतुबशाह, शाह अली मुहम्मद जीव तथा काजी मुहम्मद बहरी की भाषा तो हिन्दी ही है जिसे दक्षिण में दक्खिनी कहा जाता था।

सूफीमत का प्रभाव—उर्दू की उत्पत्ति से उसके विकास तक का काल मुस्लिम शासन-काल ही है। पहले कहा जा चुका है कि यह समय प्रारम्भ में संघर्षपूर्ण और पुन हिन्दुओं के लिए संकटपूर्ण रहा परन्तु मुसलमानों के यहाँ स्थायी रूप से जम जाने पर परस्पर सहयोग और समन्वय की भावना अनिवार्य थी। इसी के परिणामस्वरूप कबीर, नानक आदि अनेक सन्त हुए जिन्होंने दोनों जातियों की कुप्रथाओं और बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए दोनों को अविरुद्ध मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। जनता तथा शासकों ने इसका महत्त्व समझा। हिन्दी को ही व्यवहार भाषा रखा गया तथा अनेक बुद्धिमान् उनके अनुयायी हो गये। इनके अतिरिक्त सूफी सन्त भी अपने प्रेम-धर्म का प्रचार कर रहे थे। उनके मत पर भारतीय प्रभाव अत्यधिक मात्रा में पड़ चुका था। समय के अनुसार उन्होंने भी अपने को इसी साँचे में ढाल लिया और हिन्दी द्वारा ही जनता को प्रेम का महान् सन्देश दिया। जायसी आदि की प्रेम-कहानियाँ हिन्दी की अमर कृतियाँ हैं। जायसी आदि सूफी कवियों से पूर्व ये लोग व्यावहारिक भाषा ही में अपने मत का प्रचार करते थे। यह व्यावहारिक भाषा दक्षिण में जब साहित्यिक रूप धारण कर उर्दू बनी तब भी सूफी प्रभाव से हम इसे ओतप्रोत ही पाते हैं। उर्दू का साहित्यिक प्रारम्भ कविता से ही हुआ है और उसके प्रारम्भिक सभी कवि प्राय सूफी ही हुए हैं।

उर्दू साहित्य के इतिहास का अध्ययन हमें बतलाता है कि उर्दू के प्रारम्भिक कवि मुहम्मद कुली कुतुबशाह, शाह अली मुहम्मद जीव एवं काजी मुहम्मद बहरी आदि सूफी ही थे। उन्होंने फारसी कवियों का ही अनुकरण किया। उर्दू के यथार्थ में प्रथम कवि वली भी एक कट्टर सूफी थे। उन्होंने सूफी धर्म की दीक्षा फारसी के कवि शाह

सादुल्ला गुलशन से ली थी तथा उन्ही के कहने से उन्होने फारसी के ढग पर दीवान लिखा था। वली के दक्षिण से दिल्ली चले आने पर अनेक कवि,सता में आए जिनमें से अधिकाश सूफी ही थे। आर्जू और आबरू दोनो शेख मुहम्मद गौस के तथा कवि मजमून शेख फरीदुद्दीन शकरगज के वशज थे। मजहर तो एक सूफी फकीर ही हो गये थे। ये नक्शबदी सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा इनके शिष्यो में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही थे। सौदा और मीर की रचनाओ में भी हम सूफीमत की झलक पाते हैं। दर्द तो नक्शबदी सम्प्रदाय के अनुयायी ही थे और ३९ वर्ष की अवस्था में मुरशिद हो गये थे। सहस्रो ही व्यक्ति इनके मुरीद थे। ये सूफीमत के विद्वान् थे अत इनकी रचनाओ में हम विचार-गाम्भीर्य एव ईश्वरीय प्रेम का पूर्ण दर्शन पाते हैं। सोज कवि भी सूफीमत के प्रभाव से दरवेश हो गये थे। जौक और गालिब की अधिकाश रचनायें भी सूफी विचारधारा से ओतप्रोत हैं।

दिल्ली के अतिरिक्त लखनऊ के कवि आतिश आदि भी सूफी प्रभाव से वचित न थे। नजीर अकबराबादी प्रारम्भ में सासारिक प्रेम के ही दास थे परन्तु पश्चात् चेतने पर सूफी हो गये थे और वास्तविक प्रेम में लीन रहने लगे थे। इनकी रचनाओ में हिन्दू-मुस्लिम द्वेष का नाम तक नही है। रामपुर के कवियो में अमीर मीनाई भी सूफीमत के समर्थक और पीर बन गये थे। उनकी कविता में हम सूफीमत का पर्याप्त रग देखते हैं। हैदराबादी कवियो में ख्याति प्राप्त कवि राजा गिरधारी प्रसाद 'बाकी' तथा महाराजा कृष्णप्रसाद 'शाद' की रचनाओ में भी सूफी विचारधारा अधिक मात्रा में मिलती है। आधुनिक काल में भी हम अनेक विषयो के साथ सूफी भावना को यत्र-तत्र व्याख्यात हुआ पाते हैं। बीसवी सदी के प्रारम्भ के पश्चात् अकबर की कविता में सूफी-प्रभाव अधिक दीख पडता है। ये हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षपाती थे और अद्वैत के मानने वाले थे।

इससे हमें ज्ञात होता है कि उर्दू के प्राय सभी सम्मान्य कवि तथा कतिपय अन्य भी सूफी थे अथवा सूफीमत से प्रभावित थे। उनकी कविता में यह प्रभाव साफ दीख पडता है। उर्दू कविता में इश्क (प्रेम) का अखड साम्राज्य है परन्तु पूर्णत हम यह नही कह सकते कि सासारिक प्रेम की प्रचुरता सूफीमत के प्रभाव का दुष्परिणाम थी। इसके विपरीत यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसमें से यदि सूफीमत को निकाल दिया जाय तो अधिकाश कविता वासनामय प्रेम अथवा मिथ्या प्रशसा की रागिनी ही रह जायगी। वास्तव में उर्दू कविता वहीं सुन्दर बन पडी है जहाँ सूफीमत ने अपना रग चढा दिया है। उसी अश में ईश्वरीय सौन्दर्य की जैसी झलक, विश्व-प्रेम का जैसा प्रकाशन, अद्वैत की जैसी व्याख्या और शरीयत का जैसा विरोध हुआ है वह अनुकरणीय है। वही सत्य है और एकान्त धर्म या मजहब की सकुचित शृखलाओ

को तोडकर मनुष्य को उपदिष्ट करता है कि बाह्याडम्बर मानव-जीवन के भूषण नहीं दूषण हैं। उर्दू कविता को यदि ध्यान से टटोला जाय तो शरीअत की दूषित रज हाथ भी न आयगी। यह पहले प्रमाणित किया जा चुका है कि सूफीमत का उद्भाव ही बाह्याडम्बरों के विरोधस्वरूप और नैसर्गिक चाहना के परिणामस्वरूप हुआ था। वही भावना भारत में भी रही तथा उर्दू कविता भी उससे वंचित नहीं है। उदाहरणतः कवियों की निम्न पंक्तियों से यह सिद्ध किया जाता है कि धर्मान्ध मुसलमान जिस शरीअत की दुहाई देते हैं वह शरीअत उर्दू कविता में नहीं है। कुरान इस्लामी धर्म-पुस्तक हो परन्तु वहाँ तो हमें प्रकृति का कण-कण ही धर्म-पुस्तक दीख पड़ता है।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह को उर्दू के प्रारम्भिक कवियों में से प्रथम माना जाता है। वे इस्लाम और इस्लामेतर रीतियों में कोई अन्तर नहीं मानते। उनका कथन है कि हिन्दू और मुसलमान ही क्या, मनुष्यमात्र के कार्य-सम्पादन में ईश्वरीय प्रेम ही मूल कारण है—

कुफर रीत क्या हौर इसलाम रीत, हर एक रीत में इश्क़ का राज़ है।

इसीलिए सूफी किसी धर्म को बुरा नहीं मानते। सभी भिन्न-भिन्न साधनों से एक ही ओर यात्रा कर रहे हैं। ससार में कोई ऐसा स्थान या जाति नहीं है जिस पर सूफीमत ने प्रभाव न डाला हो क्योंकि सूफी शब्द की उत्पत्ति किसी निश्चित काल से सम्बन्ध रख सकती है परन्तु सूफीमत में जो भावना अन्तर्निहित है वह सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। मुक्ति के इच्छुक भी उसी जगदीश्वर से मिलना चाहते हैं, अद्वैत के मानने वाले भी उसी ब्रह्म से एकाकार होना चाहते है, अग्नि-सूर्यादि के भक्त भी उनमें उसी परम वैभव का पता पाते हैं तथा प्रकृति के उपासक भी विभिन्न भूतों में महाशक्ति के नाम से उसी की शक्ति और कण-कण में उसी का सौन्दर्य देखते हैं। यही नहीं नास्तिक भी किसी अज्ञात परम शक्ति से भयभीत होता ही है और सकट में भक्त की भाँति सहारा तकता ही है। जब ऐसा है तो भिन्नता कहाँ? हिन्दू, मुसलमान ईसाई आदि का भेद ही कहाँ? यदि ऐसा कहा जाय कि ससार के सभी सन्त, धर्म-गुरु एव देवदूत सूफी ही थे, तो अनुचित न होगा क्योंकि उन्होंने ससार से विरक्त होकर वास्तविक प्रेम द्वारा अपने मूल को ही खोजने का तो प्रयत्न किया था। वास्तव में हम सब उसी एक शक्ति के अश हैं अत साधन भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक ही है। कुली कुतुबशाह ने भी यही कहा है कि नदियाँ सहस्रों हैं परन्तु समुद्र एक है इसी प्रकार करोड़ों दानों में सार एक ही है—

समदूर है यक हौर नदियाँ हैं सौ हजारों।
दानों सो करोड़ा हैं ये देक रतन हैं॥

कहीं एक कहीं मजनूँ होकर, कहीं लैला होकर तथा कहीं शीरीं और कहीं

फरहाद होकर क्रीडा कर रहा है। शाह अली मुहम्मद जीव सर्वत्र उसी को देखते हैं—

कहीं सो मजनू हो बरेलावे, कहीं सो लैला हुए दिखावे।
कहीं सो खुसरो शाह कहावे, कहीं सो शीरीं होकर आवे ॥

जब सम्पूर्ण जगत उसी का प्रदर्शन है तब भेद कैसा ? मन्दिर मस्जिद में वही एक रम रहा है। मीर दर्द ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

मदरसा या दैर था या काबा था या बुतखाना था।
हम सभी महमा थे या इक तू ही साहबखाना था ॥

शाद भी दैरोकाबे में सर्वत्र उसी का प्रकाश देखते हैं। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

तेरे नूर का जलवा है दैरो काबे में।
बस एक तू है, नहीं और दूसरा कोई ॥

सभी शेख और ब्राह्मण उसी की छत्र-छाया में रहते हैं। शेख का खुदा और ब्राह्मण का ईश्वर कोई भिन्न नहीं है। चोटी-दाढी या अन्य वेष-भूषा से उसे कोई प्रयोजन नहीं। वह तो प्रकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ है अत सृष्टि का कण-कण उसी से प्रकाशित है। मीर दर्द ने इसी भाव को निम्न पक्तियों में स्पष्ट कहा है—

बसते हैं तेरे साया में सब शेख और ब्रहमन।
आबाद तुझी से तो है घर दैरो हरम का ॥

वह ईश्वर सातवें आसमान पर कहीं शासनाधीश की भाँति विराजमान नहीं है। परन्तु मन्दिर, मसजिद एव काबा और काशी में सर्वत्र होते हुए भी उसके लिए कहीं भटकते हुए फिरना सूफियों को मान्य नहीं। उसे ढूंढो कहीं परन्तु मिलेगा हृदय में ही। दर्द भी यही कहते हैं—

शेख काबा होके पहुँचा हम क़िश्ते दिल में हो।
दर्द मंजिल एक थी टुक राह का ही फेर था ॥

मीर तकी 'मीर' ने भी इसी बात को कुछ फेर के साथ इस प्रकार लिखा है कि मैं अपने को पहचानने पर खुदा को पहचान सका। इससे पूर्व तो वास्तव में उससे बहुत दूर था—

पहुँचा जो आपको तो मैं पहुँचा खुदा के तईं।
मालूम अब हुआ कि बहुत मैं भी दूर था ॥

वे तो अपने दिलबर का पता काबे में न पाकर दिल में ही पाते हैं—

शुक्र काबे में कलीसा में भटकते न फिरे।
अपने दिलबर का पता हमने लगाया दिल में ॥

जफर भी मसजिद और मदिर में सिर पटक-पटक कर रह गये परन्तु उन्होंने

जो प्रकाश और वैभव हृदय में पाया उस वहाँ न पा सके—

न देखा वो कहीं जलवा जो देखा खानाए दिल में।
बहुत मसजिद में सर मारा बहुत-सा ढूँढा बुतखाना॥

सूफियों के अनुसार संसार में बिखरा हुआ सौन्दर्य उसी ईश्वर का है अत किसी भी मन्दिर या मसजिद से बढ़कर वह स्थान है जिसके सौन्दर्य-दर्शन से हमें अपने स्रोत की स्मृति हो आती है। कवि अकबर ने इसी बात को काबे से इंगलिस्तान को सुन्दर बताकर उपहासपूर्ण शब्दों द्वारा निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दरता से कहा है—

सिधारें शेख काबे को हम इंगलिस्तान देखेंगे।
वह देखें घर खुदा का हम खुदा की शान देखेंगे॥

उर्दू के चार स्तम्भों में एक प्रसिद्ध कवि सौदा ने भी मुसलमान और अन्य जातियों का भेद न देखते हुए शेख को सम्बोधित कर स्पष्ट ही कहा है—

किस की मिल्लत में गिनूँ आपको बतला ऐ शेख।
तू कहे गबर मुझे गबर मुसलमां मुझको॥

इस प्रकार जहाँ हम शरीअत के विरुद्ध एक ईश्वरीय सत्ता के कारण उर्दू कविता में मन्दिर-मसजिद एवं हिन्दू मुसलमान का कोई भेद नहीं देखते तथा सबको समान पाते हैं वहाँ बाह्याडम्बरों का भी विरोध देखते हैं। नीचे कुछ प्रसिद्ध कवियों के पद्य दिए जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे जनेऊ और माला को समान रूप से कोई महत्त्व नहीं देते—

गर हुआ है तालिब आजादगी, बन्दा मत हो सज्ञा ओ-जनार का।

—वली

आफत है कैद सज्ञा-ओ-जनार जां को, तारे हयात में नहीं गुत्थियां पसन्द।

—सबा

देखना कैद ए ताल्लुक़ में न आना आजाद। दाम आते हैं नजर सज्ञा ओ-जुनार मुझे॥

—आजाद

इन प्रमाणों से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उर्दू कविता में शरीअत का स्पष्ट उल्लंघन है। अब हम इसमें सूफीमत के कुछ सिद्धान्तों को खोजना चाहते हैं। सर्वप्रथम ईश्वर और विश्व पर ही विचार करते हैं। पहले यह आये हैं कि सूफी लोग सृष्टि को ईश्वर के ही सौन्दर्य का प्रदर्शन मानते हैं। उसी ने संसार के विविध नाम और रूपों में अपने को ही प्रदर्शित किया हुआ है। हम सब उसी प्रकाश-पुंज की किरणें हैं। मुहम्मद कुली कुतुबशाह का कहना है कि अखिल विश्व उसी की ज्योति से दीप्त हो रहा है अतः कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो उसके प्रकाश से विहीन हो—

सम्पूरन है तुझ जोत सों सब जगत।
नहीं खाली है नूर पे कोई शै॥

भला ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ वह नहीं। वह सर्वत्र है—

किस ठार में बसता नहीं सब ठार है भरपूर।

'मैं' और 'तू' कोई भिन्न भिन्न नहीं है। संसार के विविध प्राणी नामरूपोपाधि भेद से अपने को भिन्न समझते हैं परन्तु वास्तव में वे एक ही हैं। काजी मुहम्मद बहरी कहते हैं कि कण-कण में उसी का रूप भरा हुआ है। वह एक है और सब उसी में रंग है—

ऐ रूप तेरा रत्ती रत्ती है, परबत परबत पती-पती है।
तू यक यूं तमाम रंग तेरा।

वली भी दूसरे शब्दों में यही कह रहे हैं—

हर जर्रं ए आलम में खुरशीद हकीकी।

सौदा समझाते हुए कहते हैं कि भला देख तो विश्व के पदार्थों में प्रकाश किसका है—

हर एक शै में समझ तू जहूर किसका है ?
शरर में रोशनी शोला में नूर किसका है ?

इसका उत्तर वे एक स्थान पर स्वयं इस प्रकार देते हैं—

जलवा हर एक जर्रह में है आफताब का।

ईश्वर एक महान् सूर्य है। उसी का प्रकाश कण-कण में भरा हुआ है। दर्द को भी भली भांति इधर उधर देखने पर उसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिगोचर न हुआ—

जग में आकर इधर-उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा॥

जफर, मीर तकी 'मीर' और गालिब भी भिन्न भिन्न शब्दों से सर्वत्र उसी के प्रकाश वैभव का प्रतिपादन करते हैं—

गुल में क्या शोला में क्या माह में क्या महर में क्या।
सब में है नूर वही नूर-ए-जमाल और नहीं॥

—जफर

जलवा है उसी का सब गुलशन में जमाने के।
गुल फूल को है उसने दीवाना बना रक्खा॥

—मीर तकी 'मीर'

है तजल्ली तेरी सामाने वजूद।
जर्रा बे पर तू ए खुरशीद नहीं॥

मीर अनीस ने ईश्वर को सम्बोधित कर इसी बात को कितने सुन्दर ढंग से कहा है कि उपवन में तेरी ही खोज होती है, बुलबुल की वाणी में तेरा ही गान होता है और प्रत्येक पुष्प में सौरभ भी तेरा ही है। अधिक क्या कहना, प्रत्येक वस्तु में तेरा ही वैभव व्याप्त हुआ पड़ा है—

गुलशन में सबा को जुस्तजू तेरी है
बुलबुल की जबां पै गुफ्तगू तेरी है।
हर रंग में जलवा है तेरी कुदरत का
जिस फूल को सूंघता हूँ बू तेरी है॥

इस प्रकार उर्दू के प्राय सभी प्रसिद्ध कवि ईश्वर और विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन सूफी ढंग पर ही करते हैं। जो शरीअत के मार्ग से भिन्न है। विश्व कोई ईश्वर से पृथक् वस्तु नहीं है जिस प्रकार लहरें समुद्र से और किरणें सूर्य से। सूफीमत के अनुसार सब कुछ उसी का प्रदर्शन होते हुए भी मनुष्य को उसका प्रतिरूप माना गया है। मीरदर्द ने कहा है कि उसका प्रकाश-वैभव तो सर्वत्र ही व्याप्त हो रहा है परन्तु उस जैसा तो मनुष्य ही है—

जलवा तो हर इक तरह का हर शान में देखा।
जो कुछ कि सुना तुझ में वो इंसान में देखा॥

मनुष्य ईश्वर का प्रतिरूप है इसीलिए वह कभी-कभी हृदय में उससे मिलने की सोचा करता है। यही चाहना प्रेम का रूप धारण कर लेती है और प्रबल होकर मनुष्य को प्रेमी बना देती है। फिर वह उसकी ओर चलता है और प्रेम-मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। मिलन से पूर्व उसकी विकलता बढ़ती ही रहती है और प्रेम पक्का रहता है। सूफीमत के अनुसार सत्य-प्रेम को पहचाना ही जीवन का लक्ष्य है। उर्दू कविता में भी इस वास्तविक प्रेम का बड़ा विवेचन हुआ है। कुतुबशाह ने प्रेम-हीन पुरुष को क्रूर कहा है—

नहीं इश्क जिस को बड़ा कूर है।

इसीलिए वे 'तुम बिना रह्या न जाय' कहकर प्रेमाधिक्य में अपनी विरह-विकलता को ही प्रकट करते हैं और साकी से एक प्याला प्रेमानंद पिलाने के लिए कहते हैं क्योंकि उसी के पीने से भला होता है तथा प्रियतम को लाकर मिलाने के लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि उसके मिलने पर ही उन्हें चैन मिलेगा—

साकी प्याला मुज पिला प्याला पीने होना भला।
उस पीउ को तू लाकर मिला जिस पीउ से मुज आराम है॥

सौदा भी अपने को प्रेम में पागल बताते हुए प्रियतम को शमा और अपने को परवाना बतलाते हैं—

इश्क की सलतनत से आगे मैं तेरा दीवाना था।
सग में आतिश थी जब तू शमा मैं परवाना था॥

यह प्रेम या पागलपन ईश्वर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से विरक्ति पैदा कर देता है। मीर तकी 'मीर' ने इसी पागलपन में इस विश्व को स्वप्नमात्र ही देखा था—

मस्ती में शराब के जो देखा, आलम यह तमाम ख्वाब निकला।

आतिश ने लिखा है कि वे प्रेम में इतने लीन थे कि उन्हें इधर-उधर का तनिक भी ध्यान न था—

तरीके इश्क में दीवाना वार फिरता हूँ।
खबर गढ़े की नहीं है कुंआ नहीं मालूम॥

इस प्रेम के मार्ग पर जो चल पड़ता है, उसे कोई कष्ट नहीं दीख पड़ता। उसके लिए सूली भी शय्या हो जाती है। जीवन का श्रम उसे भार प्रतीत नहीं होता। वह तो सिर के बल भी चलने के लिए उद्यत रहता है—

ठहरे न फिर जो राह में तेरे निकल चले।
शल हो गये जो पाँव तो हम सर के बल चले॥

—आतिश

सच्चा प्रेमी अपने प्रियतम के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता अत. उसे इस्लाम और कुफ्र कुछ भी दीख नहीं पड़ता। उसे न मन्दिर से प्रयोजन है, न मस्जिद से। उसे केवल उसी से प्रयोजन है जिसने उसे पागल बना दिया है—

किसको कहते हैं नहीं मैं जानता इस्लाम व कुफ्र।
दैर हो या काबा मतलब मुझको तेरे दर से है॥

—मीर तकी 'मीर'

आतिश का कहना है कि जब मनुष्य प्रेम से पागल हो जाता है तब किसी मत-मतान्तर का अनुयायी नहीं रहता। रहे कहाँ से वह तो प्रेम में इतना मग्न है कि अब बुद्धि भी उसका साथ नहीं देती—

कैद मजहब की गिरफ्तारी से छूट जाता है।
हो न दीवाना तू है अक्ल से इसान खाली॥

वली भी यही कहते हैं कि जब से वह प्रीतम दिखलाई दिया है तब से प्रेमाग्नि ने बुद्धि को भी जलाकर भस्म कर दिया है—

यो सनम जब से बसा दीदए हैरां में आ।
आतिश इश्क पड़ी अक्ल के सामान में आ॥

जब प्रेम बुद्धि को नष्ट कर देता है तब प्रेमी अपने को भी भूल जाता है और ' वास्तविकता का परिचय प्राप्त होता है। फिर उसे अपने और ईश्वर के मध्य

कोई भेद प्रतीत नहीं होता। वह समझता है कि वही प्रेमी है और वही प्रियतम। सौदा भी अपने को ही आशिक और माशूक समझते थे—

मैं आशिक अपना और माशूक अपना आप हूँ प्यारे।

दर्द भी निम्न पंक्ति में यही कह रहे हैं—

माशूक है तू ही तू ही आशिक।

मीर भी दूसरे शब्दों में इसी भाव को प्रकाशित करते हैं—

अपने ख्याल ही में गुजरती है अपनी उमर।

इस प्रकार उर्दू में प्रेम-मार्ग में अद्वैत का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। सूफीमत में इस प्रेम-साधना में प्रेमी के हृदय का बड़ा महत्त्व है। हृदय ही प्रियतम का मन्दिर है। खोजने पर वह वहीं मिलता है। सूफियों ने हृदय को मांस-पिंड न मानकर चेतन शक्ति ही माना है। यदि यह कहा जाय कि आत्मा और हृदय में केवल नाममात्र का ही अन्तर है तो अनुपयुक्त न होगा। हृदय में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्राय इस पर पाप-मल का आवरण रहा करता है इसलिए ईश्वरीय प्रकाश का अनुभव भी नहीं के तुल्य होता है परन्तु जब यह दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है तो इसमें सत्स्वरूप प्रतिबिम्बित होने लगता है और ईश्वरीय प्रकाश हो जाता है। बस, यही आत्मानुभूति है, प्रिय की प्राप्ति है अथवा महामिलन है। मीर दर्द ने कहा है कि यदि हृदय स्वच्छ हो तो उसमें ही नहीं, विश्व में चतुर्दिक् उसी का सौन्दर्य दीख पड़ता है—

ऐ दर्द कर टिक दिल को आइनाए साफ़ तू।

फिर हर तरफ़ नजारा हुस्ने जमान कर॥

हृदय की पवित्रता के निमित्त संसार से मुख मोड़ना आवश्यक है, इसीलिए सूफी प्रेम-साधना के लिए अपने प्रियतम के विरह में सब कुछ त्याग देते हैं। भूख-प्यास भी उनकी दासी हो जाती हैं। कभी-कभी तो उन्हें अपने तन की भी सुध नहीं रहती। संसार का तो क्या जब तक अपने शरीर तक का ध्यान रहता है प्रेम-साधना नहीं हो सकती। आतिश भी यही कहते हैं कि संसार में लीन होकर मुरीदी पाना असम्भव है—

तलब दुनिया को करके जन मुरीदी हो नहीं सकती।

संसार से मुख मोड़ना धन, पुत्र, कलत्रादि सभी से मुख मोड़ना होता है। इधर-उधर ईश्वर की खोज में भटकना व्यर्थ है। पूजा-स्थानों या तीर्थों में सिर मारना अपने को नष्ट करना है। वह तो हृदय में ही है अतः वहीं उसे खोजना चाहिए—

काबा औ दैर में ना फ़हमो से फिरता है खराब।

दूर समझा है जिसे वह करीब इमान से॥

—आतिश

प्रेमी को संसार-त्याग से भी सन्तोष नहीं मिलता। वह अपने प्रियतम की

स्मृति और जाप में अपने को भी भूल जाता है क्योंकि वह जानता है—

खुदी बगर मिटाए खुदा नहीं मिलता।

तक उसने अपने को भुलाया नही है वह लीन कैसे हो सकता है ? यहाँ पर खुदी से तात्पर्य अपनी पृथक् सत्ता को भुला देने से है। जब प्रेमी को अपनी पृथक् सत्ता का ही भान नही होता तब उसे पूर्णत लीन समझना चाहिए। इसी को सूफी फना की अवस्था कहते हैं। इसी तल्लीनता की अवस्था को वली ने किस सुन्दरता से कहा है—

चमन में वहर के हरगिज नहीं हुआ मालूम।
कि कब है फस्ल रबी और कहाँ है फसल खिजां॥

मीर भी बेखुदी से अपने को भूलकर कहते है—

बेखुदी ले गई कहाँ हमको देर से इतज़ार है अपना।

ग़ालिब भी इस आत्म-विस्मृत अवस्था को इस प्रकार कह गये हैं—

हम वहाँ है जहाँ से हम को भी
कुछ हमारी खबर नहीं आती।

इसी फना की अवस्था के विरुद्ध सत्पक्ष को बका कहते हैं अर्थात् आत्म-रूप ईश्वर की प्राप्ति है। सूफीमत मे इसी अवस्था को प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है। यही जीवात्मा अपने मूल से मिल जाता है। यही उसे ससार की वास्तविकता का पता प्राप्त होता है। ऐजाज ने कहा है कि जिन्हे अपना भी भान नही, जो अपनेको भुला चुके हैं, वास्तव में ससार की वास्तविकता का पता उन्होने ही पाया है—

उन्हीं को दुनियाँ की सब खबर है जिन्हे कुछ अपनी खबर नहीं है।

उपरिलिखित विवेचन से हम इस परिणाम पर आते है कि उर्दू-साहित्य का धान अग काव्य भी सूफी-भावना से ओतप्रात है। एक तो कवि स्वय ही स्वच्छन्द प्रकृति का होता है और दूसरे उस पर उदार भावना का प्रभाव हो तब तो वह और भी स्वतन्त्र हो जाता है। उदारता उसके हृदय की देवी हो जाती है और फिर वह भाव-सकोच की शृखलाओ से आबद्ध नही रह सकता। उर्दू कवियों पर भी प्रारम्भ से जो सूफी प्रभाव रहा उसने उन्हे विशालहृदयता दी और साथ ही शरीअत की सीमाओ का उल्लघन करने का साहस प्रदान कर उन्हे विश्व-प्रेम का पुजारी बनाया। उन्होंने भली भाँति समझ लिया था कि शरीअत तो केवल अन्धाधुन्ध सिर झुकाने के बराबर है तथा वास्तविकता तो उस विश्वात्मा में ही मन लगाना है जिसका प्रकाशमय रूप-वैभव विश्व के कण-कण में दृष्टिगोचर हो रहा है। वही सब का स्रोत है अत उसी में लीन हो जाना ही जीवन की सार्थकता है। जब वही है और सब स्वप्नमात्र है तब आकृति, वेष-भूषा, भाषा, स्थान एव मत-मतान्तर के भेद से मनुष्यो में भेद ही

कहाँ ? इसीलिए उदार उर्दू कवियों ने भी मन्दिर-मस्जिद, काबा-काशी, जनेऊ, मा तथा हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद न देखा और यह समझ लिया कि सभी उसी के हैं अतः सभी उसी की प्राप्ति के लिए विकल हैं तथा साधन भिन्न-भिन्न होते हुए सभी उसी ओर यात्रा कर रहे हैं। इसी के परिणामस्वरूप उर्दू कवियों ने अनेक स्था में बड़े मनोहर उपदेश दिये हैं, जिनमें मनुष्य के वास्तविक गुणों का परिचय मिल है। ग़ालिब ने निम्न पद में बड़े सुन्दर शब्दों में मानव-कर्त्तव्य को सुझाया है। कहते हैं कि यदि तुम से कोई बुरा कहे तो कान भी न दो और यदि कोई बुरा करे उससे कहो तक नहीं तथा यदि कोई उन्मार्ग पर चले तो उसे रोक दो और यदि को अपराध करे तो उसे क्षमा कर दो—

न सुनो गर बुरा कहे कोई, न कहो गर बुरा करे कोई।
रोक लो गर चले ग़लत कोई, बख़्श दो गर ख़ता करे कोई॥

आत्म-निन्दा पर ध्यान तक न देना, अपकारी से क्रुद्ध न रहना तथा निष्प्रयोज उन्मार्ग-गामी को सन्मार्ग पर लाना और अपराधी को क्षमा कर देना उदारता के लक्ष हैं। इन शब्दों में संकुचितता को तिलाञ्जलि दे दी गई है। वस्तुतः इस विशालता के मन्दिर में दूसरा कोई नहीं है, सभी अपने प्रियतम के रूप हैं अतः कोई काफ़िर नहीं। और दर्द ने लिखा है कि तू किसी को भिन्न न समझ। यदि तुझे कोई दूसरा दृष्टि गोचर होता है तो उसमें अपने प्रियतम को ही निहार और यदि कोई बन्दा दृष्टिपथ में आवे तो उसमें ख़ुदा को ही देख—

बेगाना गर नज़र पड़े तो आशना को देख।
बन्दा गर आवे सामने तो भी ख़ुदा को देख॥

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि यह उर्दू (सूफ़ी) साहित्य इस्लामी शरीअत का प्रतिनिधि नहीं वरन् मनुष्यमात्र की एकता का प्रतिपादक है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि भारत की विशिष्ट संस्कृति का यह निर्मल दर्पण है जिसमें इस्लामी शरीअत के स्थान पर भारतीयता का प्रतिबिम्ब भासमान है।

अष्टादश पर्व

उपसंहार

निश्चित देश, काल तथा धर्म का सहारा लेकर एक निश्चित जाति द्वारा प्रसारित होने से सूफीमत ने मुस्लिम रहस्यवाद का नाम अवश्य पाया परन्तु इसमें जो भावना व्याप्त हो रही है वह किसी एक देश, एक स्थान, एक धर्म और एक जाति से सम्बन्ध नहीं रखती। यही कारण था कि नूतन धर्म के सत्ता में आते ही तलवार का भय विद्यमान रहते हुए भी उसी के अनुयायियों के मध्य उन्हीं के द्वारा प्रतिपालित विधि-विधानों एवं बाह्याडम्बरों के विरुद्ध इसने अपने आकार को फैलाया, जिसकी विशालता में भी इस्लाम के विरुद्ध भय के स्थान पर वह आकर्षणपूर्ण सौन्दर्य था कि जिसने अपनी छटा को एक बार यूरोप के पश्चिम से लेकर एशिया के सुदूर दक्षिण-पूर्वी देशों तक छिटका दिया। यह तो एक प्रकाश-स्तम्भ है जिसके प्रकाश में सभी बिना किसी भेद-भाव के अपने-अपने मार्ग को देख पाते हैं। इसकी तरलता में कठोरता है, न सकुचितता और न इसे किसी देश, जाति या धर्म की सीमा ही आबद्ध कर सकती है। यह तो एक नैसर्गिक भावना है जिसकी सर्वग्राहकता ब्रह्म की भाँति समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रही है। इसीलिए जहाँ भी इसका सदेश पहुँचा, वहाँ भला किसने उसका स्वागत न किया? सदेश भी प्रेम का और वह भी ईश्वरीय!

सूफियों का ईश्वर किसी एक जाति या धर्म का विशेष गुणों से युक्त अल्लाह, गौड, राम अथवा अन्य किसी सज्ञारूप ईश्वर नहीं है। वह न किसी एक स्थान पर बैठा है, न अवतार लेता है और न शासनाधीश की भाँति कहीं से विश्व का सचालन करता है। वह तो एक व्यापक शक्ति है जिसे किसी भी निश्चित नाम से पुकारा जा सकता है। हम सब उससे पृथक् नहीं हैं। वही हमारा स्रोत है अत हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध और पारसी नाममात्र में ही भेद है। सभी का लक्ष्य विविध साधनों से एक ही स्थान पर पहुँचना है और वह है अपने मूल विश्वात्मा से एकरूपता। जाप सुमरनी पर हो या खड़ताल बजाकर, आराधना मन्दिर में हो या मसजिद में अथवा किसी अन्य स्थान में और अन्य रूप से हो तथा एकान्त में तपश्चरण किया जाय या समाधि लगाई जाय परन्तु इन सब का उद्देश्य एक ही है। उसका नाम आत्मबोध, ईश्वर प्राप्ति, ससार से मुक्ति, निर्वाण, महामिलन एवं साक्षात्कार कुछ भी कहा जा सकता है। भेद तो केवल नाम में ही है अन्तर्भावना में नहीं। इसीलिए ईरान आदि देशों में आर्य धर्म के सम्पर्क से विकसित होकर जब सूफीमत भारत में आया तो उसने

अपने को यहाँ के साँचे में डाल लिया। भक्ति-मार्ग के विविध साधनों में उपयुक्त साधन को ग्रहण कर दिव्य प्रेम का संदेश दिया और बताया कि इसी प्रेम द्वारा हमें उस विश्वात्मा की झाँकी मिल सकती है जिसके विरह में हम तुम ही नहीं पत्ती-पत्ती तक विकल हो रही है।

सूफीमत में ईश्वर के अतिरिक्त सब कुछ न कुछ है अतः देश, धर्म और जाति आदि के भेद भी न के तुल्य ही हैं। सम्पूर्ण मानव-जाति ही एक जाति है, विश्व में सचाई-प्यार ही एक मानव-धर्म है और ब्रह्माण्ड ही एक देश है। इसलिए देश, धर्म या जाति के नाम पर लड़ना कोरी मूर्खता है, मानवता का हनन है और ईश्वरीय आज्ञाओं का साग्रह उल्लंघन है। सूफियों ने इसी भावना से प्रेरित होकर फारसी, हिन्दी, उर्दू आदि सभी भाषाओं द्वारा एक ही प्रेम का सन्देश सुनाया। यहीं तो मनुष्य एक स्तर पर आकर बैठता है और अन्धकार के अभाव में प्रकाश द्वारा सन्मार्ग पर चलता हुआ अपने प्रियतम की ओर ही प्रस्थान करता है।

विश्व के सभी महात्मा यथार्थ में सूफी ही हैं। वे विविध देश, वेश और भाषाओं में कालानुसार विभिन्न तारों पर एक ही राग गाते हैं। राम, कृष्ण, बौद्ध, महावीर, ईसा, मूसा और मुहम्मद आदि सभी महात्मा एक ही संदेश लेकर आये थे और वह था नश्वर संसार से नाता तोड़कर विश्वात्मा में मिल जाना। वह मन्दिर-मसजिद आदि पूजा-स्थानों एवं काबा-काशी आदि तीर्थों में मिलने वाला नहीं है। वह तो निर्मल हृदय में ही मिलता है अतः संसार से विरक्त होकर केवल उसी से प्रेम करते हुए उसको वहीं पर खोजना चाहिए। उपर्युक्त देवदूतों एवं महापुरुषों की भाँति सहस्रों साधु-सन्तों ने यही उपदेश दिया है और भविष्य में भी यही संदेश सुनाई देता रहेगा।

सूफीमत ने दिव्य प्रेम की आड़ में जो विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाया है वह मानव-समाज के लिए ही नहीं प्राणिमात्र के लिए एक वरदान है। दया, क्षमा, सहानुभूति और सहकारिता आदि महान् गुण विश्व प्रेम के ही अनुचर हैं। इनके सद्भाव में हिंसा, असत्य, स्तेय तथा अन्य दुराचरणों का पग रखने का भी स्थान नहीं मिलता अतः विश्व-प्रेमी का हृदय सदैव निर्मल हुआ करता है और वही सच्चा ईश्वर प्रेमी होता है। वर्तमान काल में महात्मा गांधी इसके पूर्ण आदर्श थे। उनके रामराज्य में यही पूत भावना तो अन्तर्निहित थी, जिसे संसार न समझ सका। विश्व की शान्ति-स्थापक संस्थाएँ भी तो सन्धियों द्वारा उसी संदेश का प्रचार करती हैं जिसके अभाव में युद्ध पर युद्ध होते हैं परन्तु फिर भी युद्धों की समाप्ति नहीं होती। वास्तव में भ्रातृ-भाव की व्यापक स्थापना सूफीमत के आधार पर की जा सकती है। आप उसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं परन्तु उसकी अन्तरात्मा एक ही रहेगी।

प्रकृति भी मूक भाषा में अपने कण-कण से इसी सदेश को देती है। यही कारण है कि प्रकृति का प्रेमी कवि उसमें एक व्यापक चेतन सत्ता का आभास पाता है और उस मूक भाषा को समझकर स्वय भी वही राग अलापने लगता है। कवि इसीलिए धर्म-पुस्तकों की आज्ञा का अनुचर नही रहता। उसे तो ईश्वरीय सौन्दर्य के वैभव से परिपूर्ण सम्पूर्ण प्रकृति ही धर्म-पुस्तक दीख पडती है। वह उसे ही पढ़ता है और विषमता से परे समता का राग सुनाता रहता है। इसी को हम ईश्वरीय प्रेरणा कह देते हैं ऋषि-मुनियों एव पैगम्बरों को यही प्रेरणा प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ करती है।

इस प्रकार सूफीमत को हम एक विश्व धर्म कह सकते हैं क्योंकि इसका सार विश्व का सार है। इसकी छत्र-छाया सर्वत्र समान रूप से पडती है अत यहाँ सभी समान है। भिन्न-भिन्न मत दूसरों को पराया बताते हैं परन्तु यह परायों को भी अपना बताता है। यद्यपि सफी नाम से आज इसका ह्रास सा दीख पडता है परन्तु ससार में शान्ति दूतो एव शान्ति सस्थाओं से इसी की भावनाका तो प्रचार हो रहा है तथा शान्ति के उपायों में नाम भेद से इसी के प्रेम-मार्ग का बोलबाला है। ठीक भी है, इसके अतिरिक्त शान्ति भी कहाँ है ? भेद-भाव से परे प्रेम के साम्राज्य में ही तो शान्ति पैर पसारकर सोती है और चैन की वशी बजती है। इसके अतिरिक्त सब कुछ कोलाहल-पूर्ण है—युद्ध, कलह और हलचल से परिपूर्ण नितान्त मरुस्थल है।

ससार में प्राणिमात्र का अध्ययन मनोवैज्ञानिको को इस निष्कर्ष पर लाया है कि प्रेम का कोई न कोई रूप सभी में न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है। इसलिए सभी में सहयोग की भावना मिलती है। क्रोध, द्रोह आदि मानसिक विकारों को छोडकर प्राणियो में सुख और शान्ति की चाहना भी इसीलिए है। यह भाव सदैव से है और सदैव रहेगा। भविष्य में सूफीमत की उपयोगिता इसी में है कि क्षुब्ध और विपन्न प्राणियो को यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप स इसी नाम या भिन्न नाम द्वारा प्रेम और शान्ति का पाठ पढाता रहेगा। यह कहा जा चुका है कि सूफीमत में जो अन्तर्निहित भावना है वह सार्वत्रिक एव सार्वकालिक है अत अभिधान से कोई प्रयोजन नही। भविष्य में जब भी प्रेम प्रचार, शान्ति प्रयत्न, सगठन-कार्य एव सहयोग विधान होगे उसमें सूफीमत की भावना काय कर रही होगी तथा प्रेम प्रचारक, शान्तिकारक, सगठन-कर्त्ता एव सहयोग विधायक—चाहे वह पीर हो या पैगम्बर, कोई सत पुरुष हो या अवतारी—सभी के रूप में एक सूफी रहा हुआ होगा। वास्तव में बापू का रामराज्य अर्थात् ससार में स्थायी शान्ति-स्थापना प्रेम-मार्ग द्वारा ही हो सकती है।

सूफीमत की यात्रा में हम तीन मुख्य प्रस्थान पाते हैं—(१) अरब, (२) ईरान, और (३) भारत। ये सूफीमत के प्रस्थानत्रय कहे जा सकते हैं। इस मत ने अरब में ज्ञान-मार्ग सिखलाया, ईरान में आध्यात्मिक प्रेम अथवा भक्ति मार्ग की घोषणा की

भारत में ज्ञान और भक्ति के आधार पर कर्म-मार्ग की प्रेरणा दी। कर्म-मार्ग से तात्पर्य यही है कि उन्होंने ऊँच नीच तथा छुआछूत के भाव को मिटाकर हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव के स्थान पर निर्विवाद की स्थापना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने भागवत धर्म के रहस्यात्मक प्रणयवाद की आध्यात्मिक व्याख्या की और हिन्दी-साहित्य को छायावाद एवं रहस्यवाद से विभूषित किया।

हिन्दी काव्य पर सूफी विचारधारा का जो अनूठा प्रभाव पड़ा है उससे हिन्दी-साहित्य की बहुत समृद्धि हुई है। भक्ति-मार्ग की कविताओं में साकार रूप को मिटाए बिना निराकार की प्राप्ति का मार्ग-प्रदर्शन सूफीमत की अभिव्यञ्जनात्मक शैली का ही परिणाम है। इस शैली के अनुकूल नामरूपादि सब साकार परमार्थ सत्ता के प्रतीक हैं। इस प्रतीकार्थ की अभिव्यञ्जना-शक्ति परमार्थ सत्ता के ज्ञान की प्राप्ति के लिए सहायक है इसीलिए मान्य हैं। इस अर्थ शैली ने हिन्दी-साहित्य को यह ज्ञान पहुँचा कि परम्परागत साकारोपासना का त्याग किये बिना निराकार की उपलब्धि का मार्ग प्रदर्शित हो गया। प्राचीन मर्यादा भी न टूटी और विचार भी आगे बढ़ा। यही विचार-धारा आधुनिक हिन्दी-काव्य में छायावाद एवं रहस्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई, जिसने हिन्दी-काव्य की शोभा में चार चाँद लगा दिये। सकीर्णता, संकोच, नियन्त्रण इन सबके स्थान में अब इसी विचारधारा के प्रभाव से उदारता, व्यापकता, सहिष्णुता तथा स्वातन्त्र्य की हिन्दी साहित्य में श्री-वृद्धि हुई और भविष्य में होने की आशा की जा सकती है।

इस उपयोगिता और महत्ता को दृष्टि में रखते हुए मैंने इस विषय को चुना तथा नैसर्गिक भावना से सम्बन्धित रूप में प्रतिपादित किया है। निकल्सन आदि विद्वानों द्वारा मान्य सूफी शब्द की सूफ (ऊन) से व्युत्पत्ति के प्रति मेरी उपेक्षा में भी यही कारण है क्योंकि इतनी प्रशस्त भावना और महान् सिद्धान्त के अनुयायी एवं प्रचारक का सूफी अभिधान केवल ऊनी वस्त्र के आधार पर पड़ा हो, यह उपयुक्त ज्ञात नहीं होता। इससे पृथक् सोफिया अर्थात् ज्ञान (म० स्वनाम) से इसके वास्तविक लगाव में मैंने अपनी रुचि प्रदर्शित की है क्योंकि सूफी अन्तर्दृष्टि से ही हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का अभेद रूप से साक्षात्कार करते हैं। अरब, सीरिया, मिस्र, फारस एवं स्पेन आदि स्थानों में विविध विचारधाराओं से प्रभावित होकर तथा विकास को प्राप्त होकर भी इस मत ने विशालहृदयता को न छोड़ा तथा पुनः भारत में प्रवेश पाकर यहाँ के वातावरण में इसने उसी उदारता से सबको प्रेम का पाठ पढ़ाया—इसके इतिहाससहित सविस्तर विवेचन में तथा इस मत के उज्ज्वल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी मुझे इसकी महती उपयोगिता ने ही प्रेरणा दी है।

ऐसा महान् एवं उपयोगी विषय हिन्दी में अब तक अधिकांशतः उपेक्षित-सा ही था। यद्यपि श्री चन्द्रबली पांडे ने अपनी 'सूफीमत अथवा तसव्वुफ' नामक पुस्तक में

सूफीमत का विशद विवेचन किया है तथापि उन्होने केवल मोटे रूप में ही उसे व्याख्यात किया है । भारतीय सूफियो ने यहाँ की विचारधाराओ से प्रभावित होकर हिन्दी में प्रेमाख्यानक एव मुक्तक काव्यो द्वारा सूफीमत के सिद्धान्तो को जिस रूप में रखा उसको उन्होने नही छुआ है । इनके अतिरिक्त विविध इतिहास की पुस्तको में इस विषय के केवल संकेत ही मिलते हैं । श्री रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानो ने जायसी तथा नरमुहम्मद आदि की कुछ रचनाओ का सम्पादन करते हुए उनकी भूमिका में तत्तद रचना में प्रतिपादित सिद्धान्तो का सु दर चित्राकन किया है परन्तु उन्होंने भी सामूहिक रूप में कही भी हिन्दी में सफी-साहित्य के आधार पर निश्चित एव सारभूत सिद्धान्तो की खोज नही की है । मैने इस दुष्कर कार्य को अपने हाथ में लिया और यत्न-पूर्वक खोज की है ।

मैने इस विषय को सफीमत के निकास से विकास तक की पृष्ठभूमि के साथ भारत में प्रवेश से लेकर मध्यकाल से अब तक का पर्यालोचन करते हुए तथा सिद्धान्तों की खोज के साथ-साथ इसके व्यापक प्रभाव को भी दर्शाते हुए, प्रतिपादित किया है । मुझे सूफीमत के प्रभाव की व्यापकता में कबीर, मीरा आदि कवि आश्रय सा लेते दीख पडे तथा आधुनिक काल में छायावाद, रहस्यवाद एव हालावाद आदि वाद भी कुछ सीमा तक उसी के प्रतिरूप जान पडे अत मैने एक पृथक् ही पर्व लिखकर इस प्रभाव की महत्ता को प्रदर्शित किया ह । उर्दू का मूल हिन्दी ही है अत उर्दू साहित्य पर भी इस प्रभाव को बतलाते हुए सिद्ध किया है कि वहाँ शरीअत का नही हकीकत का राज्य है । वास्तव में यह तो वह सचाई है जो सदैव और सर्वत्र किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है ।

कही कही पर मैने विद्वानो से मतभेद होने पर अपने विचार प्रकट किये हैं तथा अपनी शैली से उन्ह व्याख्यात किया है । श्री रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानो ने सगुण का प्रयोग साकार एव निगुण का निराकार के लिए किया है । परन्तु मेरी दृष्टि में यह एक भूल हुई है, जिसका अनुकरण अन्य सभी लेखको द्वारा अन्धाधुध किया गया है। निराकार भी सगुण हो सकता है । यदि निराकार को निर्गुण ही माना जाय तो उसमें किसी गुण का आरोप नही हो सकता अत वह प्रम और सौन्दर्यरूप न होकर प्रीति का विषय भी नही हो सकता । निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्ति का विषय नही हो सकता और सगुण (साकार) ईश्वर राम-कृष्ण आदि भिन्न भिन्न रूपो में अवतरित होने के कारण व्यक्तिगत हो जाता है अत साम्प्रदायिकता का केन्द्र बनकर अशाति, कलह और वैमनस्य का कारण होता है । सूफियों न प्रेम मार्ग के अनुगामी होने के कारण गुणो का आरोप कर निराकार ब्रह्म को अपनाया । इस मान्यता में प्रेम-लक्षण भक्ति भी सम्भव है और साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध भी नही आने पाती । इस तथ्य पर मेरी

दृष्टि पथ में रख मैंने इस भूल को सुधारने का प्रयत्न किया है । अन्यथा सूफीम की प्रेम-साधना का आधार ही नहीं रहता । यही क्यों, कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्त तथा मीरा आदि कृष्ण-भक्तों के रहस्यात्मक पदों में प्रेमोपासना असंगत हो जाय तथा इस्लाम के अल्लाह का स्वरूप भी यथार्थतः विवेचित न हो सकेगा क्योंकि व भी निराकार होता हुआ सगुण भी है । यहाँ इतना मैं अवश्य कहूँगा कि श्री रामच शुक्ल की उपर्युक्त भूल का कारण मध्यकालीन व्यक्तियों का उन्हीं अर्थों में उन शब्द का प्रयोग है ।

इसके अतिरिक्त मैंने इस मान्यता को भी मूल्य नहीं दिया है कि सूफी लो ईश्वर को पत्नी समझकर प्रेम-साधना करते हैं । विद्वानों में यह भी एक भ्रमात्म धारणा बनी हुई है कि वे ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी सन्तों की प्रेम-साधना में परस्पर भे दिखाते हुए पति-पत्नी-भाव के विपर्यय पर बल देते हैं अर्थात् कहते हैं कि कबीर आदि ईश्वर को पति और स्वयं को पत्नी मानकर तथा सूफी ईश्वर को पत्नी एवं अप को पति मानकर साधना के पक्षपाती हैं । इनके अनुसार कबीर आदि की मान्यता भारतीय पद्धति के अनुकूल है तथा सूफियों की प्रतिकूल । ऐसा कहना भ्रममूलक ही है । प्रेम-साधना में "कृष्ण की प्रसन्नता के लिए राधा का रूप धारण करना अथवा निरंजन की प्राप्ति के लिए अपने को 'बहुरिया' समझकर प्रिय के लिए तड़पना या ईश्वर को प्रियतमा का रूप देकर और स्वयं उसके प्रेमी बनकर विरह-विकल रहना" कोई अर्थ नहीं रखता । ये तो प्रतीकमात्र हैं । प्रेम करना है, किसी भी रूप में करो, कोई अन्तर नहीं । यदि एकान्ततः उपर्युक्त कथन मान लिया जाय तो सूफियों में राबिया आदि स्त्रियाँ तथा भारतीय भक्त कवियों की प्रेम-पद्धति का स्वरूप क्या होगा ? क्या राबिया ने पति बनकर प्रेम-साधना की थी तथा भक्तों की साधना में प्रकृति-विपर्यय से अस्वाभाविकता न आ जायगी ? इससे यह मानना पड़ेगा कि प्रेमोपासना में किसी भी रूप में पति-पत्नी-भाव वस्तुतः कोई महत्त्व नहीं रखता । यह तो साधना की एक सरणी है, किन्तु ध्येय एक ही है और वह है प्रेम द्वारा ईश्वर से एकाकारता ।

इस विषय के जिस रहस्यमय सौन्दर्य का चित्राङ्कन नूतन ढंग से मैंने किया है, मुझे आशा है कि विद्वानों को मनोग्राह्य होगा । अन्त में मैं यह कहकर समाप्त करता हूँ कि यह विषय जितना सुन्दर है उतना ही उपादेय है क्योंकि विश्व-शान्ति का उपाय विश्व-प्रेम में ही है और वह विश्व-प्रेम दिव्य प्रेम का ही प्रतिरूप है, जिसकी छटा हमें प्रेममार्गी हिन्दी-साहित्य में विपुल रूप से दृष्टिगोचर होती है ।

परिशिष्ट १

प्रमुख अभारतीय सूफी सन्त

राबिया (आठवीं शताब्दी का मध्य)
अबू हाशिम (७७८ ई०)
अबू याजीद (बायजीद)—८१५-६१२ ई०
अबू सुलेमान (८३० ई०)
अबू-सईद-अल् खर्राज (६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)
धुलनून (६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)
अबुल हसन-अल्-नूरी (६०७ ई०)
जुनैद (६१० ई०)
मसूर-अल् हल्लाज (१०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध)
अबू बक्र शिब्ली (६४६ ई०)
अबू अब्द-अल्-चिश्ती (निधन-काल ६६६ ई०)
अबू तालिब (६६६ ई०)
अबू सईद बिन अबुल खेर (६६७-१०४६ ई०)
अल् गजाली (१०५६-११११ ई०)
हुजवीरी (११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)
कुशैरी (१०७४ ई०)
अब्दुल कादिर जिलानी (१०७८-११६६ ई०)
उमर खय्याम (११२३ ई०)
सनाई (निधन-काल ११३१ ई०)
फरीदुद्दीन अत्तार (११५७ १२३० ई०)
मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी (११६५-१२४० ई०)
सादी (११८४-१२६१ ई०)
इब्नुल फारिद (१२३५ ई०)
शख शुयूख शिहाब अल दीन सुहरावर्दी (१३ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध)
जलालुद्दीन रूमी (१२०७ १२७३ ई०)

शबिस्तरी (१२५०-१३२० ई०)
बहाउद्दीन नक्शबन्द (निधन-काल १३८८ ई०)
हाफ़िज़ (निधन-काल १३९० ई०)
हिलाली (१४७० ई०)
जामी (१४१४-१४९२ ई०)

परिशिष्ट २

प्रमुख भारतीय सूफी सन्त

(चिश्ती सम्प्रदाय)

मुहीउद्दीन चिश्ती (सन् ११९२ ई०)
कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी
शेख फरीदुद्दीन शकरगज
निजामुद्दीन औलिया (१३वी शताब्दी का पूर्वार्ध)
अलाउद्दीन अली अहमद साबिर
शेख सलीम (सन् १५७२ ई०)

(सुहरावर्दी)

बहा-अल्-हक बहाउद्दीन जकरिया (११७०-१२६७ ई०)
जलाल अल्दीन तबरीजी (१२४४ ई०)
सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश (१२९१ ई०)
सईद जलाल (मखदूम जहानियान)
बरहान ए-अल्दीन कुतुबे आलम (१४५३ ई०)
जादू जलालुद्दीन
बाबा फक अल्दीन

(कादरी)

सैयद बन्दागी मुहम्मद गौथ (१५वी शताब्दी का अन्त)
शेख मीर मुहम्मद–मियाँ मीर–(निधन-काल १६३५ ई०)
ताज अल्दीन (१६९८ ई०)

(नक्शबन्दी)

शेख अहमद फारुकी (निधन-काल १६२५ ई०)
ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह बैरग (निधन-काल १६०३ ई

(शत्तारी)

मुहम्मद गौथ (१५६२ ई०)
वजीह अल्दीन गुजराती (१५९९ ई०)
शाहे पीर (१६३२ ई०)

परिशिष्ट ३

अ—हिन्दी के प्रमुख सूफी कवि एवं उनके काव्य

कवि	काव्य	रचना-काल
कुतुबन	मृगावती	हिजरी सन् ९०९ (सन् १५०१ ई०)
मंझन	मधुमालती	जायसी से पूर्व
जायसी	पदमावती (पदमावत)	हिजरी सन् ९२७ ई० (सन् १५२० ई० प्रारम्भ काल) (सन् १५४० ई० समाप्ति काल)
,,	आखिरी कलाम	हिजरी सन् ९३६ (सन् १५२८ ई०)
,,	अखरावट	
उसमान	चित्रावली	हिजरी सन् १०२२ (सन् १६१३ ई०)
शेख नबी	ज्ञान दीप	सन् १६१९ ई०
शाह बरकतुल्ला	प्रेमप्रकाश	सन् १६९८ ई०
कासिम शाह	हंस जवाहिर	सन् १७३१ ई०
नूर मुहम्मद	इन्द्रावती	हिजरी सन् ११५७ (सन् १७४४ ई०)
	अनुराग बाँसुरी	हिजरी सन् ११७८ (सन् १७६४ ई०)
फाजिल शाह	प्रेम रतन	सन १८४८ ई०

आ—सूफीमत से प्रभावित सन्त एवं कवि

ज्ञानमार्गी	कृष्णोपासक	आधुनिक काल
कबीर		क्रमशः
दादू	मीरा आदि	छायावादी,
सारी		रहस्यवादी
दरिया		तथा
बुल्ला साहिब		हालावादी कवि
बल्लेशाह आदि		(प्रतिनिधि महादेवी वर्मा)

परिशिष्ट ४

कतिपय अरवी, फारसी एवं सूफी पारिभापिक शब्द

अक्ल (वुद्धि)
अल्लाह (ईश्वर)
आबिद (उपासक)
आरिफ (ज्ञानी)
इलहाम (देववाणी)
इल्म (बौद्धिक ज्ञान)
इश्क (प्रेम)
इश्के मजाजी (सांसारिक प्रेम)
इश्के हकीकी (ईश्वरीय प्रेम)
उर्स (पीरों की समाधि पर लगने वाला मेला)
औलिया (पहुँचे हुए मुस्लिम सन्त)
कमाल (पूर्णता गुण)
कयामत (निर्णय का दिन)
कल्ब ((हृदय)
कव्वाल (गायक)
कुन (होजा)
खफी (जिक्र का एक भेद, मनन एव चिन्तन,
खानकाह (आश्रम)
गजल (एक छन्द)
जकात (दान)
जवरूत (विकास की तृतीय स्थिति)
जमाल (सौन्दर्य गुण)
जलाल (गौरव गुण)
जली (जिक्र का एक भेद, उच्च स्वर से नामोच्चारण)
जहाद (नफ्स के विरुद्ध युद्ध)
जात (मूल सत्ता)
जाहिद (एकान्तप्रिय प्रेमी)
जिक्र (जाप)
तरीकत (अनुभव)
तवक्कुल (ईश्वरीय विश्वास)
तसव्वुफ (सूफीमत)
तौवा (पश्चाताप)
तौहीद (एक ईश्वर पर विश्वास)
दरगाह (मकवरा)
दरवेश (फकीर)
धिक्र (स्मृति, जाप)
नफ्स (वासनापूर्ण आत्मपक्ष)
नमाज (प्रार्थना, भजन)
नासूत (विकास की प्रथम स्थिति)
पीर (गुरु)
फक्द (आत्मभाव के पूर्ण विनाश की अवस्था)
फना (आत्मलय की अवस्था)
फना अल् फना (फना की उच्चतर अवस्था)
फरिश्ता (देवता)
बका (परमात्मरूपता)
मकामात (स्थितियाँ)
मजार (समाधि, कब्र)
मलकूत (विकास की द्वितीय स्थिति)

मसनवी (एक छन्द, कथा काव्य)
मारिफ़त (रहस्यज्ञान)
माशूक (प्रियतम)
मुर्शिद (गुरु)
मुरीद (शिष्य)
मोमिन (सालिक से पूर्व की स्थिति)
रमज़ान (वह मास जिसमें मुहम्मद साहब को ईश्वरीय प्रेरणा मिली थी)
रसूल (पैग़म्बर)
रुबाई (एक छन्द)
रूह (आत्मा)
रोज़ा (उपवास)
लाइलाह इल्लल्लाह (ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं)
लाहूत (विकास की चतुर्थ स्थिति)
वज्द (महानन्द)
वली (औलिया का एक वचन)
वस्ल (ईश्वर से अभेदावस्था)
वहदतुल वजूद (ईश्वर से भिन्न कुछ नहीं)
शरीअत (विधि-विधान)
शह (सहजानन्द की पराकाष्ठा)
शेख़ (धर्म गुरु)
सफ़ (पंक्ति)
सफ़ा (पवित्र)
सफ़्फ़ (अरब की एक जाति)
सर्र (हृदय का अंतस्थल)
सलावत (पंचकालिक नमाज़)
साक़ी (मधुपाययिता)
सालिक (नवशिक्षित साधक)
सिद्दीक़ (आध्यात्मिक गुरु के लिए प्रयुक्त शब्द)
सिफ़ात (गुण)
सुक्र (तल्लीनता में उन्मादावस्था)
सुफ़्फ़ा (चबूतरा)
सूफ़ (ऊन)
हक़ (वास्तविकता से परिचित)
हक़ीक़त (वास्तविक ज्ञान)
हज (मक्का की यात्रा)
हबीबुल्ला (ईश्वर का प्यारा)
हाल (ईश्वर में तन्मयता)
हाहूत (विकास की अन्तिम स्थिति)
हुस्न (सौन्दर्य)

परिशीलित ग्रंथावली
(BIBLIOGRAPHY)
आंगल ग्रंथ

A History of Persian Literature, Vol. 1 & 2 : Edward G. Browne

Al-Ghazzali, the Mystic : Margaret Smith, M.A.D. Lit.

A Literary History of the Arabs : Reynold A. Nicholson, M.A.

An Introduction to the History of the Sufism : Arthur J. Arberry Lit. D.

An Introductory History of Persian Literature : Rev. Joel Waiz Lall, M.A.M.O.L

Arabic Thought and its Place in History : De Lacy O' Leary, D.D.

Buddhism Dr. Paul Dahlke.

Buddhism in Christendom Arthur Lillie.

Buddhist Meditation G. Constant Lounsbuy.

Celtic Religion Edward Anwyl, M.A.

Christian Mysticism William Ralph Inge K.C.V.O, D.D.

Development of Muslim Theology, Jurisprudence and Constitutional Theory Duncan B Macdonald, M.A. D.D.

Encyclopædia Britainnica, Vol. 21.

Encyclopædia of Islam, Vol 4 Edited by M. Th Houstema, A. J. Wensinch, H A R Gibb, W. Heffening and E. Levi Provencel

Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. 11 & 12. Edited by James Hastings

Hindu Mysticism Mahendra Nath Sircar.

History of Mediaeval India Dr. Ishwari Prasad, M A. D. Lit

History of Urdu Literature Rambabu Saxena.

In an Eastern Rose Garden, Published by the Sufi Moveme

Islam and Zoroastrianism . Khwaja Kamaluddin.
Islamic Sufism . Sirdar Iqbal Ali Shah.
Kundalini (An Occult Experience) : G.S. Arundale
Lectures on the Origin and Growth of Religion Mex Muller, K. M.
Mohammad, Buddha and Christ . Marcus Dods, D.D.
Mohammad the Prophet Maulana Muhammad Ali, M.A LL B.
Mysticism East & West Rudolh Otto.
Mysticism . Evelyn Underhill
Mysticism, Old and New ; Arthur W. Hopkinson.
Oriental Mysticism . E H. Palmer
Outlines of Islamic Culture, Vol. I. . A.M.A Shustery.
Outlines of Islamic Culture, Vol. II. A.M A. Shustery.
Persian Literature · Reuben Levy, M A.
Rabia the Mystic Margaret Smith, M A. Ph. D.
Shah Barakat-Ullah's Contribution to Hindi Literature · Dr. Laxmidhar Shastri, M.A. Ph D.
Shinto (The Ancient Religion of Japan) W. G. Aston, C.M G , D. Lit.
Studies in Early Mysticism (In the near and Middle East) : Margaret Smith, M.A Ph D.
Studies in Islamic Mysticism Reynold Alleyne Nicholson, Lit. D L.L.D.
Studies in Islamic Poetry R A. Nicholson
Studies in Mysticism Arthur Edward Waite.
Studies in Persian Literature Hadi Hasan
Studies in the Quran Ishtihaq Hussain Qureshi, M A.
Studies in the Relationship between Islam and Christianity, : Lootfuj Levonian.
Sufi Quarterly. Vol. I. . Ronald A L Mumtaz Armstrong.
The Glorious Quran Translated Marmaduke Pickthall.
The History of Buddhist Thought Edward T. Thomas, M. A. D. Lit.
The Holy Bible.
The Idea of Personality in Sufism . R. A Nicholson Lit. D. L.L D.

The Influence of Islam . E. J. Bolus, M.A B.D.

The Legacy of Islam : Sir Thomas Arnold and Alfred . Guillaume.

The Life of Mahomet . Emile Dermenghem.

The Message (A Verbation Report of a Lecture) given by Inayat Khan.

The Metaphysics of Rumi : Dr. Khalifa Abdul Hakim, M. A. Ph. D.

The Mystics, Ascetics, and Saints of India : John Campbell Oman.

The Mystics of Islam Reynold A. Nicholson, M.A. Lit. D.

The Mystical Philosophy of Muhyid-ud din Ibnul 'Arabi' : A. E. Affifi, B.A. Ph. D.

The Nirgun School of Hindu Poetry P. D Barthwal.

The Persian Mystics 'Attar Margaret Smith, M.A. Ph.D.

The Persian Mystics 'Jalaluddin Rumi · F. Hadland Davis.

The Religious Attitude and Life in Islam Duncan Black Macdonald, M.A. D.D.

The Religion of Ancient China Herbert A Giles, M A. LL.D.

The Religion of Ancient Egypt W. M. Flinders Petric.

The Religion of Ancient Greece Tane Ellem Harrison.

The Religion of Ancient Palestine Stanley A Cook, M.A.

The Religion of Ancient Rome Cyril Bailey, M. A.

The Religion of Ancient Scandinavia W. A. Craigie, M.A.

The Religion of Babylonia and Assyria Theophilus G. Pinches, LL D.

The Spirit of Islam Amar Ali, Syed P C U.D. D.L. C.I.E.

The Sufi Movement Inayat Khan

The Theory of Mind as Pure Act Giovanni Gentile, Translated *by* H. Wildon Carr, D Lit.

हिन्दी-ग्रन्थ

ग्रन्थ	सम्पादक / लेखक
अनुराग बाँसुरी (नूरमुहम्मदकृत)	सम्पादक—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री चन्द्रबली पाण्डे
इन्द्रावती (नूरमुहम्मदकृत)	सम्पादक—डॉ० श्यामसुन्दरदास बी०ए०
ईरान के सूफी कवि	श्री बाँकेबिहारी तथा श्री कन्हैयालाल
कबीर का रहस्यवाद	डॉ० रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी एच० डी०
कबीर ग्रन्थावली	सम्पादक—डा० श्यामसुन्दरदास, बी० ए०
कबीर वचनावली	सम्पादक—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
गोरखबानी	संपादक और टीकाकार—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्०
चित्रावली (उसमानकृत)	सम्पादक—श्री जगमोहन वर्मा
जायसी ग्रंथावली (पदमावत, अखरावट, आखिरी कलाम)	सम्पादक—पं० रामचन्द्र शुक्ल
तसव्वुफ अथवा सूफीमत	श्री चन्द्रबली पाण्डे
भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ	
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा
मीरा-पदावली	सम्पादक—शुभश्री विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'
यामा	शुभश्री महादेवी वर्मा
श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
संक्षिप्त सूरसागर	सम्पादक—डा० बेनीप्रसाद एम० ए० पी-एच० डी०, डी० एस-सी०,
संतबानी संग्रह (भाग पहला)	
सन्तबानी संग्रह (भाग दूसरा)	
हिन्दी काव्यधारा	श्री राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी साहित्य — डा० रामरतन भटनागर एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०
हिन्दी-साहित्य का इतिहास — पं० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य की भूमिका — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्कृत-ग्रन्थ

ऋग्वेद — महाभारत
कठोपनिषद् — मुण्डकोपनिषद्
गीता — योगउपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद् — बृहदारण्यकोपनिषद्
पातंजलयोग-सूत्राणि — शिव-संहिता
भागवत — श्वेताश्वतरोपनिषद्